भक्ति-विज्ञान

अवधबिहारी लाल कपूर
एम. ए., डी. फिल., यू. पी. ई. एस. (रि.)
भूतपूर्व रिसर्चफेलो, इण्डियन इन्सटिच्यूट आफ़ फिलासफी
डी. लिट. स्कालर, यूनिवर्सिटी आफ़ एलाहाबाद;
प्रधानाचार्य, राजकीय महाविद्यालय, रामपुर;
प्रधानाचार्य एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर
दर्शन-विभाग, राजकीय महाविद्यालय,
ज्ञानपुर, वाराणसी

Sri KESHABJI GOUDIYA
Mathura (U.P.)

परमार्थ प्रकाशन
५/१६१ राधारमण मार्ग, वृन्दावन

● **प्रकाशक :**

परमार्थ प्रकाशन

५/१६१ राधारमण मार्ग

वृन्दावन

● **प्रकाशन तिथि :**

गुरुपूर्णिमा

सम्वत् २०३८

१७ जुलाई, १९८१

● **मूल्य :**

पचास रुपये

● **सर्वाधिकार :**

ग्रन्थकार द्वारा सुरक्षित

● **मुद्रक :**

ब्रज बिहारीलाल शर्मा

बी.एस-सी., एल-एल.बी.

विद्यालय प्रेस,

वृन्दावन

BHAKTI-VIGYANA

Dr. O. B. L. Kapoor

Shri KESHABJI GOUDIYA MATH
Mathura (U.P.)

श्रीचैतन्यमहाप्रभु-आविर्भाव-पंचशती-प्रकाशन

●

परमाराध्य श्रीगुरुदेवके
करकमलोंमें

"सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।

× × × × ×

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।

(नारद-भक्ति-सूत्र २, ४)

—वह (भक्ति) परम प्रेमरूपा है । उसे प्राप्तकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है ।"

प्राक्कथन

भक्ति अन्धविश्वास नहीं है; कोरी भावुकता भी नहीं है। वेद-पुराणादि तो इसका आधार हैं ही, अनादिकालसे अगणित भक्तों द्वारा किये गये प्रयोगोंसे भी यह भलीभाँति परिपुष्ट है। यह एक विज्ञान है, उसी प्रकार जिस प्रकार जीव-विज्ञान और भौतिक-विज्ञानादि विज्ञान हैं। इसमें भी उसी प्रकार निरीक्षण और परीक्षण किये गये हैं, जिस प्रकार अन्य विज्ञानों में। भेद केवल इतना है कि दूसरे विज्ञानोंमें प्रयोग बाहरकी प्रयोगशालाओंमें, बाहरकी वस्तुओंपर किये जाते हैं, भक्ति-विज्ञानमें प्रयोग अपने ही ऊपर अपने अन्तरकी प्रयोगशालामें किये जाते हैं। दूसरे विज्ञानोंके प्रयोगोंमें परिवर्तन बाहरकी वस्तुओंमें किये जाते हैं, भक्ति-विज्ञानके प्रयोगोंमें परिवर्तन अपने ही मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें किये जाते हैं। दूसरी वस्तुओंमें परिवर्तन करना आसान है, अपनेमें कठिन। इसलिये दुर्बल और स्वाभिमानी मनुष्योंका भक्तिको भावुकता या अन्धविश्वास कहकर उसकी उपेक्षा करना स्वाभाविक है।

सच तो यह है कि जितने भी दूसरे विज्ञान हैं सब अपूर्ण और अनिश्चित हैं। केवल भक्ति ही पूर्ण विज्ञान है। दूसरे सभी विज्ञान अपने-अपने क्षेत्रमें जिस सत्यकी उपलब्धि कराते हैं वह पूर्ण, शाश्वत और निरपेक्ष नहीं होता। उनके नियम भी शाश्वत और सुनिश्चित नहीं होते। वैज्ञानिक स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि प्रकृतिके नियम, जो आज सुनिश्चित और शाश्वत दीख पड़ते हैं, कल बदल नहीं जायेंगे—यह माननेका हमारे पास कोई ठोस आधार नहीं है। पर भक्तिका ज्ञान सत्य है। उसके नियम भी शाश्वत और सुनिश्चित हैं। प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघन सम्भव हैं, पर भक्तिके नियमोंका उल्लंघन सम्भव नहीं है। यह सम्भव है कि कभी पेड़से टूटा फल पृथ्वीसे आकर्षित हो उसपर आकर न गिरे। पर यह सम्भव नहीं कि भगवान्‌रूपी भ्रमर किसी भक्तके हृदयमें खिले भक्ति-कमलके सौरभसे आकृष्ट हो उस तक खिंचा न चला आये। यह

सम्भव है कि फल-फूल और औषधियाँ अपना स्वभाव बदलकर हमारे जीवनकी रक्षा करना छोड़ दें। पर यह सम्भव नहीं कि प्रभु अपना स्वभाव बदलकर अपने भक्तोंका योग-क्षेम वहन करना छोड़ दें।

भक्तिका वर्णन यत्र-तत्र सभी शास्त्रोंमें किया गया है। नारद और शाण्डिल्यने अपने सूत्रोंमें उसके स्वरूप और लक्षणोंका कुछ विस्तारसे वर्णन किया है। पर उसका सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक निरूपण प्रथम बार किया है श्रीरूप, श्रीसनातन और श्रीजीव आदि ने। उन्होंने प्रथम बार भक्तिकी वैज्ञानिक परिभाषा की है, भक्तिके स्वरूप और गुण, भक्तिके अंग-प्रत्यंग, भक्तिके विभिन्न प्रकार और उनके अनुरूप भगवत्-प्राप्तिके विभिन्न रूप, भक्तिके विभिन्न स्तर और उनके लक्षण, भक्तिके अन्तराय और उन्हें दूर करनेके उपाय, शान्त, दास्य, सख्यादि विभिन्न प्रकारके भक्ति-रस और प्रत्येक रसके आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, सात्विकभाव, व्यभिचारो-भाव और स्थायिभाव आदि भक्ति-सम्बन्धो अनेकों विषयोंका वैज्ञानिक रीतिसे पृथक-पृथक और विस्तारसे वर्णन किया है।

उनके ग्रन्थ दुष्प्राप्य हैं और संस्कृतमें लिखे होनेके कारण साधारण लोगोंके लिये दुर्बोध भी। इसलिए इस ग्रन्थमें उन सभी का सार हिन्दी भाषामें प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की गयी है।

यह ग्रन्थ मेरो दूसरी पुस्तक "श्रीचैतन्य-मत" का ही एक अंश है, जिसमें मैंने श्रीचैतन्य महाप्रभुके दर्शन और भक्ति-सिद्धान्तका विषद वर्णन किया है। इस अंश को सर्वसाधारणके लिये अधिक उपयोगी जान इस रूपमें अलगसे प्रकाशित किया जा रहा है।

गुरुपूर्णिमा
सम्वत् २०३८
राधारमण मार्ग, वृन्दावन

विनीत :
अवधबिहारी लाल कपूर

विषय-सूची

१. भक्ति १

भक्ति भगवान्‌की स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति है १

भक्ति निर्गुण है २

भक्ति आनन्दरूपा है ३

भक्त्यानन्द भगवान्‌के स्वरूपानन्दसे श्रेष्ठ है ४

भक्ति शुद्धसत्व-स्वरूपा है ५

भक्ति, ज्ञान, कर्म और योग ५

साधन-पथके अनुसार सिद्धि ५

भक्तिका व्यापकत्व और नित्यत्व ७

कर्म, ज्ञान और योगकी भक्तिपर निर्भरता ७

भक्तिकी परम स्वतन्त्रता और आनुषंगिक रूपसे कर्म ज्ञान और योगका फल देनेकी शक्ति ९

कर्म, योग और ज्ञान भक्तिके आवश्यक अंग नहीं १०

भक्ति और निष्काम-कर्म ११

वर्णाश्रम-धर्म भक्तिका अंग नहीं ११

वर्णाश्रम-धर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, मुक्तिकी नहीं १२

निष्काम कर्मसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है, श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवाकी नहीं १३

कर्मके सम्यक् त्यागमें भी भक्तिका आकार ही है, प्राण नहीं १५

भक्तिका प्राण है आत्यन्तिकी श्रद्धा और श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवाकी बलवती लालसा १६

२. साधन-भक्ति १९

साधन-भक्ति साध्य-भक्तिकी अपरिपक्वावस्था है १९

साधन-भक्तिके फलस्वरूप प्रेमा-भक्तिका आविर्भाव होता है, उत्पत्ति नहीं २३

मिश्रा भक्ति २३
वैधी-भक्ति २४
साधन-भक्तिके चौंसठ अंग २५
सासंग और अनासंग भजन ३२

३. रागानुगा-भक्ति ३३
रागत्मिका-भक्ति ३३
रागानुगा-भक्ति ३६
कामानुगा और सम्बन्धानुगा रागानुगा-भक्ति ३८
बाह्य और अन्तर साधन ३९
साधकका अन्तश्चिन्तित सिद्ध-देह ४३
व्रज-लीला और नवद्वीप-लीला ४४

४. भक्तिके सोपान ४७
भक्तिका कारण : 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या' ४७
श्रद्धा ५०
साधुसंग ५२
भजन-क्रिया ५३
अनर्थ-निवृत्ति ५४
निष्ठा ५५
रुचि ५६
आसक्ति ५६
भाव ५७
प्रेम ५८
प्रेमके ऊपरके स्तर ६१
निरपराध व्यक्तिमें भक्तिका विकास ६१

५. भक्ति और विज्ञान ६४
भक्ति एक विज्ञान है, मनुष्य उसकी प्रयोगशाला है ६४
भक्तिके प्रयोगोंमें विषयोंसे आत्माका सम्बन्ध तोड़कर भगवान्‌से जोड़ना पड़ता है ६५
भक्तिके प्रयोग कठिन होनेके कारण वैज्ञानिकों द्वारा उपेक्षित हैं ६६
विज्ञानकी कसौटी पर भक्ति-विज्ञान ही खरा उतरता है ६६

साधारण विज्ञान यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है ६७
भक्ति-विज्ञान यथार्थ वस्तुका साक्षात्कार कराता है ६८
भौतिक विज्ञानके नियम निश्चयात्मक नहीं हैं ६९
भक्ति-विज्ञानके नियम निश्चयात्मक हैं ७१
भक्तिके निश्चयात्मक नियमोंके कुछ उदाहरण ७३
भक्ति ही पूर्ण विज्ञान है ७५

६. भक्ति और सदाचार ७६

सदाचारका मूल्य भक्तिके साधन रूपमें है, स्वतन्त्र रूपमें नहीं ७६
सदाचार और शास्त्र ७९
सामान्य सदाचार ८१

वैष्णव-सदाचार ८१

असत्संग-त्याग ८२
वर्णाश्रमधर्म-त्याग ८५
अकिंचन होना ८६
अभिमान-त्याग ८६
सहिष्णु होना ८७
ज्ञान और वैराग्यके लिए स्वतन्त्र रूपसे प्रयास न करना ८८
अपराधोंसे दूर रहना ९०
व्रतपालन एवं चिन्ह-धारण ९१

७. श्रीगुरु और दीक्षा ९३

गुरु-तत्व ९३

समष्टि-गुरु और व्यष्टि-गुरु ९४
श्रवण-गुरु ९६
शिक्षा-गुरु ९७
दीक्षा-गुरु ९८

दीक्षा-गुरुके लक्षण ९९

जाति और कुल १००
परम्परा १०३
गुरु-शिष्य-परीक्षा १०५
योग्य गुरुकी समस्या १०६

गुरु-दीक्षाकी अनिवार्यता १०७

गुरु-त्याग ११६

८. श्रीमूर्ति-सेवा ११६

श्रीमूर्ति और श्रीभगवान्‌का अभिन्नत्व ११६

भगवान् मूर्तिरूपमें अवतीर्ण क्यों होते हैं ? १२३

श्रीमूर्तिकी सेवा-विधि १२६

९. श्रीनाम-कीर्तन १३०

नाम और नामीका अभिन्नत्व १३०

नाम-कीर्तनकी श्रेष्ठता और अन्य-निरपेक्षता १३६

नाम-कीर्तन और ध्यान १४२

नाम-कीर्तन और कर्मफल १४४

नाम-जप और उसके प्रकार १४६

बत्तीसाक्षरात्मक-तारकब्रह्म-नाम १४८

१०. श्रीहरिकथा १५२

हरिकथा क्यों सुननी चाहिये ४७६

हरिकथा भवबन्धनसे मुक्त करती है १५२

हरिकथा भगवत्-प्राप्तिका सबसे सहज उपाय है १५४

हरिकथा स्वयं ही परम-पुरुषार्थ है १५८

हरिकथा कौन-सी, किससे और कैसे सुननी चाहिये १६३

कौन-सी हरिकथा सर्वाधिक मंगलकारी है १६३

भागवत किससे सुननी चाहिये १६५

हरिकथा श्रवणकी विधि क्या है ? १६८

११. प्रीति १७३

भगवत्-प्रीतिके लक्षण १७३

स्वरूप-लक्षण १७३

तटस्थ-लक्षण १७६

भगवत्-प्रीतिका आविर्भाव १७८

असम्यक् आविर्भाव १७८

सम्यक् आविर्भाव १८०

प्रीतिके आविर्भावके साथ भगवान् और भक्तमें तदनुरूप स्वभाव और अभिमानका जागरण १८१

भगवत्-प्रीतिके विभिन्न स्तर १८१
रति १८२
प्रेम १३५
स्नेह १८६
मान १८८
प्रणय १८९
राग १९०
अनुराग १९०
भाव या महाभाव १९२
रूढ़ और अधिरूढ़ महाभाव १९४
मोदन १९५
मोहन १९६
मादन २००
श्रीकृष्ण-परिकरोंकी विभिन्न प्रकारकी प्रीतिकी सीमा २०३
मधुरा रतिके प्रकार २०३
स्वरूप २०५

१२. रस-विचार २०७
पूर्णानन्द २०८
आनन्द-ब्रह्म और रस-ब्रह्म २०९
ह्लादिनीकी आनन्द-धारा २१०
रस और भाव २११
कृष्ण और राधा २१३
रसका स्वरूप और सामग्री २१४
विभाव २१५
अनुभाव २१७
सात्त्विकभाव २१७
व्यभिचारीभाव २१९
पञ्चभाव २१९
प्राकृत और अप्राकृत रस २२०
भक्तिरस २२१
मुख्य और गौण भक्तिरस २२२
शान्त-भक्तिरस २२४

दास्य-भक्तिरस २२५
सख्य-भक्तिरस २२७
वत्सल-भक्तिरस २२६
मधुर-भक्तिरस २२६

१३. मधुर-भक्तिरस २३१

प्रेम और काम २३१

मधुर-रसके आलम्बन २३६

नायक भेद २३६
नायिका भेद २३७

मधुर-रसके सहाय २४१

नायक-सहाय २४१
नायिका-सहाय २४२
ब्रज-सुन्दरियोंके चार पक्ष २४३
मंजरी २४४
मंजरी भावकी उपासना और श्रीमन्महाप्रभु २४५

मधुर-रसके भेद २४६

विप्रलम्भ २४६
सम्भोग २५१

१४. प्रेमविलास-विवर्त २५३

प्रेमविलास-विवर्तके मूर्त-विग्रह श्रीमन्महाप्रभु २५६

श्रीमन्महाप्रभुके आविर्भावका कारण २६०

(१) श्रीराधाके असाधारण प्रेमकी महिमा जाननेकी वांछा २६२
(२) श्रीराधाद्वारा आस्वाद्य श्रीकृष्णके असमोर्ध माधुर्यका आस्वादन करनेकी वांछा २६५
(३) श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादन-जनित राधाके असीम सुखका आस्वादन करनेकी वांछा २६७

१५. परकीया-रस २७०

श्रीचैतन्य महाप्रभु और परकीयावाद २७१
श्रीमद्भागवत और परकीयावाद २७१
गौड़ीय आचार्यों द्वारा वास्तविक परकीयावादका खण्डन २७३

गोपिकाओंका परमस्वीयात्व	२७५
गोपियोंके विवाहकी काल्पनिकता	२७६
काल्पनिक विवाहका उद्देश्य	२७९
गोपिकाओंके परकीयाभावकी वास्तविकता	२८१
परकीयाभावका नित्यत्व	२८५
श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती और परकीयावाद	२८८
परिशिष्ट	२९१

• • •

संकेत

अ.=अन्त्यखण्ड, अन्त्य लीला

आ.=आदिखण्ड, आदिलीला

उ. नी.=उज्ज्वलनीलमणि

कृ स.=श्रीकृष्ण-सन्दर्भ

गी.=गीता

गौ. वै. द.=गौड़ीय-वैष्णव-दर्शन

चै. च.=श्रीचैतन्यचरितामृत

चै. भा.=श्रीचैतन्य भागवत

त. स.=तत्व-सन्दर्भ

प. स.=परमात्म-सन्दर्भ

प्री. स.=प्रीति-सन्दर्भ

ब्र. सू.=ब्रह्म-सूत्र

भ. र. सि.=भक्तिरसामृतसिन्धु

भ. स.=भक्ति-सन्दर्भ

भा.=श्रीमद्भागवत

म.=मध्य खण्ड, मध्य लीला

ल. भा.=लघुभागवतामृत

बृ. भा.=बृहद्भागवतामृत

स. स.=सर्वसम्वादिनी

ह. भ. वि.=हरिभक्तिविलास

संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति		अशुद्ध	शुद्ध
२३	,,	७	अवश्यमभावी	अवश्यंभावी
५४	नीचेसे	२	नहीं रहती	रहती है
५६	,,	६, १६	सौकमार्य	सौकुमार्य
६४	ऊपरसे	६	लड़की	लकड़ी
१३६	,,	५	क्यों न लिया होता	क्यों लिया होता
२४६	,,	५	उत्तम	उदय
२५६	,,	१३	निविण	निबिड़
२५६	,,	७	,,	,,
२५६	नीचेसे	८, ९	पराकाष्टा	पराकाष्ठा
२६२	,,	४	आकांछा	आकांक्षा

"न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।

(भा. ११।१४।२०-२१)

—उद्धव ! ज्ञान-विज्ञान, योग, धर्मानुष्ठान, स्वाध्याय आदि मुझे प्राप्त करनेमें उतने समर्थ नहीं, जितनी दिनोंदिन बढ़ने वाली मेरी भक्ति।

मैं भक्तोंका प्रियतम आत्मा हूँ। भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ। मुझे प्राप्त करनेका बस यही एक उपाय है, दूसरा कोई नहीं।"

इतना ही नहीं,

"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजन प्रियः ॥

(भा. ९।४।६३)

—मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं। मेरे भक्त मेरे हृदयको अपने हाथ में रखते हैं। वे मेरे प्यारे हैं, मैं उनका प्यारा हूँ।"

और कहाँ तक कहूँ,

"साधवो हृदयं मह्यं साधूनाँ हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

(भा. ९।४।६८)

—मेरा हृदय वे हैं, उनका हृदय मैं। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते। मैं उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।"

भक्ति

'भज्'-धातुसे निष्पन्न होनेके कारण 'भक्ति' का मुख्य अर्थ है सेवा— ईश्वर-सेवा या ईश्वर-सेवाकी वासना। शांडिल्यके अनुसार भक्ति है ईश्वरमें परानुरक्ति—"परानुरक्तिरीश्वरे"।[1] अनुरक्तिका अर्थ है आसक्ति;परानुरक्ति का अर्थ है ईश्वरमें विशेष आसक्ति, ऐसी आसक्ति कि चित्तमें और किसी वस्तुकी आसक्ति या इच्छाके लिए स्थान ही न रहे, चित्तकी सारी वृत्तियाँ ईश्वरकी ओर उन्मुख हो उनके चरणारविन्द प्राप्त करनेको उस प्रकार धावित हो पड़ें, जिस प्रकार लोहेकी सुई धावित होती है चुम्बकको चूमनेके लिये, लता धावित होती है वृक्षसे जा लिपटनेके लिये, या नदी धावित होती है समुद्रसे जा मिलनेके लिये। नारदके अनुसार भक्ति अमृतरूपा और अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपा है—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्",[2]। वह गुणरहित, कामनारहित, अविच्छिन्नरूपसे प्रतिक्षण वर्धनशील और सूक्ष्मतर अनुभव-रूपा है—"गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं।"[3]

भक्ति भगवान्की स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति है

नारद और शांडिल्यादिके इस प्रकारके वर्णनसे भक्तिका केवल रूप ही जाना जाता है, उसका वास्तविक तत्व या उपादान नहीं। दूसरे शब्दोंमें, भक्ति है क्या, इस प्रश्नका उत्तर नहीं मिलता। श्रीजीवगोस्वामीके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्यने इस प्रश्नका उत्तर देनेकी चेष्टा नहीं की। उन्होंने यह बतलाकर कि भक्ति भगवान्की ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति है, भक्तिके यथार्थ स्वरूपका निर्णय किया है। उनके अनुसार भगवान् ही अपनी ह्लादिनी शक्तिकी वृत्तिको जीवके चित्तमें निक्षिप्तकर उसे आनन्दित करते हैं और स्वयं भी आनन्दित होते हैं।[4]

१. शांडिल्य भक्ति-सूत्र १।२

२. नारद भक्ति-सूत्र ५१

३. वही ५४

४. प्री. स. ६५

कैसे जाना जाय कि भक्ति जीवकी शक्ति नहीं, भगवान्‌की शक्ति है ? इसका उत्तर इस प्रकार है। श्रुति कहती है कि नित्य-अव्यक्त भगवान् अपनी शक्तिसे ही प्रकट होते हैं। उनकी अपनी शक्तिकी सहायताके बिना उन्हें कोई नहीं देख सकता—"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निज शक्तितः। तामृते परमात्मनं कः पश्येतोमितं प्रभुम"।[1] उन्हें वही देख सकता है, वही जान सकता है, जिसे वे स्वयं वरण करते हैं—"यमेवैष वृणुते तेन एष लभ्यः।"[2] श्रुति यह भी कहती है कि एकमात्र भक्ति ही जीवको भगवान्‌के निकट लेजाती है, भक्ति ही उनके दर्शन कराती है, भक्तिके ही वे अधीन हैं—"भक्तिरेव एनं नयति, भक्तिरेव एनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषः।"[3] इससे स्पष्ट है कि भक्ति भगवान्‌की ही शक्ति है।

भगवान्‌की अनन्त शक्तियां हैं, जिनमें तीन प्रधान हैं—स्वरूप शक्ति, जीव शक्ति और माया शक्ति। स्पष्ट है कि भक्ति जीव शक्तिकी वृत्ति नहीं है। यदि होती तो जीव अपने आपही भगवान्‌को प्राप्तकर लेता और उपरोक्त श्रुति वाक्य, जो उन्हें अपनी शक्तिसे ही जानने योग्य कहते हैं, मिथ्या सिद्ध होते। माया शक्तिकी वृत्ति भी भक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि माया भगवान्‌की बहिरंगा शक्ति है, जो उनके निकट जा ही नहीं सकती। इसलिये भक्ति भगवान्‌की स्वरूप-शक्तिकी ही वृत्ति हो सकती है। इसकी पुष्टि इस बातसे भी होतो है कि शास्त्रोंमें भक्ति द्वारा कामादि हृदरोगों और पापादिकोंके नष्ट होनेका स्पष्ट उल्लेख है।[4] कामादि हृदरोग और सभी प्रकारके पाप मायाके प्रभावसे होते हैं, और मायाको ध्वंस करनेकी शक्ति केवल स्वरूप-शक्तिमें है।

भक्ति निर्गुण है

विषय-प्रीति और भगवत्-भक्ति या भगवत्-प्रीतिमें बाह्यरूपसे साम्य होनेके कारण भ्रम हो सकता है कि भगवत्-प्रीति भी विषय-प्रीतिकी भाँति प्रापंचिक या मायिक है। परन्तु जीवगोस्वामीने बहुतसे शास्त्र-प्रमाणों द्वारा

१. नाराणायणाध्यातम-वचन

२. मुंडक श्रुति ३।२।३

३. माठर श्रुति

४. भा. १०।३३।३९; ६।१।१५

सिद्ध किया है कि विषय-प्रीति है गुणमयी मायाशक्तिकी वृत्ति और भगवत्-प्रीति है गुणातीत स्वरूप शक्तिकी वृत्ति। विषय-प्रीति जागतिक विषयोंके समान अस्थायी है, भगवत्-प्रीति भगवान्‌के समान अच्युत और अविच्छिन्ना है।[1] भगवान्‌ने प्रह्लादसे कहा है—

"मयि भक्तिस्तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति

—मेरे प्रति तुम्हारी भक्ति पुनः पुनः जन्म ग्रहण करनेपर भी ऐसी ही रहेगी।"[2]

भक्ति आनन्दरूपा है

निर्गुण और नित्य होनेके अतिरिक्त भक्तिकी एक बड़ी विशेषता यह है कि यह आनन्दरूपा है। भक्तिका आनन्द साधारण प्राकृत आनन्द नहीं है, अप्राकृत ब्रह्मानन्द भी नहीं है। ब्रह्मानन्द भगवान् अपने भक्तोंको देना भी चाहें तो वे स्वीकार नहीं करते। भगवत्-सेवाके बिना वे कुछ भी नही चाहते—

सालोक्य सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्यूत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत् सेवनं जनाः॥[3]

इससे स्पष्ट है कि भक्त्यानन्द स्वर्गादिके आनन्द और सालोक्यादि मुक्तियों के आनन्दसे भी कहीं श्रेष्ठ है। इतना ही नहीं, भक्त्यानन्द भगवान्‌के स्वरूपानन्दसे भी श्रेष्ठ है, अर्थात् उस अनिर्वचनीय आनन्दसे भी श्रेष्ठ है जो भगवान्‌को स्वयं अपने स्वरूपसे प्राप्त होता है। इसीलिये उन्होंने दुर्वासा से कहा है—

"नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियश्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥[4]

—हे ब्रह्मन्! मैं जिनकी परमागति हूँ, उन साधु भक्तगणोंको छोड़ मैं अपनी और अपनी आत्यन्तिकी श्रीकी भी अभिलाषा नहीं करता।"

उद्धवसे भी उन्होंने कहा है—

---

१. विष्णुपुराण १।२०।१६

२. वही १।२०।२०

३. भा. ३।२६-१३

४. भा. ११।४।६४

"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।
न च सङ्कर्षणो श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥[1]

—हे उद्धव ! तुम मुझे जैसे प्रिय हो वैसे मेरे पुत्र ब्रह्मा, मेरे गुणावतार शंकर, मेरे भ्राता संकर्षण (बलदेव), मेरी जाया लक्ष्मी भी मुझे प्रिय नहीं हैं। और कहाँ तक कहूँ मेरा परमानन्दघनस्वरूप भी मुझे उतना प्रिय नहीं है।"

भक्त्यानन्द भगवान्‌के स्वरूपानन्दसे भी श्रेष्ठ है

इससे स्पष्ट है कि भक्त्यानन्द न तो प्राकृत आनन्द है, न ब्रह्मानन्द, न भगवत्-स्वरूपानन्द। बचा भगवान्‌का शक्त्यानन्द। शक्तियोंमें मायाशक्तिसे भक्त्यानन्दका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि माया है त्रिगुणात्मिका और भक्ति है निर्गुण। जीव-शक्तिसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि जीवका स्वरूपानन्द अति क्षुद्र है और भक्त्यानन्द परमोत्कर्षमय है। इसलिये स्पष्ट है कि भक्त्यानन्द स्वरूपशक्तिसे उद्‌भूत है, स्वरूप-शक्तिकी तीन वृत्तियाँ हैं—ह्लादिनी (आनन्ददायिनी), सन्धिनी (सत्तादायिनी) और संवित् (ज्ञानदायिनी)। इनमें केवल ह्लादिनी ही है आनन्ददायिनी। इससे सिद्ध है कि भक्त्यानन्द ह्लादिनी शक्तिसे उद्‌भूत आनन्द है और यह भी सिद्ध है कि भक्ति ह्लादिनी-प्रधाना-स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति है, जिसे भगवान् भक्तके हृदयमें निक्षिप्त करते हैं। प्रश्न यह है कि भगवान् अपनी ह्लादिनी-शक्तिको भक्तके हृदयमें निक्षिप्त क्यों करते हैं? इसलिये कि भक्तके हृदयमें पड़कर उसकी मादकता और मधुरता कहीं अधिक बढ़ जाती है। वह एक परम विलक्षण वस्तु 'प्रेम' में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार जिस प्रकार स्वातिकी बूँद सीपमें पड़कर मोती हो जाती है, या जिस प्रकार बंसी बजानेवालेकी फूँक बांसुरीके छिद्रोंमें पड़कर सुरीले स्वरोंमें बदल जाती है—इतने सुरीलेकी बांसुरी बजानेवाला स्वयं उनसे मुग्ध होजाता है। गायके सर्वाङ्गमें दूध व्याप्त होता है, परन्तु उसकी तुष्टि-पुष्टि जभी होती है, जब ग्वाला उसका दोहनकर उसे पिलाता है। भक्त भगवान्‌रूपी गायको दुहकर जिस भक्तिरसका उन्हें पान कराता है, उससे उनकी जैसी तृप्ति होती है, वैसी अपने स्वरूपानन्द या शक्त्यानन्दसे नहीं होती। इस प्रकार

---

१. भा. ११।१४।१५

ह्लादिनो शक्तिको भक्त-हृदयमें निक्षिप्तकर भगवान् स्वयं भी आनन्दित होते हैं और भक्तको भी आनन्दित करते हैं। भगवान् भक्तके भक्ति-रस, या प्रेम-सेवा-रसके आस्वादक होनेके कारण आनन्दित होते हैं, भक्त उस रसका आधार होनेके कारण आनन्दित होता है। भक्ति भक्त और भगवान् दोनोंको उसी प्रकार आनन्दित करती है, जिस प्रकार अग्नि, अग्नि तापनेवालेको और जिस पात्रमें वह रहती है उसे, दोनोंको तप्त करतो है।

भक्ति शुद्धसत्व-स्वरूपा है

ऊपरकी आलोचनासे यह बात साफ होजानी चाहिये कि भक्ति जीव के चित्तकी वृत्ति नहीं है, सांसारिक या मायिक अन्य किसी वस्तुकी उपज भी नहीं है। भक्तिको कभी-कभी 'भाव' या 'रति' भी कहते हैं। श्रीरूप-गोस्वामीने भावको "शुद्धसत्व-विशेषात्मा" अर्थात् शुद्धसत्वस्वरूप कहा है।[1] श्रीजोव गोस्वामीने अपनी टीकामें कहा है—"भगवान्की स्वरूप शक्ति है स्वप्रकाशिका शक्ति। शुद्धसत्व है स्वप्रकाशिका शक्तिकी संवित-नाम्निवृत्ति। यह मायाशक्तिकी वृत्ति नहीं है (अर्थात् यह मायिक रजस्तमोविवर्जित सत्व नहीं है)। विष्णुपुराणमें स्वरूप शक्तिकी जिन तीन वृत्तियोंकी बात कही गयी है, उनमें जो ह्लादिनीरूपा महाशक्ति है, उसकी सारवृत्ति और संवित् के सम्मिश्रणका नाम है शुद्धसत्व। यह है भगवान् श्रीकृष्णकी आनुकूल्येच्छा-मयी परमवृत्ति और भगवान्के नित्य परिकरोंकी अधिष्ठान। सामान्यभावसे जिस भक्तिकी बात कही जाती है, उसके अंश-विशेषका नाम है—भाव। भावका आत्मा या स्वरूप है शुद्धसत्व।"

सत्व, रजः और तमः, मायाके इन तीनों गुणोंसे निवृत्ति प्राप्त करनेके पश्चात् ही साधकमें भक्तिकी अनुवृत्ति होती है।[2]

भक्ति, ज्ञान, कर्म और योग

साधन-पथके अनुसार सिद्धि

कुछ लोगोंका मत है कि साधक चाहे किसी भी साधन-पथका अनुसरण करे उसे परतत्वकी उपलब्धि एक ही प्रकारसे होती है, जैसे अग्नि

---

१. भ. र. सि. १।३।१

२. भा. ११।२५।३३

में जो कोई भी जिस-किसी भावसे हाथ डाले, उसे अग्निका अनुभव एक ही प्रकारसे होता है। अग्नि तो अचेतन है। जब वह उसमें हाथ डालनेवाले व्यक्तिके भाव और ज्ञानादिकी अपेक्षा नहीं रखती, तो सचेतन भगवान् क्यों रखेंगे? वे तो परम कृपालु होनेके कारण सभी साधकोंको, उनका ज्ञान या भाव जो भी हो, अपने पूर्णरूपमें उपलब्ध होंगे ही।

परन्तु ऐसा सोचना एक बड़ी भूल है। भगवान् सचेतन, सर्वज्ञ और परमदयालु हैं, इसीलिये जो साधक उनके जिस रूपकी उपासना करता है, उसे उसी रूपमें प्राप्त होते हैं। शास्त्रोंमें उन्हें "भावग्राही जनार्दन" और "वाञ्छाकल्पतरु" कहा है। उन्होंने स्वयं भी गीतामें कहा है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्हम्—जो मेरी जिस भावसे उपासना करता है, उस पर मैं उसी रूपमें कृपा करता हूँ।" उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि कोई किसी भी मार्गका साधक हो और किसी भी भावसे मेरी उपासना करता हो, मैं सबको एक ही रूपमें प्राप्त होता हूँ। प्रसिद्ध है कि साधन-पथ और भावनाके अनुसार ही सिद्धि होती है—

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।"

साधारणत: चार प्रकारके साधन-पथोंका उल्लेख किया जाता है—कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति। श्रीचैतन्य महाप्रभुने भगवत्-प्राप्तिके लिये ज्ञान, योग और भक्ति इन तीन मार्गोंका उल्लेख किया है। तीनोंमें भगवान्की उपलब्धि तीन भिन्न-भिन्न रूपोंमें होती है—ज्ञान मार्गमें निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें, योगमार्गमें अन्तर्यामी परमात्माके रूपमें और भक्ति मार्गमें परब्रह्म भगवान्के रूपमें—

तिन साधने भगवान् तिन स्वरूपे भासे।
ब्रह्म, परमात्मा, भगवत्वे प्रकाशे॥[1]

कर्म मार्गका उल्लेख भगवत्-प्राप्तिके प्रसंगमें श्रीचैतन्य महाप्रभुने इसलिये नहीं किया कि इसके द्वारा भगवत्-प्राप्ति तो दूर मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं होती। कर्म मोक्षके लिये पथ प्रशस्त करता है, पर मोक्ष देता नहीं। सभी कर्म मोक्षका पथ भी प्रशस्त नहीं करते। केवल निष्काम कर्म ही मोक्ष का पथ प्रशस्त करते हैं। सकाम कर्मोंसे स्वर्गादिके अस्थायी सुखोंकी प्राप्ति होती है और कुछ नहीं।

---

१. चै. च. २।२४।५७

ज्ञान और योग मार्गसे भक्तिकी श्रेष्ठता इस बातसे अपनेआप सिद्ध है कि ज्ञान और योगसे भगवान्के आंशिक रूप निर्विशेष ब्रह्म और परमात्मा की ही प्राप्ति होती है, जबकि भक्तिसे उनके सम्यक् रूपकी प्राप्ति होती है।

भक्तिका व्यापकत्व और नित्यत्व

ज्ञान और योग साधककी मानसिक स्थिति देश और कालकी अपेक्षा रखते हैं। सभी साधक, सभी समय सभी स्थितियोंमें इनका अनुशीलन नहीं कर सकते। योगाभ्यास वही कर सकता है, जो संयमी और जितेन्द्रिय है। योगके लिये स्थानकी पवित्रता और आसनोंको सिद्ध करनेकी आवश्यकता है। योगीको बहुतसी ऐसी क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, जो हर व्यक्तिके लिये, विशेषरूपसे इस कलिकालमें, सम्भव नहीं हैं। ज्ञान-मार्गके अधिकारी केवल वे हैं, जिन्हें संसारसे विरक्ति होचुकी है, जो विवेकी, विचारशील और शान्त प्रकृतिके हैं।[1] परन्तु भक्तिका याजन सबके लिये सब समय, सभी परिस्थितियोंमें संभव है।[2] प्रह्लादने भक्तिका याजन किया था मांके गर्भमें, ध्रुवने बाल्यकालमें, अम्बरीशने युवावस्थामें, ययातीने वृद्धावस्थामें, अजामिलने मृत्युकालमें, और चित्रकेतुने मृत्युके पश्चात् स्वर्गमें। भक्ति उनके लिये भी है. जो मुक्त होना चाहते हैं और उनके लिये भी जो मुक्त होचुके हैं।[3]

ज्ञान और योग नित्य नहीं हैं। यह ऐसे साधन हैं जिनकी साध्य-वस्तु की प्राप्तिके पश्चात् आवश्यकता नहीं रहती। पर भक्ति नित्य है, क्योंकि यह साधन भी है, साध्य भी। साधन-भक्तिका ऐसा कोई अंग नहीं, जिसका साध्य-भक्ति प्राप्त होजानेपर पूरी तरह लोप होजाता हो। वरन् वह और भी अधिक शुद्धता और परिपक्वताको प्राप्त होता है।

कर्म, ज्ञान और योगकी भक्तिपर निर्भरता

कर्म, ज्ञान और योग फलकी प्राप्तिके लिये भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं—

भक्तिमुख-निरीक्षक—कर्म-योग-ज्ञान।[4]

---

१. शंकर-भाष्य १।१।१

२. भा. ११।११।२१; गीता ६।३०

३. मुक्ताऽपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते।—नृसिंहतापनी २।५।१६

४. चै. च. २।२२।१४

नारद पंचरात्रमें कहा है कि विष्णुकी भक्तिके बिना वेद-पाठ, यम-नियम, ज्ञान-ध्यानादि सब निष्फल हैं।[१]

श्रीमद्भागवतमें भी यही कहा है—

श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभोक्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेश एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(भा. १०।१४।४)

इस श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामीपादने लिखा है—"जो लोग मुट्ठीभर धानको छोड़ कणहीन धानकी भूसीके बड़े ढेरको पीटते हैं, उन्हें कुछ भी हाथ नहीं लगता। इसी प्रकार जो लोग भक्तिको तुच्छ समझ केवल ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं, उन्हें कुछ भी हाथ नहीं लगता।"

गीतामें भगवान्ने कहा है कि केवल वे लोग, जो दुष्कृति, मूढ़ और नराधम हैं और जिन्होंने असुर-सुलभ भावका आश्रय लेरखा है, वे ही मेरा भजन नहीं करते।[२] उन्होंने कहा है कि 'चार प्रकारके सुकृतिजन मेरा भजन करते हैं, वे हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी'[३] 'आर्त' और 'अर्थार्थी' हैं कर्ममार्गी और 'जिज्ञासु' और 'ज्ञानी' हैं ज्ञानमार्गी। कर्ममार्गके उपासकोंको अपनी काम्य-वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिये और ज्ञानमार्गके उपासकोंको मोक्ष लाभ करनेके लिये भक्तिकी आवश्यकता होती है। कर्ममार्गियोंको इसलिये कि कर्म जड़ होनेके कारण फल नहीं देते। फलदाता एकमात्र भगवान ही हैं। ज्ञानमार्गियोंको इसलिये कि माया-बन्धनसे मुक्त हुए बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती और माया-बन्धनसे मुक्त होना भगवान्की कृपाके बिना संभव नहीं है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥[४]

—मेरी दैवीगुणमयी मायाको अतिक्रमण करना जीवके लिये संभव नहीं है। जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं, केवल वे ही इससे छुटकारा पाते हैं।

---

१. नारद पंचरात्र ४।२।१७

२. गीता ७।१५

३. गीता ७।१६

४. वही ७।१४

शंकराचार्यने भी ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भक्तिकी आवश्यकतापर बल दिया है। गीता ७।५६ श्लोककी टीकामें उन्होंने कहा है कि मोक्ष ज्ञान-निष्ठाके बिना संभव नहीं है और ज्ञान-निष्ठा अर्चन-भक्तिसे प्राप्त होती है। ब्रह्म-सूत्र ३।२।५ के भाष्यमें उन्होंने कहा है कि मोक्षके लिये विद्याकी आवश्यकता है, विद्याके लिये भगवत्-कृपाकी आवश्यकता है, और भगवत्-कृपाके लिये भक्ति की।

भक्तिके बिना मुक्ति मिल भी जाय, तो स्थायी नहीं होती। श्रीचतन्य महाप्रभुने दो प्रकारके ज्ञानमार्गियोंका वर्णन किया है—वे जो भगवान्‌में श्रद्धा नहीं रखते और स्वतन्त्ररूपसे निर्विशेष ब्रह्मको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं और वे जो भगवान्‌में श्रद्धा रखते हैं, पर मुक्ति चाहते हैं।[1] पहली प्रकारके ज्ञानमार्गी बहुत परिश्रमकर और बहुत कष्ट झेलकर निर्विशेष ब्रह्मको प्राप्त करते हैं, अर्थात् सायुज्य मुक्ति पा लेते हैं। परन्तु उनके पतनकी सम्भावना बनी रहती है।[2] दूसरी प्रकारके ज्ञानमार्गी भगवान्‌की कृपासे बिना परिश्रम किये सायुज्य-मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् कुछ समय तक उन्हें उस स्थितिमें रहने देकर अपना सामीप्य प्रदान करते हैं, जो सायुज्य-मुक्तिसे अधिक आनन्दप्रद है।

योगका तो प्रारम्भ ही भक्तिके बिना संभव नहीं है। योगका लक्ष्य है परमात्माकी प्राप्ति। परमात्मामें श्रद्धा एक प्रकारसे भगवान्‌में श्रद्धा या भक्ति होना है, क्योंकि परमात्मा भगवान्‌का अंश है। इसके अतिरिक्त परमात्मा सविशेष है। सविशेष परमात्माकी प्राप्ति बिना भक्तिके संभव नहीं। इसीलिये योगको कभी-कभी भक्ति, योगमिश्रा-भक्ति या शान्त-भक्ति भी कहते हैं।

भक्तिकी परम स्वतन्त्रता और आनुषंगिकरूपसे कर्म, ज्ञान और योगका फल देनेकी शक्ति

भक्तिके सम्बन्धमें हम पहले ही कह चुके हैं कि यह अन्य-निरपेक्षा और परम स्वतन्त्रा है। इसे कर्म, ज्ञान, योगादि किसी भी अन्य साधन-पथ

---

१. चै. च. २।२४।१६

२. जीवनमुक्ताऽपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः।

(भक्ति सन्दर्भमें उद्धृत वासना-भाष्य)

की अपेक्षा नहीं—"सा मुख्येतरापेक्षित्वात् ।"[१] यह अपना मुख्यफल भगवत्-प्राप्ति तो बिना अन्य किसी साधनकी सहायताके देनेमें समर्थ है ही, अन्य साधनोंके फल भी, बिना उन साधनोंका सहारा लिये, देनेमें पूर्ण समर्थ है—

भक्ति बिनु कोन साधन दिते नारे फल ।
सब फल देय भक्ति स्वतन्त्र प्रबल ।।[२]

भगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—"कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दानादि अनुष्ठानोंका फल मेरे भक्त केवल मेरी भक्तिके प्रभावसे अनायास प्राप्त करते हैं ।"[३] भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-सम्पन्न वाञ्छाकल्पतरु और भक्तवत्सल हैं, इसलिये अपने भक्तको "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" श्लोकके अनुसार उसकी इच्छाके अनुरूप फल देनेको बाध्य हैं ।

पर शुद्ध भक्त भगवान्‌को प्रेम-सेवाके अतिरिक्त और किसी फलकी कामना नहीं करते । तो भी ज्ञान और योगका ऐसा कोई शुभ फल नहीं, जिसकी उन्हें आनुषंगिक रूपसे अपने-आप प्राप्ति न होजाती हो । मुक्ति, जिसे ज्ञानी बड़े परिश्रमसे प्राप्त करता है, भक्तको बिना चाहे भक्तिके स्वाभाविक परिणामके रूपमें अनायास प्राप्त होती है । ज्ञानीका ब्रह्म-ज्ञान भक्तके भगवत्-ज्ञानका ही एक अंश है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं भगवान्‌का अंश हैं । वैराग्य, जिसे ज्ञानी इन्द्रियोंका बलपूर्वक दमनकर बड़े कष्टसे साध पाता है, भक्तका स्वाभाविक आभूषण है । उसकी भगवद्भक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों विषयोंसे उसका मन अपने-आप हटता जाता है । इसी प्रकार योगियोंकी चित्तवृत्ति निरोध और असंप्रज्ञात-समाधिकी अवस्थाएं भी जिसे योगी अष्टांग-योगके कठिन मार्गसे प्राप्त करते हैं, भक्तको भक्तिके प्रबल प्रभावसे अपने आप प्राप्त होती हैं ।

कर्म, योग और ज्ञान भक्तिके आवश्यक अंग नहीं

उपर्युक्त आलोचनासे स्पष्ट है कि भक्ति, कर्म, ज्ञान और योगसे श्रेष्ठ है । गीतामें भी भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि ज्ञान और कर्मसे योग और योगसे भक्ति श्रेष्ठ है ।[४]

---

१. शांडिल्य-भक्तिसूत्र, १०
२. चै. च. २।२४।६५
३. भा. ११।२०।३२
४. गीता ६।४६-४७

भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें ज्ञान और योग सहायक हैं, क्योंकि वे सांसारिक विषयोंकी कामनासे मुक्त हैं। भक्तिकी उच्चतर अवस्थाओंमें वे वाधक हैं, क्योंकि मुक्तिकी कामनासे वे मुक्त नहीं हैं। पर किसी भी अवस्थामें वे भक्तिका आवश्यक अंग नहीं हैं।[1]

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुसार कर्मी, ज्ञानी और योगी सभी अशान्त हैं, क्योंकि वे मुक्तिकामी होनेके कारण सही अर्थमें निष्काम नहीं है; केवल भक्त ही शान्त हैं क्योंकि वे पूर्णरूपसे निष्काम हैं—

कृष्ण-भक्त निष्काम अतएव शान्त।
भक्ति-मुक्ति-सिद्धिकामी सकलि अशान्त ॥[2]

भक्ति और निष्काम कर्म

जीवका परमधर्म है कृष्ण-भक्ति—"स वै पुंसा परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे (श्रीमद्भा. १।२।२६)। कर्मका मूल्य भक्तिके साधनरूपमें है, सहायकरूपमें है, स्वतन्त्ररूपमें नहीं। सत्कर्म ही वह है, जिससे प्रभु सन्तुष्ट हों—'तत्कर्म हरितोषं यत्' (श्रीमद्भा. ४।२९।४९)। हम जिस कर्मका अनुष्ठान करें, उसकी पूर्ण सिद्धि इसीमें है कि प्रभु प्रसन्न हों—स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् (भा. १।२।१३)

वर्णाश्रमधर्म भक्तिका अंग नहीं

विष्णुपुराणका कथन है कि वर्णाश्रमधर्मके पालनसे ही विष्णु आराधित या सन्तुष्ट होते हैं। उन्हें सन्तुष्ट करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम् ॥
(वि. पु. ३।८।९)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। ब्राह्मणका धर्म है—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह। क्षत्रियका धर्म है—दान,

---

१. चै. च. २।२२।८२
२ चै. च. २।१९।२३२

अध्ययन, यज्ञ, दण्ड और युद्ध। वैश्यका धर्म है—दान, अध्ययन, यज्ञ, कृषि-कार्य और वाणिज्य। शूद्रका धर्म है उक्त तीनों वर्णोंकी सेवा। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और भिक्षु चार आश्रम हैं। ब्रह्मचर्य आश्रमका धर्म है—उपनयनके उपरान्त गुरु-गृहमें वास, गुरु-सेवा, शौचाचार, व्रताचरण, वेदपाठ आदि। गार्हस्थ्य आश्रमका धर्म है—यथाविधि विवाहके पश्चात् स्वकर्म द्वारा धनोपार्जन, देव-ऋषि-पित्रादिका अर्चनादि। वानप्रस्थ आश्रमका धर्म है—पर्णमूल-फलाहार, भूमिपर शयन, मौन धारण, त्रिसन्ध्या स्नान, देवतार्चन, होम, तपस्या इत्यादि। भिक्षु-आश्रमका धर्म है—त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) का त्याग, समस्त प्राणियोंसे मैत्री, सर्वसङ्गवर्जन, अग्नि-होत्रादिका आचरण इत्यादि। विष्णुपुराणके अनुसार अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल इन्हीं सब धर्मोंका आचरण करनेसे विष्णु सन्तुष्ट होते हैं। उन्हें सन्तुष्ट करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

परन्तु भक्ति-शास्त्र कहते हैं कि भगवान्‌को सन्तुष्टि केवल भक्तिसे होती है,उन्हें केवल भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है—"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः (भा. ११।१४।२१) और वर्णाश्रमधर्म भक्ति-साधनका अंग नहीं है (भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वविभाग २।११८ की श्रीजीवगोस्वामीकी टीका)। वर्णाश्रमधर्मका पालन तभी तक करना चाहिये जबतक श्रद्धा और विषय-वैराग्य उत्पन्न नहीं होते। श्रद्धा और वैराग्यके उत्पन्न होते ही उन्हें त्याग देना चाहिये—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्नजायते॥
(भा. ११।२०।९)

वर्णाश्रम धर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, मुक्तिकी नहीं

शास्त्रोंके इन परस्पर विरोधी वाक्योंका समाधान इस प्रकार है। भगवान्‌की कृपा या तुष्टिके बिना किसी साधनका फल प्राप्त नहीं होता। पर तुष्टिके भी विभिन्न प्रकार हैं। सब साधनोंसे भगवान्‌की तुष्टि एक-सी नहीं होती। जिस साधनसे उनकी जितनी, या जिस प्रकारकी, तुष्टि होती है उसीके अनुरूप वे फल देते हैं, जैसा गीताके 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्यादि श्लोकसे सिद्ध है। साधन-भक्तिसे भगवान्‌की जितनी तुष्टि होती है, उतना वर्णाश्रम-धर्मके पालनसे नहीं होती। साधन-भक्तिसे

उनकी इतनी तुष्टि होती है कि जैसे वे भक्तके हाथ बिक ही जाते है—"विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्त्येभ्यो भक्तवत्सल:।" इसलिये उन्होंने स्वयं कहा है—"अहं भक्त पराधीन:—मैं भक्तके पराधीन हूँ (भा. ९।४।६३)।" वर्णाश्रम-धर्मका आचरण करनेवालेके प्रति उन्होंने इस प्रकारकी वश्यता स्वीकार नहीं की है। वर्णाश्रमधर्मके पालनसे उनकी जिस प्रकारकी तुष्टि होती है, उससे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है, ऐसा उन्होंने गीतामें कहा है (गीता २।३७)। स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति भी उन्होंको होती है, जो विष्णु-आराधनाके पथके रूपमें वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हैं। जो स्वतन्त्ररूपसे वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हैं, अर्थात् जो वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए भी इन चारों वर्णों और आश्रमोंके जन्मदाता भगवान्‌का भजन नहीं करते, वे वर्ण, आश्रम और मनुष्ययोनिसे च्युत होजाते हैं, उनका अध:पतन हो जाता है—

> य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
> न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टा: पतन्त्यध:।
> (भा. ११।५।३)

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने वर्णाश्रम धर्मको 'बाह्य' अर्थात् बाहरकी वस्तु कहा है।[1] बाहरकी वस्तु इसलिए कि इससे जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य श्रीकृष्ण-सेवाकी प्राप्ति नहीं होती, प्राप्ति होती है केवल अपने सुख-भोग की। श्रीकृष्ण-सेवाका नाम है—प्रेम। अपने सुख-भोगका नाम है—काम। जीवके स्वरूपका सम्बन्ध प्रेमसे है, कामसे नहीं। बाहरकी वस्तु इसलिये भी कि कामके स्थान हैं स्वर्गादि लोक, जो प्रेमके स्थान व्रज-लोकसे बहुत बाहर हैं।

निष्काम-कर्मसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है, श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवाकी नहीं

वर्णाश्रमाचारादि वेदविहित कर्म सकाम होनेके कारण बन्धनके हेतु हैं। इसीलिये फलानुसन्धानशून्य कर्मकी व्यवस्था की गयी है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

---

१. चै. च. २।८।५५

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिण:।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता: पदं गच्छन्त्यनामयम्।।

—बुद्धिमान् पण्डितगण कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्म-रूप बन्धनसे छूट जाते हैं और निर्दोष (अमृतमय) परमपदको प्राप्त होते हैं।

कर्मके फलका त्याग श्रीकृष्णको छोड़ और कहाँ होसकता है? इसलिए श्रीकृष्णने कहा है—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

—हे कौन्तेय ! तू जो कर्म करे,जो भोजन करे,जो हवन करे, जो दान करे, जो तप करे, वह सब मेरे अर्पणकर।

श्रीकृष्णमें कर्मार्पण वर्णाश्रमाचारादि वेदविहित सकाम कर्मसे श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे बन्धन नहीं होता, मुक्ति होती है। परन्तु महाप्रभुने इसे भी बाह्य कहा है, क्योंकि इससे भी भगवान्‌की उस प्रकारकी तुष्टि नहीं होती, जिससे उनकी प्रेम-सेवा या तत्सुखतात्पर्यमयी सर्वोत्कृष्टा अनन्याभक्तिकी प्राप्ति होसके, जो जीवके वास्तविक स्वरूपके अनुकूल है। इसमें कर्मके फल की इच्छा न होनेपर भी अपने-आपको बन्धनसे मुक्त करनेकी भावना प्रधान होती है। इसमें साधक जो कुछ करता है मुख्यरूपसे अपने लिये, अपनी मुक्तिके लिए करता है, भगवान्‌की संतुष्टिके लिए नहीं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इस श्लोककी अपनी टीकामें कहा है—"निष्काम-कर्म-ज्ञान मिश्रा भक्ति है, शुद्धा-भक्ति नहीं। जो व्यक्ति ज्ञान-कर्मादिका त्याग करनेमें असमर्थ हैं, जिनका सर्वोत्कृष्टा, केवला, अनन्याभक्तिमें अधिकार नहीं है और जिनकी निकृष्ट सकाम-भक्तिमें भी अभिरुचि नहीं है, उन्हींके लिए इस श्लोकमें कहे गये साधनकी व्यवस्था है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इसी श्लोककी अपनी टीकामें यह भी कहा है कि यह न तो निष्काम-कर्मयोग है, न भक्तियोग। निष्काम-कर्ममें केवल शास्त्र-विहित कर्मको ही भगवदर्पण करनेकी व्यवस्था है, व्यावहारिक कर्मों को अर्पण करनेकी नहीं। परन्तु इस श्लोकमें साधक खाना-पीना, दान-तपश्चर्यादि जो कुछ भी करता है, सभीको भगवर्पण करनेको कहा गया है। यह भक्तिका लक्ष्य है कर्मका नहीं। श्रीमद्भागवतमें भक्तिके प्रकरणमें कहा

गया है—'शरीर, वाक्य, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या स्वभावसे भक्त जो कुछ भी करे, वह भगवान्के लिये ही है, इस भावसे उन्हें समर्पण करते हुए करे। परन्तु इस श्लोकमें जिस प्रकार समर्पण करनेको कहा गया है, उसमें और भक्तके समर्पणमें भेद है। भक्त जो कुछ भी करता है भगवान्के लिए करता है, अर्थात् कर्म करनेके पूर्व भगवान्को समर्पण करता है, परन्तु यहाँ कर्म करनेके पश्चात् उसके फलको भगवान्को समर्पण करनेको कहा गया है।

श्रीधरस्वामीने भी "श्रवणं कीर्तनं विष्णो······ इति पुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्" भागवतके इन दो श्लोकों (७।५।२३-२४) की टीकामें लिखा है—"विष्णो अर्पिता भक्तिः क्रियते, न तु कृत्वा पश्चादर्प्येत इति—श्रवण-कीर्तनादि नवविधा भक्ति अनुष्ठित होनेके पूर्व विष्णुको अर्पित होती है, अनुष्ठित होनेके पश्चात् नहीं।"

कर्म अनुष्ठित होनेके पूर्व भगवान्को अर्पण किये जानेका अर्थ यह है कि साधक पहले ही अपने आत्मा, मन और इन्द्रियोंको भगवान्को समर्पित कर चुका होता है। इसलिए वह जो कुछ भी करता है भगवान्के लिये करता है, उनकी तुष्टिके लिए या उनके किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये करता है, अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये नहीं। जो कर्म अनुष्ठित होनेके पश्चात् भगवान्को अर्पण किया जाता है, उसमें भावना होती है उसके शुभ-अशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे बचकर किसी प्रकारकी मुक्ति प्राप्तकर लेने की, जैसा कि गीताके 'यत्करोषि' श्लोकके ठीक बादवाले इस श्लोकसे स्पष्ट है—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्ता मामुपैष्यसि॥
(गीता ९।२८)

कर्मके सम्यक् त्यागमें भी भक्तिका आकार ही है, प्राण नहीं

इस प्रकार महाप्रभुने फलाभिसन्धानयुक्त स्वधर्म और फलाभिसन्धानशून्य स्वधर्म दोनोंको 'बाह्य' कहा है। तो क्या सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके कर्मोंका त्याग उन्हें अभिप्रेत है?

कर्मके सम्यक् त्यागकी बात शास्त्रोंमें कही अवश्य गयी है। श्रुति कहती है—"वर्णाश्रमाचारयुतां विमूढ़ां कर्मानुसारण फलं लभन्ते। वर्णादि धर्म हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति—वर्णाश्रमाचारयुक्त विमूढ़-

गण कर्मानुसार ही फल प्राप्त करते हैं। जो वर्णाश्रमधर्मका परित्याग करते हैं, वे ही स्वानन्द-तृप्त होते हैं।" श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णने कहा है—

आज्ञायैवं गुणान्दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥
(भा. ११।११।३२)

"हे उद्धव! मैंने वेदादि धर्मशास्त्रोंमें धर्मका उपदेश किया है। जो व्यक्ति मेरे द्वारा उपदिष्ट उन सब धर्म-कर्मादिके गुण-दोषसे सम्यक्रूपसे अवगत होजानेके पश्चात् उनका परित्यागकर मेरा भजन करते हैं, वे परम सन्त हैं।"

गीतामें भी उनका इसी प्रकारका उपदेश है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशु चः॥
(गीता १८।६६)

'हे अर्जुन! सब धर्मोंको त्यागकर एकमात्र मेरी शरण ग्रहणकर। मैं तेरा समस्त पापोंसे उद्धार कर दूँगा। तू किसी प्रकारका शोक मत कर।'

इस प्रकारका साधन, जिसमें सब धर्मोंका त्यागकर भगवान्में आत्म-समर्पणपूर्वक केवल उनका भजन करनेको कहा गया है, सब प्रकारसे भक्तिके अनुकूल है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने 'आज्ञायैवमित्यादि' श्लोककी अपनी टीकामें इसे केवलाभक्तिका प्रथम सोपान कहा है। श्रीजीव गोस्वामीने इसे शुद्धा-भक्तिका मध्यम श्रेणीका साधन कहा है, क्योंकि इसमें भक्तिका आकार तो है, पर प्राण नहीं। चै. च. २।८।५७॥

भक्तिका प्राण है आत्यन्तिकी श्रद्धा और श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवा की बलवती लालसा

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने श्रीमद्भागवतके "तावत् कर्माणित्यादि" श्लोक की टीकामें कहा है कि कर्मोंका त्याग तबतक नहीं करना चाहिये, जबतक केवला-भक्ति या आत्यन्तिकी श्रद्धा न जन्मे। आत्यन्तिकी श्रद्धाका अर्थ है साधकका यह दृढ़ विश्वास कि केवल भगवत्-कथा श्रवणादिसे ही मैं कृतार्थ हो सकूँगा, ज्ञान-कर्मादि जैसे अन्य किसी भी उपायसे नहीं। आत्यन्तिकी

श्रद्धा उत्पन्न होजानेपर साधककी भगवत्-कथा-श्रवणादिमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उसके प्राण भगवत्-कथादिके लिये छटपटाया करते हैं। वह भगवत्-कथा श्रवणादिके साथ शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके गुण-दोषादिका विचारकर कर्तव्य-बुद्धिसे भगवत्-कथा श्रवणादिमें संलग्न नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार वह नारी, जो पतिसे आत्यन्तिक प्रीति करती है, अन्य पुरुषोंके साथ उसके गुण-दोषका विचार कर उसकी सेवा नहीं करती। उसके मनमें इस प्रकारकी बात भी नहीं जागती। कर्तव्य-बुद्धिसे भगवत्-कथा-कीर्तन करनेमें और प्राणके आकर्षणके कारण भगवत्-कथा-कीर्तनमें निरन्तर जुटे रहनेमें बड़ा अन्तर है। कर्तव्य-बुद्धि-जनित मनोवृत्ति के संस्पर्शसे श्रवण-कीर्तनादि शुद्धा-भक्तिके अनुष्ठान बाहरकी वस्तुमें परिणत होजाते हैं।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने चैतन्य-चरितामृत २।८।५७ की टीकामें कहा है 'आज्ञायैवमित्यादि' श्लोकमें जो कर्म-त्यागकी बात कही गयी है, उसे महाप्रभुने बाहरका साधन इसीलिए कहा है कि उसके मूलमें है भगवत्-कथा-श्रवणादिके साथ शास्त्र-विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके गुण-दोषका विचार, न कि भगवत्-कथा श्रवणादिमें उसकी आत्यन्तिकी श्रद्धा। जबतक भक्तिमें आत्यन्तिकी श्रद्धा नहीं होती कर्म त्याग करनेका अधिकार ही नहीं होता। अनधिकारी व्यक्तिके कर्म-त्याग करनेमें पूरी अमंगलकी आशंका रहती है। उसका कल्याण वेद-विहित कर्मोंको विधिपूर्वक करते रहनेमें ही है। उन कर्मोंके करते रहनेसे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और वह क्रमशः भगवत्-भजनका अधिकारी बन जाता है। उनका त्याग कर देनेसे वह वेदोंका आश्रय छोड़ बैठता है और उच्छृंखल जीवनके भयंकर परिणामोंका भोग करता है। ऐसे व्यक्तिके लिए ही श्रीभगवान्ने कहा है—

श्रुति स्मृति ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी ममद्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

(बाधूल स्मृति १८६)

"श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा है। जो मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह मेरा द्वेषी है, वैष्णव नहीं।"

'सर्वधर्मानि परित्यज्य' इत्यादि श्लोकमें भी आत्यन्तिकी श्रद्धा और श्रीकृष्णकी प्राणभरी प्रेम-सेवाकी बलवती लालसाकी मनोवृत्तिका अभाव है।

इसके विपरीत श्लोकके शेषार्धमें जो बात कही गयी है, वह पापोंके नाशके उद्देश्यसे साधकको श्रीकृष्णकी शरण लेनेको प्रेरित कर सकती है, जो अन्याभिलाषिताशून्य उत्तमा भक्तिके अनुकूल नहीं है।

श्रीमन्महाप्रभुके अनुसार उत्तमाभक्ति न तो सकाम-कर्म करनेमें है, न कर्मोंका त्याग करनेमें और न कर्मोंके फलको श्रीकृष्णमें अर्पण करते हुए केवल निष्काम-कर्म करनेमें। निष्काम तो कर्म होना ही चाहिये। साथ ही भगवान्‌के निमित्त, उनकी तुष्टिके लिए आर्तपूर्ण हृदयसे होना चाहिये। इस प्रकारकी भूखके हृदयमें होनेका नाम ही है—प्रेम। ऐसे भूखे साधककी सेवा से आर्तबन्धु श्रीभगवान्‌का हृदय जिस प्रकार सुखसे विगलित होजाता है, उस प्रकार स्वधर्मका विधिपूर्वक पालन करनेवाले या केवल कर्तव्य-बुद्धिसे निष्काम-कर्म करनेवाले साधककी साधनासे नहीं होता। पद्यावलीके एक श्लोकमें प्रेमी साधककी इस भूखका वर्णन इस प्रकार है—

नानोपचारकृतपूजनमार्तबन्धो
प्रेम्णैव भक्तहृदयं सुखविद्रुतं स्यात।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा
तावत् सुखाय भवति ननु भक्ष्यते यत्॥
(पद्यावली १०)

श्लोकका भाव यह है कि उदरमें जितनी भूख और प्यास होती है, उतना ही अन्न-जल तृप्तिकर होता है। उसी प्रकार भगवान्‌की प्रेम-सेवाकी भक्तमें जितनी भूख होती है, उतनी ही वह तृप्तिकर होती है—केवल भक्तके लिए नहीं; भगवान्‌के लिए भी। भगवान् आर्तबन्धु हैं। वे भक्तमें प्रेम-सेवा की जितनी भूख देखते हैं, उतनी ही उनकी-भी जठराग्नि जाग उठती है, वे भी उसकी प्रेम-सेवा ग्रहण करनेको उतना ही अधिक व्यग्र होउठते हैं और उसे ग्रहणकर उनकी भी तृप्ति उतनी ही अधिक होती है। भगवान्‌की जठराग्नि जगानेका एकमात्र उपाय है हृदयमें उन्हें प्रसन्न करनेकी तीव्र लालसा लेकर श्रवण-कीर्तनादि शुद्धा-भक्तिके कार्योंमें संलग्न रहना।

• • •

साधन-भक्ति

साधन-भक्ति साध्य-भक्तिकी अपरिपक्वावस्था है

भक्ति मार्गकी यह विशेषता है कि इसमें अन्य मार्गोंकी भाँति साधन और साध्यमें अन्तर नहीं है। जो साध्य है वही साधन है। साध्य है भगवान्की प्रेम-सेवा, साधन है श्रवण-कीर्तनादि भक्तिके विभिन्न अनुष्ठानोंके रूपमें भगवान्की सेवा। भगवत्-सेवा ही है भक्तिका सार, इसलिये दोनोंको भक्ति कहते हैं। एकको कहते हैं साध्य-भक्ति, दूसरीको साधन-भक्ति। जिन अनुष्ठानों द्वारा साध्य-भक्ति या भगवान्की प्रेम-सेवाकी प्राप्ति होती है, उन्हें साधन-भक्ति कहते हैं। साधन-भक्ति और साध्य-भक्तिमें अन्तर केवल इतना है कि साधन-भक्ति साध्य-भक्तिकी अपरिपक्वावस्था है, साध्य-भक्ति साधन-भक्तिकी परिपक्वावस्था है—

साधने भाविबे जाहा, सिद्ध देहे पाबे ताहा,
पक्वापक्व मात्रसे विचार।

—नरोत्तम ठाकुर

साध्य-भक्तिकी तरह साधन-भक्ति भी निर्गुण है। श्रीजीवगोस्वामीने इसे इस प्रकार सिद्ध किया है। यदि भक्ति सगुण होती, तो कैवल्य-ज्ञानकी तरह रजस्तमोहीन सत्वगुणसे ही उत्पन्न होती। परन्तु देखनेमें आता है कि सत्वगुण-विशिष्ट देवगण और अमलात्मा ऋषिगणोंमें भी भगवान्के चरणोंमें भक्ति नहीं होती। कोटि-कोटि मुक्त पुरुषोंमें भी एक भगवत्-भक्त दुर्लभ होता है।[1] वृत्तासुरके वृतान्तसे पता चलता है कि रजस्तमोगुणका प्राबल्य रहनेपर भी भगवत्-भक्त महापुरुषोंकी कृपा, उनके संग और उनके मुखसे सुनी हरि-कथाके प्रभावसे भक्ति प्राप्त होती है। भगवत्-भक्तोंका संग निर्गुण है—यह शौनकादिक ऋषियोंकी निम्न उक्तिसे स्पष्ट है, जिसमें उन्होंने साधु-संगको मोक्षसे भी अधिक श्रेयस्कर बताया है—

---

१. भा. ६।१४।२. ५

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत् संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशीषः ॥[1]

भगवद्भक्त स्वयं ही निर्गुण हैं। उनकी कथा निर्गुण है। इसलिये उनका संग निर्गुण है। निर्गुण साधुसंगसे उत्पन्न होनेवाली साधन-भक्ति भी निर्गुण है।

शंका होती है कि जब साधन-भक्तिके अनुष्ठान गुणमय इन्द्रियोंके ज्ञान और क्रियाके द्वारा ही सम्भव होते हैं, तो साधन-भक्ति निर्गुण कैसे हो सकती है ? इसका भी समाधान श्रीजीवगोस्वामीने किया है। उनका कहना है कि ज्ञान और क्रिया हैं चैतन्यके धर्म। यह जड़ इन्द्रियोंके कार्य कदापि नहीं हो सकते। यह जीवका भी धर्म नहीं हैं, क्योंकि स्वतन्त्ररूपसे जीव कुछ भी नहीं कर सकता। ब्रह्म-चैतन्यकी शक्तिसे आविष्ट होकर ही जड़ देहेन्द्रियादि कार्य करते हैं, क्योंकि ब्रह्म ही है" प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र और मनका मन—प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत, श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः।[2] "उस ब्रह्म-चैतन्यके बिना कोई कुछ नहीं कर सकता—न ऋते क्रियते किञ्चनारे ॥ ऋक् ॥ मुख्यरूपसे निर्गुण ब्रह्म-चैतन्यका कार्य होनेके कारण साधन-भक्ति जड़-इन्द्रियों द्वारा अनुष्ठित होते हुए भी निर्गुण है।

परन्तु ब्रह्म-चैतन्यांश द्वारा प्रवर्तित होनेपर भी हमारे सभी प्रकारके ज्ञान और कर्म निर्गुण नहीं हैं। जिस वस्तुके सम्बन्धमें हम उनका प्रयोग करते हैं उनका धर्म उनमें प्रतिफलित होना स्वाभाविक है। इसलिये जो ज्ञान-क्रियादि देह-पुत्रादि गुणमय वस्तुओंमें प्रयोजित होते हैं, वे सब सगुण है, और जो गुणातीत भगवान्‌में प्रयोजित होते हैं, वे निर्गुण हैं। साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते हमारी इन्द्रियाँ भी निर्गुण, स्वप्रकाश, चिन्मय-वस्तु भक्तिसे तादात्म्य प्राप्त करनेके कारण निर्गुण एवं चिन्मय हो जाती है, उसी प्रकार जिस प्रकार अग्निसे तादात्म्य प्राप्त करनेके कारण लोहेका गोला भी अग्निकी दाहिका शक्ति प्राप्तकर लेता है।

सगुणा साधन-भक्ति—साधन-भक्तिका प्रयोग कभी-कभी गुणमय वस्तुओंके लिये किया जाता है।[3] जब साधन-भक्तिका प्रयोग गुणमय

---

१. भा. ११।१८।१३

२. वृहदारण्यक ४।४।१८

३. भा. ३।२९।७

वस्तुओंके लिये होता है, तब उसे सगुणा साधन-भक्ति कहते हैं, क्योंकि उन गुणमय वस्तुओंका गुण साधन-भक्तिमें प्रतिफलित होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार वर्णहीन स्फटिक स्तम्भके निकट रखी वस्तुका वर्ण उसमें प्रतिफलित होता है। पर जिस प्रकार स्फटिक स्तम्भ सचमुच उस वर्णका नहीं होजाता, उसी प्रकार भक्ति गुणमय वस्तुके लिये अनुष्ठित होनेके कारण स्वयं गुणमय नहीं हो जाती।

सगुणा साधन-भक्ति तीन प्रकार की है—तामसी, राजसी और सात्विकी। जो क्रोधी व्यक्ति हिंसा, दम्भ या मात्सर्यसे प्रेरित हो अपने सुख-दुःखको दूसरोंके सुख-दुःखसे भिन्न समझते हुए भगवान्‌से भक्ति करते हैं, उनकी भक्ति तामसी है।[1] जो व्यक्ति विषय, यश, ऐश्वर्यादिके लाभके लिये भगवान्‌से भिन्न किसी वस्तुकी कामना रखकर अर्चन-पूजनादि करते हैं, उनकी भक्ति राजसी है।[2] जो कर्मक्षय-कामी या मोक्ष-कामी व्यक्ति कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेके उद्‌देश्यसे परमेश्वरको कर्मार्पण करते हैं, या अन्य किसी वस्तुकी स्पृहा रखकर केवल कर्तव्यदृष्टिसे भगवान्‌से भक्ति करते हैं, उनकी भक्ति सात्विकी है।[3]

निर्गुणा साधन-भक्ति—कपिल भगवान्‌ने निर्गुणा साधन-भक्तिके लक्षण बताते हुए कहा है—मेरे गुण और कथाओंको सुनने मात्रसे, समुद्रकी ओर भागती हुई गंगाके समान, जो मेरी ओर अविच्छिन्ना मनोगति हो जाती है, वही निर्गुणा भक्ति है।[4] उस निर्गुणा भक्तिके विशेष लक्षण यह हैं कि वह अहैतुकी, अव्यवहिता और आत्यन्तिकी है।

"अहैतुकी" का अर्थ है कि भक्त अपने लिये कुछ नहीं चाहता। वह न तो इस लोकके सुखोंकी कामना करता है, न स्वर्गादि लोकोंके सुखभोग की। वह केवल श्रीकृष्णके सुखकी कामना करता है। वह जो कुछ भी करता है श्रीकृष्णके सुखके लिये करता है। श्रीकृष्ण-सुखैकतात्पर्यमयी सेवा ही है उसका एकमात्र लक्ष्य। श्रीकृष्णके सुखके लिये वह मोक्ष तककी वासनाका परित्याग कर देता है।

---

१. भा. ३।२९।८

२. भा. ३।२९।९

३. भा. ३।२९।१०

४. भा. ३।२९।११-१२

"**अव्यवहिता**" का अर्थ है कि उसकी मनोवृत्ति निरवच्छिन्नरूपसे श्रीकृष्ण-कथा-कीर्तन, श्रीकृष्ण-स्मरणादि द्वारा सदा श्रीकृष्णके चरणोंमें लगी रहती है। ज्ञान-कर्मादि द्वारा उसमें किसी प्रकारका व्यवधान नहीं होता।

"**आत्यन्तिक**" का अर्थ है कि भक्ति द्वारा साधककी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति होती है। अन्य साधनोंसे आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति हो सकती है, पर आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति भक्तिके अतिरिक्त और किसी साधनसे नहीं होती। सायुज्यादि मुक्तिसे आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति हो सकती है, पर उनसे जिस सुखकी प्राप्ति होती है, उसे आत्यन्तिक सुख या सुखकी चरम सीमा नहीं कहा जा सकता। उसमें विशुद्ध चिन्मय सुखकी सत्तामात्रका आस्वादन होता है, उसकी अनन्त रस-वैचित्रीका नहीं। व्रजमें श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवा-प्राप्त भक्तका सुख ही सुखकी चरम सीमा है।

श्रीरूपगोस्वामीने भी निर्गुणा या उत्तमा साधन-भक्तिके लक्षणोंका वर्णन इसी प्रकार किया है। इस सम्बन्धमें उनका निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है—

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥[1]

—श्रीकृष्ण-भक्तिके अतिरिक्त और सभी प्रकारकी अभिलाषाओंसे रहित, ज्ञानकर्म्मादि द्वारा अनावृत श्रीकृष्ण-प्रीतिके अनुकूल कृष्णानुशीलन ही उत्तमा भक्ति है।"

इस सम्बन्धमें उन्होंने नारद-पञ्चरात्रके निम्न श्लोकको उद्धृत किया है—

"सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते॥[2]

—समस्त इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियोंके अधीश्वर श्रीकृष्णकी सेवाको भक्ति कहते हैं। यह सेवा सभी प्रकारकी उपाधियोंसे रहित और सेवापरत्व रूपसे निर्मल है।"

---

१. भ. र. सि. १।१।६
२. वही १।१।१०

साधन-भक्तिके फलस्वरूप प्रेमा-भक्तिका आविर्भाव होता है, उत्पत्ति नहीं

यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी है कि यद्यपि इन्द्रियोंकी सहायतासे किये जानेवाले साधन-भक्तिके विभिन्न अनुष्ठानोंके फलस्वरूप ही साध्य-भक्ति या प्रेमकी प्राप्ति होती है, प्रेम या भाव साधन-भक्तिसे उत्पन्न नहीं होता। यदि ऐसा होता तो प्रेमको स्वप्रकाश और नित्य मानकर परमपुरुषार्थ की आख्या देना ठीक न होता। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश अवश्यमभावी है। प्रेम नित्य-सिद्ध है। हम पहले ही कह चुके हैं कि यह ह्लादिनी-प्रधाना स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है। साधकके हृदयमें इसकी उत्पत्ति नहीं होती। जब उसका हृदय साधन-भक्तिके अंगोंका अनुष्ठान करते-करते निर्मल होजाता है, तब उसमें इसका आविर्भाव होता है,[1] तब यह उसके चित्तमें श्रीकृष्ण द्वारा निक्षिप्त होती है। इस प्रकार श्रीकृष्णमें अनादिकालसे विराजमान ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति जब साधककी श्रीकृष्ण-प्रीति-वासनासे मिलित होती है तो उसे प्रेम कहते हैं। प्रेमका एकबार हृदयमें आविर्भाव होनेपर फिर उसका तिरोभाव कभी नहीं होता।

प्रेमा-भक्तिके नित्यत्व की महाराज भरतादिके दृष्टान्तसे पुष्टि होती है। महाराज भरतके हरिनरूपमें जन्म लेनेपर भी उनकी भक्तिका तिरोभाव नहीं हुआ था। यह इस बातसे सिद्ध है कि उन्होंने हरिन-देह त्याग करते समय उच्च स्वरसे भगवान्‌की महिमाका कीर्तनकर उन्हें नमस्कार किया था। भक्तिका स्वयंप्रकाशत्व भी इससे सिद्ध है। दूसरोंकी समझमें आसके ऐसी भाषामें भगवान्‌की महिमाका उच्चस्वरमें कीर्तन और उनके प्रति नमस्कारादि क्या हारिनकी जिह्वाका कार्य होसकता है ? जिह्वाकी अपेक्षा न रखकर ही स्वयंप्रकाश भक्तिके कीर्तन अंगने हरिनरूपी महाराज भरतमें आत्मप्रकाश किया था, यह स्पष्ट है।

मिश्रा-भक्ति

हम कह चुके हैं कि शुद्धा या उत्तमाभक्तिमें ज्ञान-कर्मादिका संस्पर्श नहीं होता। जब भक्तिमें ज्ञानकर्मादिका मिश्रण होता है, तब उसे मिश्रा-भक्ति कहते हैं। मिश्राभक्ति दो प्रकारकी है—कैवल्यकामा मिश्राभक्ति और

---

१. आविर्भाव क्रमशः होता है। इसे आगे स्पष्ट किया गया है।

भक्तिमात्रकामा मिश्राभक्ति। कैवल्यादिकामी साधकोंको भी भक्तिका सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि सभी प्रकार की सिद्धियोंका मूल है भगवच्चरणार्चन या भक्ति—"सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्"।[१] परन्तु उनका लक्ष्य भक्ति नहीं होता। कैवल्यकामी भगवत्-चिन्तन (भक्ति) करते हैं इसलिये कि भगवत्-चिन्तन द्वारा निर्मलचित्त होकर वे अपने और भगवान्के बीच तादात्म्यका अनुभवकर सकें,[२] अर्थात् कैवल्य-मुक्ति लाभ कर सकें। उनकी भक्ति कैवल्यकामा मिश्राभक्ति है।

भक्तिमात्रकामी भक्तोंको ज्ञान-कर्मादिका सहारा लेना नहीं होता, क्योंकि भक्ति परमस्वतन्त्रा और निरपेक्ष है। फिर भी कोई-कोई भक्त अपने संस्कारों और परिस्थितियोंके अनुसार साधन-भक्तिके अनुष्ठानोंके साथ कर्म और ज्ञानका अनुशीलन भी करते हैं। उनकी भक्ति भक्तिमात्रकामा मिश्रा-भक्ति है।

वैधी-भक्ति

भक्ति दो प्रकारकी है—वैधी और रागानुगा। वैधी-भक्तिके साधक भजनमें प्रवृत्त होते हैं शास्त्र-विधिके भयसे और सांसारिक दुःखोंसे परित्राण पानेके उद्देश्यसे। वे भगवान्में प्रीतिके कारण केवलमात्र उनकी सेवाके उद्देश्यसे भजन नहीं करते। रागमार्गके साधक भजनमें प्रवृत्त होते हैं श्रीकृष्णमें राग, प्रीति या आसक्ति होनेके कारण उनकी सेवाके लोभसे।

विधि मार्गके भक्तोंमें भगवान्के ऐश्वर्यज्ञानकी प्रधानता होती है। वे भगवान्को कर्मफलदाता और मुक्तिदाताके रूपमें जानते हैं। इसलिये उन्हें ऐश्वर्य-प्रधान धाम वैकुण्ठ या परव्योमकी प्राप्ति होती है और वे सालोक्यादि चार प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे किसी एक प्रकारकी मुक्ति प्राप्तकर वैकुण्ठमें भगवत्-पार्षदके रूपमें वास करते हैं—

ऐश्वर्यज्ञाने विधि - भजन करिया।
वैकुण्ठे ते जाय चतुर्विध मुक्ति पाय्या॥[३]

---

१. भा. १०।८१।१९

२. भा. ११।१८।२१

३. चै. च. १।३।१५

राजमार्गके भक्तोंमें भगवान्‌के माधुर्य-ज्ञानकी प्रधानता होती है। उन्हें पार्षद देहसे व्रजमें लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवाकी प्राप्ति होती है। विधि मार्गके साधकोंको व्रजमें श्रीकृष्णकी प्राप्ति नहीं होती—

विधिमार्गे न पाइये व्रजे कृष्णचन्द्र।
(चै. च. २।८।१८२)

साधन भक्तिके चौंसठ अंग

श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिंधुमें भक्तिके चौंसठ अंगोंका उल्लेख किया है, जिनमेंसे प्रथम बीस इस प्रकार हैं—

(१) **गुरुपदाश्रय**—गुरुपदाश्रय भक्तिका एक प्रधान अंग है। इसलिये इसकी हम आगे पृथक्‌रूपसे और विस्तारसे आलोचना करेंगे।

(२) **दीक्षा**—विष्णुयामलमें दीक्षाका विवरण इस प्रकार है—

"दिव्यं ज्ञानं यतोदद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्वकोविदैः॥

—जो दिव्यज्ञान प्रदान करे और पापराशिको विनष्ट करे, उसे तत्व-कोविद् उपदेष्टागण दीक्षा कहते हैं।"

दिव्यज्ञानका अर्थ है अपने अभीष्ट भगवत्-स्वरूपका ज्ञान और उस भगवत्-स्वरूपसे साधकके अपने सम्बन्धका ज्ञान।[1] गुरुदेव जो मन्त्र देते हैं, उससे साधकको यह ज्ञान प्राप्त होता है। उसके पश्चात् ही वह भजन-पथपर अग्रसर हो सकता है।

(३) **गुरु-सेवा**—गुरु-भक्तिसे सब अनर्थ सहज ही दूर होते हैं। भगवत्-अनुग्रहका मूल भी गुरु-सेवा ही है। भगवान् यदि रुष्ट भी हों तो गुरु रक्षा कर सकते हैं, पर यदि गुरु रुष्ट हों तो भगवान् भी रक्षा नहीं कर सकते—

हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत॥

---

१. म. स. अनु. २८३

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णने श्रीदाम-विप्रसे कहा—

"नाहमिज्या प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रुषया यथा ॥[1]

—मैं गृहस्थ-धर्म, ब्रह्मचर्य-धर्म, वानप्रस्थ-धर्म, सन्यास-धर्म आदिसे इतना प्रसन्न नहीं होता, जितना सर्वभूतात्मा होते हुए भी गुरु-सेवा द्वारा प्रसन्न होता हूँ ।"

(४) **साधुवर्त्मानुगमन**—'वर्त्म' का अर्थ है—पथ । 'साधुवर्त्मानुगमन' का अर्थ है—जिस पथपर चलकर साधुजनोंने अभीष्ट लाभ किया है उसका अनुगमन । परन्तु उन्हीं साधुमहाजनोंके पथका हमें अनुसरण करना चाहिये, जिनका अभीष्ट वही हो जो हमारा है ।[2]

(५) **सद्धर्मपृच्छा**—साधुजनोंने जिस पथका अवलम्बनकर श्रीकृष्ण की प्रेम-सेवा प्राप्त की है, उस पथके विषयमें जाननेके लिये गुरुदेव या अन्य योग्य व्यक्तियोंसे प्रश्न करना ।[3]

(६) **श्रीकृष्ण-प्रीतिमें भोग-त्याग**—श्रीचैतन्य-चरितामृतमें लिखा है कि 'यत्नाग्रह' के बिना भक्तिका उदय नहीं होता ।[4] यत्नाग्रहका अर्थ है एकमात्र श्रीकृष्णकी सेवाके उद्देश्यसे अपने समस्त सुख-भोगको तिलांजलि देना । जबतक साधकमें सुख-भोगकी वासना रहती है, स्त्री-पुत्रादिमें आसक्ति और किसी प्रकारकी लोकापेक्षा रहती है, भक्ति उससे बहुत दूर रहती है ।

(७) **कृष्ण-तीर्थोंमें वास**—कृष्ण तीर्थोंमें वासका आशय है द्वारकादि स्थानोंमें और गङ्गाके निकटवर्ती स्थानोंमें वास । मथुरा-वासका महत्व अन्य सभी तीर्थोंमें वासके महत्वसे अधिक माना गया है । इसलिये इसका एक पृथक भक्ति अङ्गके रूपमें उल्लेख है । कृष्ण-तीर्थोंमें वास करनेसे सत्संगकी सहजमें प्राप्ति होती है और श्रीकृष्ण-लीलाओंका स्वाभाविक रूपसे चित्तमें स्फुरण होता है ।

---

१. भा १०।८०।३४

२ भा. र. सि. १।२।४६

३. वही १।२।४७

४. चै. च. २।२४।११५

(८) **यावदर्थानुवर्तिता**—जितना धन उपार्जन करनेसे निर्विघ्न भजन हो सकता है, उतना ही धन उपार्जन करना चाहिये, उससे न कम, न अधिक। आत्मीय स्वजनोंके साथ उतना ही व्यवहार करना चाहिये, जितना अत्यन्त आवश्यक है। भोजन भी उतना ही करना चाहिये, जितना शरीर-रक्षाके लिये आवश्यक हो, उससे न कम, न अधिक।

यदि कोई यह सोचे कि अधिक धन उपार्जनकर वह भगवत्-सेवा और वैष्णव-सेवा और अधिक अच्छी तरह कर सकेगा, तो यह भक्तिके वेश में मायाको अपने हृदयमें स्थान देना होगा। ऐसा करनेसे अर्थोपार्जनमें ही आवेश अधिक होगा, भक्ति पीछे पड़ जायगी। विषयका धर्म ही ऐसा है कि इसे थोड़ा भी साधकके हृदयमें स्थान मिल जाय, तो यह पूरी तरह उसपर छा जाता है। यदि यह विचार थोड़ा भी शुद्धा और एकान्तिकी भक्तिके अनुकूल होता, तो रूप-सनातन आदि क्यों राजाके समान ऐश्वर्यको त्यागकर दर-दरके भिखारी बनते। रूपगोस्वामीने स्पष्ट ही लिखा है कि धन और शिष्योंके बलपर जो भक्ति की जाती है, उसे उत्तमा भक्तिका अंग नहीं कहा जा सकता।[1]

(९) **हरिवासर-सम्मान**—इसका अर्थ है एकादशी आदि वैष्णव व्रतों का सम्मान करना। एकादशी-व्रत वैष्णवोंके लिये अवश्य पालनीय है। हरिभक्तिविलासमें लिखा है कि एकादशीके दिन अन्न ग्रहण करना गोमांस भक्षण करनेके समान है।[2] एकादशी-व्रत नित्य है। इसका पालन करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं और भगवत्-प्रीति सम्पुष्ट होती है। एकादशीके दिन विशेषरूपसे भजन करने और रात्रिमें जागरणकर नाम-जप और संकीर्तन आदि करनेका विधान है।

(१०) **अश्वत्थ-तुलसी-आमलकी-गो-ब्राह्मण-वैष्णवसम्मान**—अश्वत्थ अर्थात् पीपल, तुलसी, आमलकी, गो, ब्राह्मण और वैष्णव भगवान् कृष्णको अत्यन्त प्रिय हैं। इनकी सेवा-पूजासे वे प्रसन्न होते हैं।

(११) **भगवद्-विमुखजनोंका संग त्याग**—भगवद् विमुखजनोंका संग नहीं करना चाहिये। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उनका सम्मान नहीं

---

१. भ. र. सि. १।२।१२८

२. ह. भ. वि. १२।१५

करना चाहिये। जीवमात्रमें श्रीकृष्णका अधिष्ठान है। इसलिये सम्मान तो जीवमात्रका करना चाहिये।

(१२) **बहुत शिष्य न करना**—शिष्य उन्हींको करना चाहिये जो भजन करनेके इच्छुक हैं और दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य हैं। केवल सम्प्रदाय या अपने शिष्योंकी संख्या-वृद्धिके उद्देश्यसे शिष्य नहीं करना चाहिये।[1]

(१३) **महारम्भादिमें अनुद्यम**—जो भक्तिके अनुकूल नहीं ऐसा कोई कार्य आरम्भ नहीं करना चाहिये। मठादिका निर्माण भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि इन सब कार्योंसे भजनमें विघ्न होता है।[2]

(१४) **बहुग्रन्थाभ्यास-त्याग**—विभिन्न विषयोंके बहुतसे ग्रन्थोंका अभ्यास नहीं करना चाहिये। उन्हीं ग्रन्थोंका अभ्यास करना चाहिये, जिनसे अपने भक्तिभावकी पुष्टि होती है।[3]

शास्त्रोंकी व्याख्याको जीविका उपार्जन करनेका साधन नहीं बनाना चाहिये।[4]

(१५) **व्यवहारमें अकार्पण्य**—हानि-लाभ, सुख-दुःखमें समान भावसे भगवान्‌का स्मरण करते हुए जो मिल जाय उसीसे भगवान्‌की सेवा करना। उससे अधिकके लिये न रोना न याचना करना।[5]

(१६) **शोकादिकोंके वशीभूत न होना**—शोक और क्रोधके वशीभूत न होना, क्योंकि शोक और क्रोधमें भगवान्‌का स्फुरण नहीं होता।[6]

(१७) **अन्य देवताओंकी अवज्ञा न करना**—सदा हरिकी ही आराधना करना चाहिये। पर अन्य देवताओंकी अवज्ञा न करनी चाहिये, क्योंकि वे सब भी भगवान्‌की ही शक्ति या विभूति होनेके कारण वन्दनीय हैं।[7]

(१८) **प्राणिमात्रको उद्वेग न देना**—मन और वाक्यसे जो प्राणिमात्रको उद्वेग नहीं देता और उनके प्रति सुहृद जैसा व्यवहार करता है, उसपर

---

१. भा. ७।१३।८
२. वही
३. वही
४. वही
५. भ. र. सि. १।२।५२
६. वही १।२।५३
७. वही

भगवान् बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं ।[1]

(१९) **सेवापराध और नामापराधसे बचना**—सेवापराध बत्तीस प्रकारके हैं—(१) गाड़ी-पालकी आदि पर बैठकर या जूता खड़ाऊँ आदि पहनकर श्रीमन्दिर जाना, (२) भगवत्-सम्बन्धी उत्सवादि न करना या उनमें योग न देना, (३) विग्रहके सामने प्रणाम न करना, (४) अशुचि अवस्थामें भगवान्की वन्दना करना, (५) एक हाथसे प्रणाम करना, (६) श्रीविग्रहको पीठ दिखाकर प्रदक्षिणा करना, (७) श्रीविग्रहके सामने पैर फैलाना, (८) श्रीविग्रहके सामने दोनों हाथोंसे दोनों जानुओंको बाँधकर बैठना, (९) श्रीमूर्तिके सामने सोना, (१०) श्रीमूर्तिके सामने भोजन करना, (११) श्रीमूर्तिके सामने झूठ बोलना, (१२) श्रीमूर्तिके सामने उच्च स्वरसे बोलना, (१३) श्रीमूर्तिके सामने परस्पर आलाप करना, (१४) श्रीमूर्तिके सामने रोना, (१५) श्रीमूर्तिके सामने कलह करना, (१६) श्रीमूर्तिके सामने किसीके प्रति अनुग्रह या (१७) निग्रह, या (१८) निष्ठुर वाक्योंका प्रयोग करना, (१९) कम्बल ओढ़कर सेवा करना, (२०) श्रीमूर्तिके सामने परनिन्दा या (२१) पर स्तुति करना, (२२) श्रीमूर्तिके सामने अश्लील कथा कहना, (२३) श्रीमूर्तिके सामने अधोवायु त्याग करना, (२४) सामर्थ्य होते हुए भी मुख्य उपचार न देकर गौण उपचारोंसे पूजा करना, (२५) अनिवेदित द्रव्य भक्षण करना, (२६) जिस ऋतुमें जो फल होता है उसे भगवान्को अर्पण न करना, (२७) आये हुए द्रव्यका अग्रभाग किसी औरको देकर बचा हुआ भगवान्को देना, (२८) श्रीमूर्तिके सामने पीठ करके बैठना, (२९) श्रीमूर्तिके सामने अन्य व्यक्तिको अभिवादन करना, (३०) गुरुदेवके द्वारा प्रश्न किये जानेपर चुप रहना, (३१) अपनी प्रशंसा अपने-आप करना, (३२) देवताकी निन्दा करना ।

(२०) **कृष्ण-निन्दा और कृष्ण-भक्त-निन्दा न सहन करना**—श्रीमद्भागवतके अनुसार जो व्यक्ति भगवान् या उनके भक्तोंको निन्दा सुनकर उस स्थानसे उठकर चला नहीं जाता वह अधोगामी है ।[2]

इन बीस अंगोंको श्रीरूपगोस्वामीने साधन-भक्तिका प्रवेशद्वार कहा है । इनका पालन करनेसे साधक साधन-भक्तिके अनुष्ठानोंके लिये

१. वही

२. भा. १०।७४।४०

आवश्यक चित्तको अवस्थाको प्राप्त करता है। अन्य चव्वालीस अंग इस प्रकार हैं—

(२१) श्रीहरिमन्दिर-तिलकादि वैष्णव-चिन्होंका धारण,(२२) शरीर पर श्रीहरिके नामाक्षरोंका लिखना, (२३) निर्माल्य धारण, (२४) श्रीहरिके सामने नृत्य, (२५) दण्डवत् नमस्कार, (२६) श्रीमूर्ति देखकर आसनसे उठकर अभिवादन, (२७) श्रीमूर्तिके पीछे-पीछे गमन, (२८) भगवदधिष्ठान-स्थानोंमें जाना, (२९) परिक्रमा, (३०) अर्चन, (३१) परिचर्या, (३२) गीत, (३३) संकीर्तन, (३४) जप, (३५) विज्ञप्ति (निवेदन), (३६) स्तवपाठ, (३७) महाप्रसाद आस्वादन, (३८) चरणामृत आस्वादन, (३९) प्रसादी धूपमाल्यादिका सौरभ ग्रहण, (४०) श्रीमूर्तिका स्पर्शन, (४१) श्रीमूर्ति-दर्शन, (४२) आरती और उत्सवादिका दर्शन, (४३) भगवत्-कृपा-प्राप्तिके लिये प्रार्थना और आशा, (४४) श्रवण, (४५) स्मरण, (४६) ध्यान, (४७) दास्य, (४८) सख्य, (४९) आत्म-निवेदन, (५०) श्रीकृष्णको निवेदन करनेके लिये उपयोगी शास्त्रविहित द्रव्योंमेंसे अपनेको प्रिय वस्तुका श्रीकृष्णको अर्पण। (५१) जो कुछ भी करना श्रीकृष्णकी सेवाके लिये करना, (५२) सब प्रकार से श्रीकृष्णके शरणागत होना, (५३) श्रीकृष्ण सम्बन्धी वस्तुओंका सेवन, जैसे तुलसी-सेवा, (५४) श्रीमद्भागवतादि शास्त्रोंकी सेवा, (५५) मथुरा-धामकी सेवा, (५६) वैष्णवोंकी सेवा, (५७) अपनी अवस्थानुसार द्रव्य और भक्तवृन्दके साथ महोत्सवादि करना, (५८) कार्तिकादि व्रत (नियम सेवादि) (५९) जन्माष्टमी आदि उत्सव, (६०) श्रद्धाके साथ श्रीमूर्ति-सेवा, (६१) रसिक भक्तोंके साथ श्रीमद्भागवत-अर्थ आस्वादन, (६२) सजातीय, अपने से श्रेष्ठ, स्निग्ध प्रकृतिके साधुओंका संग, (६३) नाम-संकीर्तन और (६४) मथुरा-मण्डलमें वास।

साधन-भक्तिके चौसठ अंगोंका पर्यवसान नवधा-भक्तिमें होता है। प्रथम बीस अंगोंको छोड़, जो भक्तिमें प्रवेशके द्वारस्वरूप हैं, बाकी सब नवधा-भक्तिके अंग या उनकी शाखा-प्रशाखाओंके समान उनके अन्तर्गत हैं। नवधा-भक्तिके अंग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन। भागवतमें प्रह्लादकी उक्ति है—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं बन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इति पुंसार्पिता विष्णोः भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥

—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन, इस नव-लक्षणा भक्तिका भगवान्को अर्पण करनेके पश्चात् अनुष्ठान किया जाय, तो मैं उसे उत्तम मानता हूँ।"

विष्णुको अर्पण करनेके पश्चात् अनुष्ठान करनेका तात्पर्य यह है कि इन अनुष्ठानोंको भगवान्की अपनी ही वस्तु मानकर उनकी ही प्रसन्नताके लिये करना चाहिये, न कि अपने किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने साधन-भक्तिके चौंसठ अंगोंमें अन्तिम पाँच, अर्थात् साधुसंग, नाम-कीर्तन, भागवत-श्रवण, मथुरावास और श्रीमूर्ति सेवनको सबसे श्रेष्ठ माना है। इनके अल्प संगसे भी निरपराध व्यक्तियोंके हृदयमें कृष्ण-प्रेमका उदय होता है—

साधुसंग, नाम-कीर्तन, भागवत-श्रवण ।
मथुरावास श्रीमूर्ति श्रद्धाये सेवन ॥
सकल साधन श्रेष्ठ एई पंच अंग ।
कृष्ण-प्रेम जन्माय एई पांचेर अल्प संग ॥[1]

साधन-भक्तिके द्वार-स्वरूप प्रथम बीस अंगोंका पालन करना प्रत्येक साधकके लिये आवश्यक है। जो बाकी अंग हैं वे भक्तिके मुख्य अंग हैं। उनमें भी मुख्य हैं नवधा-भक्तिके अंग। नवधा-भक्तिमें उपरोक्त पाँच अंग मुख्य हैं, और उन पाँच अंगोंमें मुख्यतम है नाम-कीर्तन। मुख्य अंगोंमेंसे साधक किसी एक अंगको या बहुतसे अंगोंको ग्रहणकर यदि निष्ठापूर्वक उनका अनुष्ठान करे, तो उसे प्रेमकी प्राप्ति होती है। बहुतसे साधकोंने केवल एक ही अंगके अनुष्ठानसे अभीष्ट लाभ किया है, जैसे श्रवणसे परीक्षित ने, कीर्तनसे शुकदेव ने, स्मरणसे प्रह्लाद ने, पादसेवनसे लक्ष्मी ने, पूजनसे पृथु ने, बन्दनसे अक्रूर ने, दास्यसे हनुमान ने, सख्यसे अर्जुन ने, और आत्म-निवेदनसे बलि ने।[2]

परन्तु कलियुगमें नाम-कीर्तनका महत्व सर्वाधिक है। नाम-कीर्तन ही कलियुगका धर्म है। इसलिये साधकको चाहिये कि अपनी रुचिके अनुसार

---

१. चै. च. २।२२।७४-७५

२. भ. र सि. १।२।१२९

चाहे किसी एक अंगको ग्रहण करे, पर नाम-कीर्तनके साथ उसका अनुष्ठान करे।[1] नाम-कीर्तनके बगैर भक्तिका कोई भी अंग पूर्ण नहीं है—

"नवविधा भक्ति पूर्ण हय नाम हैते।"[2]

श्रीगुरु-दीक्षा और नाम-कीर्तनादि साधन-भक्तिके कुछ महत्वपूर्ण अंगोंकी आलोचना हम विस्तारपूर्वक आगे करेंगे।

सासंग और अनासंग भजन

नाम-कीर्तनके साथ-साथ स्मरण भी आवश्यक है। भक्तिरसामृत-सिन्धुमें सासंग और अनासंग भजनकी बात कही है। सासंग भजन साक्षाद्-भावसे किये जाने वाले भजनको कहते है। सासंग भजनमें साधक अन्तश्चिन्तित देहसे श्रीकृष्णके साक्षात्में उपस्थित रहकर उनकी प्रीतिके लिये श्रवण-कीर्तनादि करता है और साक्षात् भावसे उनके चरणोंमें फूल-चन्दनादि अर्पण करता है। सासंग भजन बिना कृष्ण स्मृतिके सम्भव नहीं है। कृष्ण-स्मृति-विहीन भजनको अनासंग भजन कहते हैं। अनासंग भजनके विषयमें श्रीकृष्णदास कविराजने कहा है—

"बहु जन्म करे यदि श्रवण-कीर्तन।
तबु नाहि पाय कृष्ण पदे प्रेमधन॥

—बहुत जन्मोंतक श्रवण-कीर्तनादि भक्ति-अंगोंका अनुष्ठान करनेसे भी प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती।"

स्मरण या भगवत्-स्मृति ही है साधनका प्राण। स्मरणकी प्रधानता रागानुगा भजनमें है। इसलिये हम अब रागानुगा भजनकी आलोचना करेंगे।

• • •

---

१. भा. ११।५।३२
२. चै. च. २।१५।१०८

रागानुगा भक्ति

रागानुगा भक्ति रागात्मिका भक्तिकी अनुगा है।[1] इसलिये रागानुगा भक्तिको जाननेके लिये रागात्मिका भक्तिको जानना आवश्यक है।

रागात्मिका भक्ति

रागात्मिका भक्ति है रागमयी।[2] रागका अर्थ है इष्टवस्तुकी सेवाके लिये गाढ़ तृष्णा—इतनी गाढ़ तृष्णा कि उसके बिना रहा ही न जाय, उसके लिये प्राण छटपटायें और उसके कारण इष्टमें परमाविष्टता हो जाय।[3] आविष्टताका अर्थ है तन्मयता। आविष्ट अवस्थामें बाह्य-स्मृति नहीं रहती। मनुष्य जिस वस्तुमें आविष्ट होता है, उससे उसका तादात्म्य होजाता है और वह उसका जैसा ही व्यवहार करने लग जाता है। भूताविष्ट व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर भूत जैसा व्यवहार करने लगता है। उसी प्रकार इष्टमें आविष्टता प्राप्त व्यक्ति अपने वर्तमान स्वरूप और बाह्य जगत्‌को भूलकर इष्ट जैसा व्यवहार करने लगता है, या उसकी अनुपस्थितिमें उसे उपस्थित जानकर उसकी सेवामें तन्मय रहता है। उदाहरण स्वरूप कृष्णके मथुरा चले जानेपर कृष्णमें परमाविष्टता-प्राप्त गोपियाँ कभी अपनेको कृष्ण जानकर कृष्णकी तरह बांसुरी बजातीं, कभी नृत्य करतीं और कभी कालिया-दमनादिकी लीला करतीं, या कृष्ण मथुरा गये हैं यह भूलकर उनसे मिलनकी आशासे अभिसार करतीं। मिलनकी अवस्थामें वे अपने-अपने भावोचित्त सेवाकार्यमें इतना तन्मय होजातीं कि वे अपने-आपको तो भूल जातीं ही, जिनकी सेवा करती उन्हें भी भूल जातीं। उन्हें याद रहता केवल वह तन्मयतामय प्रेम-सेवा-विलास, जिसमें वे संलग्न रहतीं। उस प्रेम-सेवा-विलासमें उनकी वही स्थिति होती, जिसके सम्बन्धमें कहा गया है—"ना

---

१. भ. र. सि. १।२।२७०

२. चै. च. २।२२।८७

३. भ. र. सि. १।२।२७२

सो रमण ना हम रमणी", अर्थात् जिस स्थितिमें रमण और रमणी, सेव्य और सेवक दोनों अपने-आपको एक परमरसमयी,मधुमती स्थितिमें खो-बैठते हैं। चैतन्य-चरितामृतमें इष्टकी सेवाकी गाढ़ तृष्णा या बलवती लालसाको रागका स्वरूप लक्षण और आविष्टताको उसका तटस्थ लक्षण कहा है।[1]

रागकी तृष्णा साधारण या प्राकृत तृष्णासे सर्वथा भिन्न है। साधारण तृष्णा अपने सुखके लिये होती है, रागकी तृष्णा भगवान्के सुखके लिये, उनकी सेवाके लिये होती है। वह प्रेममय तृष्णा होती है। भगवान्के लिये भी तृष्णा यदि स्वसुखमय है तो वह राग नहीं है। श्रीजीवगोस्वामीने उदाहरण देते हुए लिखा है कि शिवजीकी भगवान्के मोहिनी स्वरूपका आस्वादन करनेकी तृष्णाको राग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रेममय नहीं है—"अत्र श्रीमत्यां मोहिन्या य: खलु रुद्रस्य भावो जात: स तु नाङ्गी-कृतोऽनुक्तत्वात्, तस्य मायामोहिततयैव तादृशभावाभ्युपगमाच्च।"[2] साधारण तृष्णा विषय-वस्तुके प्राप्त होनेसे मिट जाती है। जलकी तृष्णा जल पी लेनेसे शान्त होजाती है। पर इष्टकी सेवाकी तृष्णा इष्ट या उसकी सेवा प्राप्त कर लेनेसे शान्त नहीं होती, उसकी और वृद्धि होती है। उस सेवा-सुखामृतका जितना पान किया जाता है, उतना ही उसकी प्यास और बढ़ती जाती है। इसलिये इष्टकी प्रेममयी सेवाका सुख नित्य नूतनरूपमें अनुभूत होता है। उसकी आस्वादन-चमत्कारितामें कभी कमी नहीं होती। साधारण तृष्णासे रागकी तृष्णाकी तुलना की जाती है कैवल उसके स्वाभा-विकत्वके कारण। श्रीजीवगोस्वामीने कहा है कि जिस प्रकार विषयी व्यक्तिकी विषयसंसर्गेच्छातिशयमयी स्वाभाविक प्रीति होती है या चक्षु आदिकी सौन्दर्यादि विषयोंके प्रति स्वाभाविक संसर्गेच्छातिशयमयी प्रीति होती है, उसी प्रकार भक्तकी भगवान्की सेवाके प्रति स्वाभाविक प्रीति या तृष्णा होती है।[3]

रागात्मिका भक्ति है परम-स्वतन्त्रा और अन्य निरपेक्षा। स्वरूप-शक्ति होते हुए भी यह शक्तिमान् श्रीकृष्णकी भी अपेक्षा नहीं रखती। श्रीकृष्ण स्वयं ही इसकी अपेक्षा रखते हैं, वे स्वयं ही इसके अधीन हैं।

---

१. चै. च. २।२२।८६

२. भ. सं. ३१०

३. वही

प्रभावमें यह श्रीकृष्णसे भी अधिक गरीयसी है—"भक्तिवशः पुरुषः। भक्तिरेव भूयसी।[1]

रागात्मिका भक्तिके आश्रय हैं नन्द-यशोदा-राधा-ललितादि, जो श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्तिके मूर्तविग्रह, अनादि सिद्ध,अन्य निरपेक्ष व्रजपरिकर के रूपमें श्रीकृष्णके साथ उनके लीला-स्थान व्रजधाममें नित्य विराजमान हैं और जिनका व्रजधामसे सजातीय सम्बन्ध है।[2] वैसे व्रजधाममें नित्य-सिद्ध और साधन-सिद्ध जीव भी रहते हैं। पर वे रागात्मिका-भक्तिके मुख्य आश्रय नहीं हैं, क्योंकि वे न तो स्वरूप-शक्तिका प्रकाश है, न अन्य निरपेक्ष हैं। वे जीव-शक्तिका प्रकाश हैं और व्रजमें रहकर श्रीकृष्णकी सेवा करनेके लिये साधनकी और स्वरूप-शक्तिकी कृपाकी अपेक्षा रखते हैं। व्रजधामसे उनका स्वभावगत सजातीय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वे व्रजधामकी तरह स्वरूप-शक्तिका विकास नहीं हैं और नन्द-यशोदादिकी तरह स्वतःसिद्ध "व्रजवासी" नहीं हैं।

सम्बन्धरूपा रागात्मिका-भक्ति और कामरूपा रागात्मिका-भक्ति— व्रजमें श्रीकृष्णके चार प्रकारके परिकर हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। रक्तक-पत्रकादि दास्य भावके परिकर हैं, सुबल-मधुमंगलादि सख्य-भावके, पिता-मातादि वात्सल्य भावके और श्रीराधादि कृष्णकान्तागण मधुर भाव की। इनमें श्रीकृष्णसे स्वामी-सेवक, सखा-सखा, पिता-पुत्र या माता-पुत्र और कान्त-कान्ता सम्बन्धका अभिमान है। दास्य, सख्य और वात्सल्य भावके परिकरोंकी कृष्ण-सेवा उनके सम्बन्धके अनुरूप होती है। वे ऐसी कोई सेवा नहीं कर सकते जो उनके सम्बन्धकी मर्यादाके प्रतिकूल हो, जसे दास्य भावके सेवक श्रीकृष्णको अपना उच्छिष्ट नहीं खिला सकते, सख्य भावके सेवक श्रीकृष्णका ताड़न-भर्त्सन नहीं कर सकते और वात्सल्य भावके सेवक मधुर भावोचित सेवा नहीं कर सकते। परन्तु व्रजसुन्दरियों की रागात्मिका-भक्ति सम्बन्धकी कोई अपेक्षा नहीं रखती। श्रीकृष्णका प्रीति विधान ही है उनका एकमात्र काम्य—जैसे भी हो श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना, चाहे उसके लिये वेदधर्म, कुलधर्म और स्वजनादिका त्याग क्यों न करना पड़े, चाहे स्वयंको भी उसके लिये नरक ही क्यों न भोगना पड़े। श्रीकृष्णसे

---

१. माठर श्रुति

२. भ. र. सि. १।२।१३१

अपनी चरण-सेवा करवाना या अपनी चरण-धूलि उनके मस्तकपर चढ़ाना जैसा कोई भी कार्य जो कान्ताके धर्मके प्रतिकूल हो,वे करनेमें नहीं सकुचातीं, यदि श्रीकृष्णको उससे सुख हो।

दास्य, सख्य और वात्सल्यभावके श्रीकृष्णके परिकरोंकी रागात्मिका-भक्ति सम्बन्धकी अपेक्षा रखनेके कारण सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति कहलाती है और व्रजसुन्दरियोंकी रागात्मिका-भक्ति सम्बन्ध-निरपेक्ष होने और एकमात्र श्रीकृष्ण-प्रीतिकी कामनाकी अपेक्षा रखनेके कारण कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहलाती है। कामरूपा रागात्मिका भक्तिमें रागात्मिका भक्तिके गुणोंका पूर्ण विकास है, क्योंकि वह पूर्णरूपसे निरपेक्ष और स्वतन्त्र है।

रागानुगा भक्ति

हम कह चुके हैं कि रागानुगा भक्ति रागात्मिकाकी अनुगता है। इसका अर्थ यह है कि रागानुगा-भक्ति रागानुगा-भक्तिके आश्रयोंके आनुगत्यमें उनकी सहायताके रूपमें की जाती है। व्रजमें दो प्रकारके भक्त हैं— वे जो रागात्मिकाके आश्रय हैं और वे जो रागानुगाके आश्रय हैं। रागात्मिकाके आश्रय श्रीकृष्णकी जिस प्रकारकी सेवा करते हैं, रागानुगाके आश्रय उनके आनुगत्यमें उस सेवाका आयोजन कर उनकी सहायता करते हैं। जो जिस भावकी रागानुगा भक्तिका आश्रय है, वह उसी भावकी रागानुगा-भक्तिके आश्रयके आनुगत्यमें सेवा करता है।

जीवका अधिकार रागानुगा भक्तिमें ही है, रागात्मिकामें नहीं, क्योंकि वे स्वरूपसे श्रीकृष्णके नित्यदास हैं और दासकी सेवा आनुगत्यमयी होती है। श्रीकृष्णकी ओरसे देखा जाय तो भी जीवोंका रागात्मिका-सेवामें कोई स्थान नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण हैं पूर्ण निरपेक्ष। वे स्वरूप-शक्तिके अतिरिक्त और किसीकी अपेक्षा नहीं रखते। स्वरूप-शक्तिकी कृपासे ही जीव कृष्ण-सेवाका अधिकार प्राप्तकर सकता है। जीव यदि नन्द-यशोदा-सुबलादि रागात्मिकाके आश्रयोंसे अपने-आपको अभिन्न मानकर उपासना करे, तो वह उसी प्रकार अपराधी होगा जिस प्रकार श्रीकृष्णसे अपनेको अभिन्न माननेपर होता है, क्योंकि रागात्मिकाके आश्रय कृष्णकी स्वरूप-शक्तिका विकास होनेके कारण उनसे अभिन्न हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा है कि जिन साधकोंमें श्रीकृष्ण-सेवाके लिये लोभ होता है, वे ही रागानुगा-साधन-भक्तिके अधिकारी हैं।[1] लोभ उत्पन्न होता है केवल कृष्ण-कृपासे या कृष्ण-भक्त-कृपासे। जिस भाग्यवान् व्यक्तिपर कृष्ण या उनके भक्त कृपा करते हैं, उसमें व्रजपरिकरोंकी रागात्मिका-सेवाकी कथा सुनते-सुनते उस प्रकारकी कृष्ण-सेवाके लिये लोभ उत्पन्न होजाता है—

रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम।
ताहा शुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान्॥[2]

लोभका लक्षण है शास्त्रके विधि-निषेधकी अपेक्षा न रखना—

शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति।[3]

लोभ कर्तव्य-अकर्तव्य, योग्यता-अयोग्यताका विचार नहीं करता। वह न शास्त्रको मानता है न युक्तिको। शास्त्र और युक्ति चाहे कुछ भी कहें लोभनीय वस्तुको देखकर लोभ होता ही है। ज्वरके रोगीको इमली खानेके लिये चिकित्सा-शास्त्र भी निषेध करता है युक्ति भी, फिर भी इमलीको देख ज्वर-रोगीके मुँहमें पानी आ ही जाता है। इसी प्रकार शास्त्र और युक्ति दोनों ही कहते हैं कि संसारी व्यक्ति प्राकृत देहसे रागके साथ श्रीकृष्णकी साक्षात् सेवा नहीं कर सकता। परन्तु जिनपर कृष्ण-कृपा या भक्त-कृपा होती हैं, उनमें रागात्मिका-सेवाकी कथा सुनकर कृष्ण-सेवाका लोभ जागना स्वाभाविक है।

परन्तु कृष्ण-सेवाके लिये लोभ होना एक बात है, कृष्ण-सेवा प्राप्त करना दूसरी बात है। किसी वस्तुके लोभ होनेसे ही उसकी प्राप्ति नहीं होजाती। उसे प्राप्त करनेकी जो विधि है उसे उन लोगोंसे जानकर, जिन्होंने उसे प्राप्त किया है। उसके अनुसार यत्न करना पड़ता है। इसलिये कृष्ण-भक्ति या कृष्ण-सेवा प्राप्त करनेके लिये आवश्यक है शास्त्र, गुरु और वैष्णवों से उसकी विधि जानकर उसके अनुसार भजनमें जुट जाना। रागमार्गके भजनमें भी विधि-निषेधका पालन करना उतना ही आवश्यक है जितना

---

१. भ. र. सि १।२।१४७-४८

२. चै. च. २।२२।८७

३. चै. च. २।२२।८८

विधिमार्गके भजनमें। शास्त्रकी उपेक्षाकर मनमाने ढङ्गसे भजन करनेको श्रीरूप गोस्वामीने भजन न कहकर उत्पात मात्र कहा है—"स्मृति श्रुति पुराणादि पञ्चरात्रविधि बिना। आत्यन्तिकी हरि भक्तिरुत्पातायैव कल्पते"।[1] रागमार्ग और विधिमार्गका भेद भजनमें प्रवृत्ति जागनेके हेतुको लेकर है न कि भजनको लेकर। विधिमार्गमें भजनमें प्रवृत्ति होती है शास्त्र-विधि-निषेधके भयके कारण; रागमार्गमें भजनमें प्रवृत्ति होती है लोभ के कारण।

कामानुगा और सम्बन्धानुगा रागानुगा—भक्ति

रागात्मिका भक्तिके समान रागानुगा भक्ति भी दो प्रकार की है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। दास्य, सख्य और वात्सल्य भावके श्रीकृष्णके रागात्मिका परिकरोंके आनुगत्यमें की जानेवाली भक्ति सम्बन्धानुगा है और मधुरभावके श्रीकृष्णके रागात्मिका परिकरोंके आनुगत्यमें कीजानेवाली भक्ति कामानुगा है।[2] रागानुगाओंकी कामानुगा भक्ति भी दो प्रकारकी है—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी। सम्भोगेच्छामयी भक्तिमें श्रीकृष्णके साथ सम्भोगकी इच्छा रहती है। सम्भोगकी इच्छा रखनेवाले भक्तोंको रागानुगा-भक्तिके विधिके अनुकूल भजन करने और कामगायत्री-कामबीजसे मदनगोपालकी उपासना करनेपर भी व्रजमें व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्णकी सेवा नहीं मिलती। कारण यह कि व्रजमें स्वसुख-वासना है ही नहीं। व्रजमें परिकर इच्छा रखते हैं केवल श्रीकृष्णके सुखकी और श्रीकृष्ण इच्छा रखते हैं केवल परिकरोंके सुखकी। फिर सम्भोगकी इच्छा रखनेवाले भक्त आनुगत्य करें तो किसका? वे द्वारकाकी महिषियोंका ही आनुगत्य कर सकते हैं, जिनके हृदयमें कभी-कभी स्वसुख वासनामयी सम्भोगकी इच्छा जाग्रत होती है। इसलिये उन्हें व्रजकी प्राप्ति न होकर द्वारकाकी ही प्राप्ति होती है। तत्तदभावेच्छामयी कामानुगा भक्तिमें सम्भोगकी इच्छा नहीं होती। साधनमें सिद्धि लाभ करनेके पश्चात् मंजरी देहसे लीलामें प्रवेश करने पर भी तत्तदभावेच्छामयी कामानुगा भक्तिके साधक सब प्रकारसे स्वसुख-वासना-रहित होकर रागात्मिकामयी कृष्ण-सेवाके आयोजनमें आनुकूल्य

१. भ. र. सि. १।२।४६
२. भ. र. सि. १।२।१५३

करते हैं। श्रीकृष्ण भी यदि उनके चित्त-विनोदके लिये उनके साथ रमण करना चाहें, तो वे पराङ्मुख रहते हैं।

बाह्य और अन्तर साधन

साधन दो प्रकारका है—अन्तर और बाह्य। अन्तर साधनका संबंध मनसे है, वाह्य साधनका देह और बाह्य इन्द्रियोंसे। रागानुगा भजन अन्तर-साधन-प्रधान है। लीला-स्मरण ही इसका मुख्य अङ्ग है। परन्तु श्रवण-कीर्तनादि बाह्य-साधन इसमें उपेक्षनीय नहीं हैं। बाह्य-साधनसे अन्तर-साधनकी पुष्टि होती है और अन्तर-साधनसे बाह्य-साधनमें रुचि उत्पन्न होती है। बाह्य और अन्तर-साधन साथ-साथ भी चल सकते हैं। श्रवण-कीर्तनके साथ लीला-स्मरण भी होसकता है। श्रीरूप गोस्वामीने बाह्य-साधन और अन्तर-साधनको रागानुगा-भक्तिके दो अंगोंके रूपमें माना है।[1] श्रीमन्‌महाप्रभुने भी कहा है—

'बाह्य' 'अन्तर' इहार दुइ त साधन।
बाह्य-साधक देहे करे श्रवण-कीर्तन॥
मने-निज सिद्ध देहे करिया भावन।
रात्रि दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥[2]

वास्तवमें बाह्य-साधन अन्तर-साधनका ही बाह्यरूप है। बाह्य-साधनकी सार्थकता अन्तर-साधनसे उसके योगमें है। यन्त्रके समान बाह्य-साधन करना और मनके साथ उसका योग न रखना रागानुगा-मार्गका भजन नहीं है। इस प्रकारके यान्त्रिक भजनके विषयमें महाप्रभुने कहा है कि बहुत जन्मोंतक इसे करते रहनेपर भी अभीष्टकी प्राप्ति नहीं होती—"बहु जन्म करे यदि श्रवण-कीर्तन। तथापि ना पाय कृष्णपदे प्रेम-धन।"[3]

बाह्य साधन होता है यथावस्थित पाञ्चभौतिक देहसे। अन्तर-साधन होता है अन्तश्चिन्तित सिद्ध देहसे। बाह्य-साधन होता है चक्षु-कर्णादि बहिरिन्द्रियों द्वारा, अन्तर साधन होता है अन्तर-इन्द्रिय मन द्वारा। मनसे

---

१. भ. र. सि. १।२।१५१-५२

२. चै. च. २।२२।८९-९०

३. चै. च. १।८।१५

सिद्ध देहकी चिन्ताकर सिद्ध देह द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा ही रागानुगा भजन का सार है।

श्रीहरिभक्ति विलासमें लिखा है कि अन्तश्चिन्तित सिद्ध पार्षद देहसे अपनी भावनामें श्रीकृष्णके सान्निध्यमें रहकर उनकी प्रीतिके लिये श्रवण-कीर्तनादि भक्तिके अनुष्ठान करनेमें ही उनकी सार्थकता है।[१] अन्तश्चिन्तित सिद्ध देहसे तादात्म्य स्थापितकर साधक अपने जड़-देह और उसके उपादान पञ्चमहाभूतोंसे अपने आपको पृथक् कर लेता है। इसलिये इसे भूत-शुद्धि कहते हैं। भूतशुद्धिके बिना भक्ति-अनुष्ठान शास्त्रोक्त विधिके अनुसार किये जायें तो भी निष्फल होते हैं।[२]

साधकके सिद्ध देहकी प्रथम स्फूर्ति होती है श्रीगुरुके चित्तमें। गुरुदेव साधकको गुरु-प्रणालिका प्रदान करते समय अपने सिद्ध देह और अपने गुरु, परम-गुरु, परात्पर गुरु आदिके सिद्ध देहोंके साथ उसके सिद्ध देहका परिचय करा देते हैं। वे उसे उसके सिद्ध देहके वर्ण, वयस, वेश-भूषाके साथ उसकी सेवाका भी ज्ञान करा देते हैं। वह सिद्ध देहको मन ही मन चिन्ता करता है। उसीको अपना वास्तविक देह मानकर उसके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा करता है। यह सेवा केवल मानसिकी या भावनामय होती है। श्रीचैतन्य-महाप्रभुने इसके सम्बन्धमें कहा है—

निजाभीष्ट-कृष्णप्रेष्ठ पाछे त लागिया।
निरन्तर सेवा करे अन्तरमना हञा॥
दास, सखा पित्रादि प्रेयसीरगण।
रागमार्गे एई सब भावेर गणन।[३]

"निजाभीष्ट-कृष्णप्रेष्ठ पाछे त लागिया" का अर्थ है कि साधकको श्रीकृष्णको मानसी-सेवा करनी चाहिये उन श्री-कृष्ण-प्रेष्ठ या श्रीकृष्णके सबसे प्रिय परिकरोंके अनुगत्यमें जो श्रीकृष्णकी उसी भावसे सेवा करते हैं, जो साधक का अपना भाव है। इस प्रकार मधुर भावके साधकोंको श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये श्रीराधा-ललितादिके आनुगत्यमें, वात्सल्य भावके सेवकोंको

---

१. ह. भ. वि. ५।३५-४१
२. वही ५।३४
३. चै. च. २।२२।९१-९२

नन्द-यशोदादिके आनुगत्य में, सख्य-भावके साधकोंको सुबलादिके आनुगत्य में और दास्य भावके साधकोंको चित्रक-पत्रकादिके आनुगत्य में।

डा. राधागोविन्दनाथका मत है कि श्रीकृष्णके उपरोक्त परिकरोंकी रागात्मिका-सेवा है, जिसमें साधकका अधिकार नहीं है। इसलिये उसे सीधे उनके आनुगत्यमें श्रीकृष्णकी सेवाकी चेष्टा न करके उन नित्य-सिद्ध व्रज-परिकरोंके आनुगत्यमें सेवा करनी चाहिये, जिनकी रागानुगा-सेवा है। यदि वह सीधे रागात्मिका-सेवाके अधिकारी व्रज-परिकरोंके आनुगत्यमें सेवा करनेकी चेष्टा करेगा तो उसके अभीष्टकी सिद्धि न होगी।[1] उनके अनुसार श्रीरूपमञ्जरी, श्रीअनङ्गमञ्जरी, श्रीरतिमञ्जरी, श्रीरसमञ्जरी प्रभृति हैं रागानुगा भक्तिके नित्य-सिद्ध आश्रय। अन्यान्य भावोंके भी रागानुगा-भक्ति के नित्य-सिद्ध आश्रय हैं। उनका आनुगत्य स्वीकार करनेसे वे साधकको रागानुगा-सेवाकी शिक्षा देकर और श्रीकृष्ण-प्रेष्ठ रागात्मिका-सेवाके परिकरों के चरणोंमें अर्पितकर श्रीकृष्ण-सेवामें नियोजित कर देते हैं।

परन्तु डा. राधागोविन्दनाथके रागानुगा-भक्तिके नित्य-सिद्ध परिकरों के सिद्धान्तकी पुष्टि गौडीय-वैष्णव-सम्प्रदायके आकर ग्रन्थोंसे होती नहीं जान पड़ती। उन्होंने भी अपने सिद्धान्तके समर्थनमें इन ग्रन्थोंसे कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें रागानुगा की परिभाषामें लिखा है—

"विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥[2]

—व्रजवासिजनादिमें प्रकाश्यभावसे विराजमाना भक्तिको 'रागा-त्मिका' कहते हैं; इस रागात्मिकाके अनुगता भक्तिको रागानुगा कहते हैं।" 'व्रजवासिजनादिषु' में श्रीरूपमञ्जरी, श्रीरतिमञ्जरी आदि भी सम्मलित हैं। इससे स्पष्ट है कि श्रीरूपगोस्वामीके अनुसार उनकी भक्ति भी रागात्मिका ही है। रागानुगाकी परिपाटीके सम्बन्धमें श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है—

"सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सू ना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥[3]

---

१. गौ. वै. द. पृ. २१९७

२. भ. र. सि. १।२।२७०

३. वही १।२।२९५

—व्रजमें निजाभीष्ट कृष्णकी रति विशेषके लाभेच्छु व्यक्तियोंको साधकरूपसे यथावस्थित देहसे और सिद्धरूपसे अन्तश्चिन्तित अभीष्ट तत्सेवोपयोगी देहसे व्रजवासियोंका अनुसरण करना चाहिये।"

चक्रवर्तीपादने "व्रजलोकानुसारत:" शब्दका अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि साधकको साधकरूपमें श्रीरूपगोस्वामी प्रभृति व्रजवासियों का अनुसरण करना चाहिये। यहाँ उन्होंने श्र रूपमञ्जरी आदि की गणना सामान्य व्रजवासियोंमें की है; रागानुगाके आश्रयके रूपमें उनकी किसी विशेष कक्षाका संकेत नहीं किया है। इसी प्रकार इसके पूर्वके श्लोक में, जिसमें यह बताया गया है कि मधुरसके रागानुगाके साधकको किसका स्मरण करना चाहिये उसमें "प्रेष्ठं निजसमीहितम्" का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है कि उसे अपने अभिलषणीय श्रीवृन्दावनेश्वरी, ललिता, विशखा और रूपमञ्जरी आदिका स्मरण करना चाहिये। यहाँ उन्होंने रागानुगाके साधकके लिये श्रीरूपमञ्जरी आदिका उसी रूपमें स्मरण करने को कहा है, जिस रूपमें वृन्दावनेश्वरी और ललिता, विशाखा आदि का।[१] इसके अतिरिक्त यदि रूपमञ्जरी आदिकी भक्ति रागानुगा है तो उनके आनुगत्यमें साधककी भक्ति रागानुगा कैसे हो सकती है? क्योंकि रागानुगा भक्ति वही है जो रागात्मिकाके आनुगत्यमें की जाती है।

एक प्रश्न यह है कि रागानुगाके साधकको श्रीकृष्णका ध्यान योगियों की तरह अपने हृदय-कमलमें करना चाहिये या और कहीं? इसका उत्तर यह है कि भक्ति-मार्गके साधकोंके लिये श्रीकृष्ण-सेवाका स्थान हृदय-कमल नहीं है। उन्हें श्रीकृष्णका ध्यान और उनकी सेवा करनी चाहिये उनके अपने धाममें ही, अर्थात् दिव्य व्रज-धाम में। रागानुगाका साधक अपने सिद्ध-देहसे तादात्म्य स्थापितकर भावनामें व्रजधाममें रहकर ही रात-दिन श्रीकृष्णकी सेवा करता है—

मने निज सिद्ध देहे करिया भावन।
रात्रि दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥[२]

सम्भव हो तो वह साधक-देहसे रहता भी है दृश्यमान व्रजधान में।

---

१. रागवर्त्म चन्द्रिका, ११

२. चै. च. २।२२।९०

साधकका अन्तश्चिन्तित सिद्ध-देह

सिद्धदेहके सम्बन्धमें शंका हो सकती है कि वह काल्पनिक है, काल्पनिक देह चिन्मयत्व लाभकर कृष्ण-सेवाके योग्य कैसे बन सकता है? माना कि उसकी प्रथम स्फूर्ति होती है गुरुदेवके विशुद्ध, शुद्धसत्वात्मक चित्तमें भगवान्‌की कृपासे, और जिस स्वरूपकी गुरुदेवके चित्तमें इस प्रकार स्फूर्ति होती है वह काल्पनिक नहीं हो सकता। पर गुरुदेव शिष्यको सीधे इस अप्राकृत स्वरूपकी अनुभूति तो नहीं करा देते। वे उसके वर्ण, वयस और वेश-भूषादिका वर्णनकर उसके प्राकृत मनसपर उसका एक चित्र खींच देते हैं। प्राकृत मनपर खींचा हुआ चित्र प्राकृत और काल्पनिक ही हो सकता है। वह सत्य कैसे हो सकता है?

इस सम्बन्धमें दो बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है। एक तो यह कि कोई व्यक्ति यदि प्राकृत मनसे भी किसी वस्तुका निरन्तर चिन्तन करे तो उसका स्वरूप प्राप्तकर लेता है। श्रीमद्भागवतका कहना है—"स्नेह, द्वेष या भयके वशीभूत हो यदि कोई व्यक्ति चिन्ता द्वारा मनको किसी वस्तुमें सम्यक्‌रूपसे नियुक्त करे, तो वह उस वस्तुकी स्वरूपताको प्राप्त होता है। एक कीड़ेको भृङ्गी पकड़कर अपने छिद्रमें लेजाता है। भयके कारण वह क्रीड़ा भृङ्गीका ध्यान करते-करते बिना शरीर त्याग किये ही भृङ्गीका स्वरूप प्राप्त कर लेता है।"[1] फिर देह त्यागनेके पश्चात् देह त्यागते समय अपनी भावनाके अनुसार नया देह प्राप्त करनेकी बात और हरिण-शिशुकी चिन्ता करते-करते भरत द्वारा हरिण-शरीर प्राप्त करनेकी बात तो शास्त्रों में है ही।

दूसरी बात यह कि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, भक्तिके सभी अंग स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति हैं; उनका अनुष्ठान करते समय साधकका चित्त और सम्बन्धित इन्द्रियाँ स्वरूप-शक्तिसे तादात्म्य प्राप्त करनेके कारण चिन्मय हो जाते हैं। अन्तश्चिन्तित सिद्ध-देहकी चिन्ता भी भक्तिका अंग है। इसकी चिन्तामें भी चित्त स्वरूप-शक्तिसे तादात्म्य प्राप्त करता है। चिन्ता करते-करते स्वरूप-शक्तिके प्रभावसे जैसे-जैसे चित्तकी विशुद्धता बढ़ती जाती है, स्वरूप-शक्तिसे तादातमय बढ़ता जाता है। सम्पूर्ण रूपसे तादात्म्य प्राप्त

---

१. भा. ११।९।२२-२३

करनेपर प्रेमका उदय होता है और देह और इन्द्रियोंका प्राकृत या गुणमय अंश पूर्ण रूपसे नष्ट होजाता है। देह और इन्द्रियाँ पूर्ण रूपसे अप्राकृत या चिन्मय होजाती है।[1] स्वरूप-शक्तिसे तादात्म्य-प्राप्त चित्तकी चिन्ता काल्पनिक या प्राकृत नहीं हो सकती। अप्राकृत सिद्ध-देहकी अप्राकृत चित्त द्वारा की गयी अप्राकृत चिन्ताके फलस्वरूप जिस देहकी प्राप्ति होती है वह भी प्राकृत नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त स्वरूप-शक्तिसे चित्तके पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लेनेपर प्रेमकी प्राप्तिके साथ ही साधकको श्रीकृष्णके परिकर सहित दर्शन होते हैं। श्रीकृष्ण दर्शन देकर उसके अन्तश्चिन्तित देहको चिन्मयकर देते हैं। उस चिन्मय देहका आश्रय लेकर साधक अपने पाञ्चभौतिक देहको त्याग देता है। चित्तका स्वरूप शक्तिसे पूर्ण तादात्म्य प्राप्त करना, प्रेमका लाभ होना और श्रीकृष्णके सपरिकर दर्शन होना समानान्तर घटनायें हैं, जो एकसाथ घटती हैं। अन्तश्चिन्तित देहका पूणरूपसे चिन्मयत्व प्राप्तकर लेना इनमेंसे किसीका भी परिणाम कहा जा सकता है।

चिन्मय देह प्राप्त करनेपर साधकका एक नया, दिव्य जीवन प्रारम्भ होता है। योगमाया इस चिन्मय देहको श्रीकृष्णके प्रकट-लीला-स्थलपर गोपी-गर्भसे आविर्भावित करा नित्य-लीलामें प्रविष्ट करती हैं। उसी समय वे एक दूसरे चिन्मय स्वरूपसे नवद्वीप-लीला-स्थान[2] में किसी ब्राह्मण[3] के घर जन्माकर उसे नित्य नवद्वीप-लीलामें भी प्रवेश कराती हैं।

प्रीति-सन्दभमें उल्लेख है कि भगवद्धाममें भगवान्‌की ज्योतिके अंश-स्वरूप अनन्त चिन्मय मूर्तियाँ हैं,जिनमें प्रत्येक साधकका सिद्ध-देह एक है।[4] सिद्धि लाभ करनेपर उसका लिंग-शरीर छूट जाता है और भगवान् उस सिद्ध-देहमें उसे प्रयुज्य करते हैं।[5]

व्रज-लीला और नवद्वीप-लीला

गौड़ीय-वैष्णवोंके लिये श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी व्रज-लीला और श्रीगौरांग-महाप्रभुकी नवद्वीप-लीला दोनों ही समान रूपसे भजनीय हैं, क्योंकि

---

१. वृ. भा. १।३।४५

२. प्रकट वृन्दावन-लीला और नवद्वीप-लीला दोनों ही नित्य हैं क्योंकि यह किसी न किसी ब्रह्माण्डमें हर समय होती रहती हैं।

३. कुछ लोगोंके मतसे नवद्वीपमें जन्म किसी और कुलमें भी होसकता है।

४. प्री. स. अनु. १०

५. वही, अनु. ११

श्रीगौरांग महाप्रभु और श्रीव्रजेन्द्रनन्दनमें स्वरूपगत पार्थक्य कुछ नहीं है। श्रीगौरांग महाप्रभु हैं राधा-कृष्ण-मिलित-विग्रह, राधा-भावद्युति-सुबलित श्रीकृष्ण और नवद्वीप-लीला है व्रज-लीलाकी चरम परिणति। दोनों लीलाएँ एक ही सूत्रमें ग्रथित हैं, दोनों एक ही लोला-स्रोतके दो अंश हैं। फिर भी नवद्वीप-लीलाकी माधुर्य-वैचित्री और उन्मादना व्रज-लीलाकी माधुर्य-वैचित्री और उन्मादनासे अधिक है। अधिक इसलिये कि नवद्वीप-लीलाके नायक श्रीगौरांग महाप्रभुका स्वरूप ही श्रीकृष्णके स्वरूपसे कई दृष्टियोंसे अधिक परिपुष्ट और लोभनीय है। व्रजमें श्रीकृष्णने अपने परिकरोंके प्रेमरस-निर्यासका आस्वादन किया, पर अपने असमोर्ध्वमाधुर्य-रसका आस्वादन वे नहीं कर पाये। इस रसका आस्वादन श्रीमती राधारानीके मादनाख्य महाभावके बिना संभव नहीं है। इसलिये नवद्वीपमें वे श्रीमती राधारानीका मादनाख्य महाभाव लेकर प्रकट हुए। मादनाख्य महाभाव स्वयं राधारानी ही हैं और श्रीगौरांग महाप्रभु हैं श्रीकृष्ण और राधाके मिलित तनु—"अन्त: कृष्ण बहिर्गौर", राधारानीकी हेम-गौर-कान्तिसे आच्छादित नवजलधर-श्यामकान्तिधारी श्रीव्रजेन्द्रनन्दन। श्रीगौरांगरूपमें रसराज श्रीकृष्णने राधाका मादनाख्य महाभाव लेकर रसास्वादनके उस अंशको पूर्ण किया, जो व्रज-लीलामें अपूर्ण रह गया था।

उनकी करुणाका भी पूर्ण विकास गौरांग स्वरूपमें ही हुआ। प्रकट व्रज-लीलामें उन्होंने अपने नित्य-सिद्ध परिकरोंके साथ लीलाकर विषयासक्त, मायाबद्ध जोवोंको दिखलाया कि उनकी सेवामें कैसा अनिर्वचनीय आनन्द है, पर इस अनिर्वचनीय सेवा-सुखको प्राप्त करनेका मार्ग प्रदर्शित नहीं किया। नवद्वीप-लीलामें उन्होंने भक्त-भाव अंगीकार कर स्वयं भक्तिके अंगोंका अनुष्ठान किया और अपने नित्य-सिद्ध परिकरोंसे कराया। इस प्रकार व्रज-लीला-रसास्वादनका उपाय-स्वरूप भक्ति-साधनका आदर्श स्थापित किया।

गौरांग स्वरूपकी एक और विशेषता यह है कि इसमें राधा और कृष्णका पूर्ण मिलन है। व्रज-लीलाके घनिष्टतम मिलनमें भी उनकी स्वतन्त्रता बनी रहती है। पर नवद्वीप-लीलामें गौरांग स्वरूपमें दोनों मिल कर एक होजाते हैं—

"रसराज महाभाव दुई एक रूप"।

(चै. च. १।४।५०)

दोनोंके मिलकर एक होजानेपर रस और माधुर्यका जो उच्छलन होता है, वह असीम, अपूर्व और अवर्णनीय है। इसलिये श्रीकृष्णदास कविराजने गौरांग-लीलाको एक अक्षय सरोवर कहा है, जिसमें से कृष्ण-लीलाकी शत-शत धारायें प्रवाहित होती हैं—

कृष्ण-लीलामृत सार, तार शत-शत धार
दश दिके बहे जाहा हैते।
से गौरांग-लीला हय, सरोवर अक्षय,
मनो हंस चराह ताहाते॥
(चै. च. २।२५।२२३)

• • •

भक्तिके सोपान

श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें प्रेमा-भक्तिके विकास-क्रमका वर्णन इस प्रकार किया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजन क्रिया।
ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥[1]

—पहले श्रद्धा, उसके पश्चात् साधुसंग, उसके पश्चात् भजन-क्रिया, उसके पश्चात् अनर्थ-निवृत्ति, उसके पश्चात् निष्ठा, उसके पश्चात् रुचि, उसके पश्चात् आसक्ति, उसके पश्चात् भाव या रति और उसके पश्चात् प्रेम का उदय होता है। यही है साधकोंके चित्तमें प्रेमाविर्भावका क्रम।

श्रीचैतन्य-चरितामृतमें भी ठीक इसीके अनुरूप प्रेमके विकास-क्रमका वर्णन श्रीमन्महाप्रभुने सनातन गोस्वामीके प्रति किया है।[2] श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने इस क्रमकी विशद व्याख्या 'माधुर्य-कादम्बिनी' में की है। हम उसीका यहाँ संक्षेपमें उल्लेख करेंगे।

भक्तिका कारण : "भक्त्या सञ्जातया भक्त्या"

सबसे पहले विश्वनाथ चक्रवर्तीपादने इस बात पर बल दिया है कि भक्तिके हृदयमें जाग्रत होनेका कोई हेतु नहीं है। वह अहैतुकी, परम स्वतंत्रा और स्वेच्छामयी है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें 'मद भक्ति च यदृच्छया',[3]

---

१. भ. र. सि. १।४।११

२. चै. च. २।२३।५-६

३. भा. ११।२०।११

'यदृच्छया मत्कथादौ',[1] 'यदृच्छ यैवोपचिता' आदि शब्दोंमें अनेक स्थानोंपर व्यक्त किया गया है। किसी प्रकारका विधि-निषेध उसका साधक या बाधक नहीं है। न तो कर्म, ज्ञान, योग, दान, व्रत, तपस्या, वेदाध्ययन, सन्यास आदि इसके साधक हैं, न काम, क्रोध, मद, लोभादि इसके बाधक हैं। कर्म-योग-ज्ञानादि अन्तःकरणकी शुद्धिकी अपेक्षा रखते हैं, पर भक्ति उसकी भी अपेक्षा नहीं रखती। दुराचारी व्यक्ति भी भक्तिका अधिकारी है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

"अपिचेत् सुदराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥[2]

—जो व्यक्ति मेरा अनन्य भक्त है, मुझे छोड़ और किसीका भजन नहीं करता, जो इस प्रकारकी निश्चित बुद्धिवाला है, वह यदि सुदुराचारी हो, तो भी उसे साधु या भक्त ही मानना, ऐसी मेरी आज्ञा है।" भगवान्‌ने यह भी कहा है कि अनन्य भक्त दुराचारी हो तो भी भक्तिके प्रभावसे शीघ्र धर्मात्मा होजाता है।[3] तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणकी शुद्धि कर्म-ज्ञानादि का कारण होसकती है, पर भक्तिका नहीं। भक्ति स्वयं ही अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण है। श्रीमद्भागवतके निम्न श्लोकसे यह स्पष्ट है—

विक्रीडितं व्रजबधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृदरोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥[4]

—जो लोग श्रद्धापूर्वक ब्रज-बधुओंके साथ श्रीकृष्णकी रासादि लीलाओंकी कथा निरन्तर सुनते हैं, या श्रवण करके उनका वर्णन करते हैं, वे भगवान्‌में पराभक्ति लाभकर हृदरोग कामादिको परित्याग करते हैं और धीर होजाते हैं।

---

१. भा. ११।२०।८
२. गीता ९।३०
३. गीता ९।३१
४. भा. १०।३३।४०

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि हृदरोग या अन्तःकरणके अशुद्ध रहते हुए भी हृदयमें भक्तिका प्रादुर्भाव होता है और भक्ति हृदयमें उदय होकर स्वयं उसे शुद्ध कर लेती है।

एक आपत्ति होसकती है। हृदरोग या अन्तःकरणकी अशुद्धता है मायाका कार्य। शास्त्रोंमें कहा गया है कि माया जब तक पूर्णरूपसे तिरोहित नहीं होजाती भक्तिका उदय नहीं होता।[1] तब हृदरोगके रहते हृदयमें भक्ति का उदय कैसे होसकता है? इसका उत्तर यह है। मायाके तीन गुण हैं—सत्व, रजः और तमः। जब रजः और तमः की प्रधानता रहती है, तब माया को कहते हैं अविद्या; जब रजः और तमः की निवृत्ति होजाती है और केवल सत्व ही रह जाता है, तब माया को कहते हैं विद्या। सत्व गुण स्वच्छ है। इसमें दूसरी वस्तुओंको प्रकाश करनेका गुण है। यह शान्तत्व और ज्ञानका कारण है। इसलिये जब हृदयमें केवल सत्व रह जाता है, तब साधक धर्म और ज्ञानादिसे संयुक्त होता है। तब चित्तके स्वच्छ होनेके कारण उसमें शुद्ध-सत्व प्रतिफलित होता है, पर चित्तको स्पर्श नहीं करता। चित्तमें प्रतिफलित सत्व अपनी अचिंत्य-शक्तिसे सत्वगुण या विद्याको भी दूरीभूत करता है। तब चित्त पूर्णरूपसे मायासे निर्मुक्त होकर शुद्ध-सत्वको स्पर्श करता है, अर्थात् उसमें शुद्ध-सत्व या भक्तिका आविर्भाव होता है। इसीलिये सत्वमयी विद्याको श्रीजीव गोस्वामीने शुद्ध-सत्वके आविर्भावका द्वारस्वरूप कहा है।[1] शुद्ध-सत्वके आविर्भावके फलस्वरूप, चित्त शुद्ध-सत्वसे तादात्म्य प्राप्त कर शुद्ध-सत्वको रतिरूपमें धारण करता है।

कुछ लोगोंका मत है कि ज्ञान और कर्म भक्तिके प्रवर्तक हैं। यदि ज्ञानका अर्थ है जीव और ब्रह्मके अभेद ज्ञानसे, तो इस प्रकारके ज्ञानसे भक्ति के उदय होनेका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह भक्तिका विरोधी है। यदि इसका अर्थ है भगवान् और जीवके स्वरूप और उनके सम्बन्ध-ज्ञानसे, तो उस प्रकारका ज्ञान भक्तिका ही अंग है। इसी प्रकार यदि कर्मका अर्थ यज्ञ-तपादिसे है, तो हम पहले ही कह चुके हैं कि इस प्रकारके कर्मोंका भक्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं। श्रीमद्भागवतमें भक्तिके उदय होनेमें इनके कारणत्वका स्पष्ट खण्डन है। यदि कर्मका अर्थ श्रवण-कीर्तनादिसे है, तो वे भी भक्तिके

---

१. भा. ११।१५।२२

२. भा. १।३।३४ श्लोककी क्रमसन्दर्भ-टीका।

ही अंग हैं। ज्ञान और कर्मके सभी प्रकार, जिनका उद्देश्य भगवत्-प्रेमकी प्राप्तिसे है, भक्तिके ही अंग हैं। इसलिये इस प्रकारके ज्ञान और कर्मको भक्तिका कारण नहीं कहा जा सकता।

भक्तिके एक कारणका शास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख है। वह है भक्त-कृपा। भक्ति भगवान्की स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति होनेके कारण भगवान्के अधीन है और भगवान् भक्तके अधीन हैं। इसलिये भक्त जिसपर कृपा करें उसे भक्ति देसकते हैं। परन्तु भगवान् भक्तोंके अधीन हैं उनकी भक्तिके कारण। इसलिये भक्तोंद्वारा दान कीगई भक्तिका अन्तिम कारण उनके हृदयमें स्थित भक्ति ही है। उनकी भक्ति ही उन्हें भक्तिका दान देनेकी सामर्थ्य देती है और प्रेरणा भी। इससे सिद्ध है कि भक्तिका कारण भक्ति ही है, अन्य कुछ नहीं—"भक्त्या सञ्जातया भक्त्या"।[1] भक्ति ही साधन है, भक्ति ही साध्य है। श्रवण-कीर्तनादि साधन-भक्तिके अंगोंका अनुष्ठान करते-करते भाव-भक्ति या रतिका उदय होता है और रतिसे प्रेमका उदय होता है—

साधन - भक्ति हैते हय रतिर उदय।
रति गाढ़ हइले तार प्रेम नाम कय॥[2]

इस प्रकार भक्तिकी पहलेकी अवस्था ही बादकी अवस्थाका कारण होती है। यहाँ एक विशेष बात उल्लेखनीय यह है कि भक्ति अपनी पूर्वावस्थाओंका त्याग किये बिना ही उत्तरोत्तर अवस्थाओंको प्राप्त होती है। श्रवण-कीर्तनादि साधन-भक्तिके अंग जैसे साधन-भक्तिमें होते हैं, वैसे ही भाव-भक्तिमें और प्रेम-भक्तिमें होते हैं।

भली प्रकार यह प्रतिपादित करनेके पश्चात् कि भक्तिकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है, भक्ति स्वयं ही अपना कारण है, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने श्रद्धादि भक्तिके विभिन्न स्तरोंका उल्लेख किया है, जिनका हम वर्णन करने जा रहे हैं।

श्रद्धा

भक्तिके विकास-क्रममें पहला सोपान श्रद्धाका है। श्रद्धाका अर्थ है शास्त्र और शास्त्रोंमें वर्णित अनुष्ठानोंमें दृढ़-विश्वास। मायाबद्ध जीवको

---

१. भा. ११।३।३१

२. चै. च. २।१।१५१

मायासे मुक्ति पानेका उपाय शास्त्र या शस्त्रज्ञ व्यक्तियोंके अतिरिक्त और कौन बता सकता है ? भगवद्-विषयक ज्ञान भी उसे और कहाँसे प्राप्त हो सकता है ?[1] इसलिये शास्त्र-वाक्योंमें विश्वासरूप श्रद्धाको ही भक्तिका मूल कहा गया है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—"श्रद्धावान व्यक्तिको ज्ञान लाभ होता है—श्रद्धावान लभते ज्ञानं",[2] और "जो श्रद्धावान नहीं, संशययुक्त हैं, उनका विनाश होता है—संशयात्मा विनश्यति।"[3]

श्रद्धा दो प्रकारकी होती है—सगुणा और निर्गुणा। सगुणा श्रद्धा वह है जो सत्वगुण, रजोगुण या तमोगुण-प्रधान अन्तःकरणसे उत्थित होती है। निर्गुणा श्रद्धा वह है जो निर्गुण सत्संगसे उत्पन्न होकर निर्गुण भगवान् की ओर छूटती है और क्षणभरके लिये भी स्वर्गादिके सुख और मोक्षकी कामनासे विचलित नहीं होती। श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—"अध्यात्मतत्व-विषयक श्रद्धा सात्विकी है, कर्मानुष्ठान-विषयक श्रद्धा राजसी है, अधर्म-विषयक श्रद्धा तामसी है, और मेरी सेवा-विषयक श्रद्धा निर्गुणा है—

सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्य धर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा॥[4]

श्रीचैतन्य महाप्रभुने सनातन गोस्वामीसे कहा है कि निर्गुण श्रद्धा इस सुदृढ़ विश्वासका नाम है कि कृष्ण-भक्ति करनेसे सभी कर्मकृत होते हैं,[5] उसी प्रकार, जिस प्रकार जड़को सींचनेसे वृक्षकी शाखाएँ-उपशाखाएँ सभी तृप्त होजाती हैं, या जिस प्रकार प्राणोंकी रक्षा करनेसे सभी इन्द्रियोंकी रक्षा होजाती है।[6] निर्गुणा श्रद्धावाला व्यक्ति ही भक्ति-साधन का सच्चा अधिकारी है।

भक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रद्धाकी गाढ़ताके तारतम्य के अनुसार तीन प्रकारके भक्ति-साधनके अधिकारियोंका वर्णन किया गया है—उत्तम,

---

१. भा. ११।२२।१०
२. गीता ४।३९
३. वही ४।१०
४. भा. ११।२५।२७
५. चै. च. २।२२।३७
६. भा. ४।३१।१४

जिनकी श्रद्धा दृढ़ है और जो शास्त्र-युक्ति प्रदर्शन करनेमें निपुण हैं,[1] मध्यम, जिनकी श्रद्धा दृढ़ है पर जिन्हें शास्त्र-ज्ञान नहीं है,[2] और कनिष्ठ, जिनकी श्रद्धा कोमल है और जिन्हें शास्त्र-ज्ञान भी नहीं है।[3]

श्रद्धा या शास्त्र-वाक्योंमें विश्वास अपने-आप नहीं होजाता। जीव की स्वाभाविक गति विषयमुखी है। उसे शास्त्रमुखी करनेके लिये किसी प्रबल शक्तिकी आवश्यकता होती है, वैसे ही है जैसे पटरीपर चलती हुई रेलगाड़ी एक ही दिशामें चलती चली जाती है, पर उसे दूसरी दिशामें मोड़नेके लिये उस स्टेशनतक लेजानेकी आवश्यकता होती है, जिसपर इंजन का मुख मोड़नेकी व्यवस्था होती है। जीवकी विषयाभिमुखी गतिको शास्त्राभिमुखी और भजनोन्मुखी करनेके लिये साधु-संगकी आवश्यकता होती है। केवल साधुसंग ही वह प्रबल शक्ति है, जिसके प्रभावसे बहिर्मुख जीवकी गतिको शास्त्र और शास्त्र-निर्दिष्ट साधन-पथकी ओर मोड़ा जा सकता है।

श्रीजीव गोस्वामीने शास्त्रीय और लौकिक या व्यावहारिक श्रद्धाका उल्लेख किया है। लौकिक श्रद्धा बाल्यकालमें माता-पितादि गुरुवर्गकी शिक्षा और शासनसे उत्पन्न होती है। बड़े होनेपर उसका लोप हो सकता है। शास्त्रीय श्रद्धा साधु-मुखसे तत्व-कथा सुन और साधु-कृपासे शंकाओंका समाधानकर विचारसे उत्पन्न होती है। इस प्रकारकी श्रद्धा ही है भजन-साधनका मूल।[4]

साधुसंग

हम साधुसंगका श्रद्धाके मूल कारणके रूपमें उल्लेखकर चुके हैं। यह द्वितीय साधुसंग है, जो श्रद्धाके पश्चात् होता है। इसका मुख्य अर्थ है श्रीगुरु-चरणाश्रय। शास्त्रोंमें दृढ़-विश्वास होजानेपर शास्त्रोंमें वर्णित अनुष्ठानोंका पालन करनेकी इच्छा होती है। तब शास्त्राज्ञाके अनुसार योग्य गुरुकी खोज कर साधक उसके चरणोंका आश्रय ग्रहण करता है।[5] भक्तिके विकासमें

---

१. भ. र सि. १।२।११

२. वही १।२।१२

३. वही १।२।१३

४. भ. र. सिं. २०२

५. माधुर्य कादम्बिनी २।५

गुरु-चरणाश्रयका विशेष महत्व है। इसलिये हम इसपर आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

भजन-क्रिया

साधुसंगके पश्चात् भजन-क्रिया प्रारम्भ होती है। साधक श्रवण-कीर्तनादि भक्तिके अनुष्ठानोंका पालन करने लगता है। भजन-क्रियाके दो प्रकार हैं—निष्ठता और अनिष्ठता। निष्ठतामें भजन निर्विघ्न रूपसे बराबर चलता रहता है। अनिष्ठतामें तरह-तरहके विघ्न आते रहते हैं। अनिष्ठता की छः अवस्थाएं हैं—

(१) **उत्साहमयी**—जिसमें साधक प्रारम्भिक अवस्थामें इस भावसे प्रेरित होकर भक्तिमें उत्साहित होता है कि लोग मुझे भक्त मानकर मेरी प्रशंसा करने लगे हैं।[1]

(२) **धनतरला**—जिसमें साधककी भजन-क्रियामें कभी गाढ़ता होती है, कभी शिथिलता।[2]

(३) **व्यूढ़ विकल्पा**—जिसमें साधकके हृदयमें तरह-तरहके विकल्प उठते हैं—मैं घर त्यागकर भजन करूँ या घरमें रहकर ? भजन अभी करूँ या वृद्धावस्थामें गृहस्थकी सब जिम्मेदारियोंसे मुक्त होकर ?—इत्यादि।[3]

(४) **विषयसंगरा**—जिसमें विषयोंके साथ साधकका संग्राम चलता रहता है। कभी उसकी जय होती है, कभी पराजय। तदनुसार उसकी भजनमें आसक्ति कभी तीव्र होजाती है, कभी शिथिल पड़ जाती है।[4]

(५) **नियमाक्षमा**—जिसमें साधक भजन सम्बन्धी नियमोंकी रक्षा करनेमें अक्षम होता है। बार-बार नियमोंकी प्रतिज्ञा करनेपर भी वह उन्हें नहीं निभा पाता।[5]

(६) **तरंग-रङ्गिणी**—जिसमें भक्तिसे उत्पन्न लाभ-मान-पूजा-प्रतिष्ठा की तरंगें उठकर साधकके भक्ति-सागरको उद्वेलित करती हैं और उसके

---

१. माधुर्य-कादम्बिनी २।६

२. वही २।७

३. वही २।८

४. वही २।९

५. वही २।१०

उनमें बह जानेका भय उत्पन्न करती हैं।[1]

अनर्थ-निवृत्ति

भजन-क्रिया भली प्रकार सम्पादित होनेसे अनर्थ-निवृत्ति होती है। श्रीकृष्ण-सेवाकी कामनाको छोड़ और जितनी भी कामनाएँ हैं सब अनर्थ हैं। अनर्थ चार प्रकारके कहे गये हैं—

१. **दुष्कृतोत्थ-अनर्थ**—अर्थात् अविद्या, अस्मिता ('मैं' और 'मेरा' का अभिमान, अर्थात् मोह) राग, द्वेष और अभिनिवेश (अनुकूल विषयों और उनके आधारस्वरूप शरीरमें आसक्ति और मृत्युसे भय) यह पाँच प्रकारके क्लेश।

२. **सुकृतोत्थ-अनर्थ**—अर्थात् विविध प्रकारके भोगोंमें अभिनिवेश, स्वर्गादिके सुख और मुक्तिकी कामना।

३. **अपराधोत्थ-अनर्थ**—अर्थात् नामापराधके कारण उत्पन्न अनर्थ।

४. **भक्त्युत्थ-अनर्थ**—भक्तिके बहाने मान-प्रतिष्ठा-पूजा-धनादि प्राप्त करनेकी आशा।[2]

जबतक थोड़ी मात्रामें भी अनर्थ रहते हैं भगवत्-प्राप्तिकी आशा नहीं की जा सकती। भजन-क्रिया आरम्भ होनेपर अनर्थोंकी निवृत्ति होने लगती है। पर उनकी निवृत्ति एकदम नहीं हो जाती। जैसे-जैसे भजनमें उन्नति होती है,अनर्थ-निवृत्तिका परिमाण भी वैसे-वैसे बढ़ता जाता है। अपराधोत्थ अनर्थोंकी निवृत्ति भजन-क्रियाके प्राथमिक स्तरपर एकदेशवर्त्तिनी, अर्थात् अल्पमात्रामें होती है, निष्ठा उत्पन्न होनेपर बहुदेशवर्तिनी, अर्थात् बड़ी मात्रा में होती है, रति या भाव उत्पन्न होनेपर प्रायकी अर्थात् लगभग पूर्णमात्रामें होती है और प्रेमकी प्राप्ति होनेपर पूर्णा, अर्थात् शत-प्रतिशत होती है। प्रेमा-भक्तिके पश्चात्, जब साधकको भगवान्‌के पादपद्मकी प्राप्ति होती है, तब आत्यन्तिकी अनर्थ निवृत्ति होती है। पूर्णा और आत्यन्तिकी अनर्थ-निवृत्तिमें भेद यह है कि पूर्णामें अनर्थोंके फिर उदय होनेकी सम्भावना नहीं रहती। प्रश्न हो सकता है कि चित्र-केतु और जय-विजय तो भगवत्-पार्षद

---

१. वही २।११

२. वही ३।१

ही थे, उनसे अपराध कैसे हुआ ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि उनका अपराध वास्तविक नहीं प्रातीतिक था। यदि ऐसा न होता, तो शाप-ग्रस्त अवस्थामें भी उनमें प्रेम विद्यमान न रहता। उनका अपराध भगवत्-इच्छासे या, उनकी अपनी इच्छासे भगवत्-लीला-सम्पादन हेतु ही हुआ था।[1]

अपराधोर्थ अनर्थकी भाँति अन्य अनर्थोंकी निवृत्ति भी बहुत कुछ इसी प्रकार क्रमशः होती है।

निष्ठा

जब तक हृदयमें किसी प्रकारका अनर्थ विद्यमान रहता है, वह भक्ति में नैश्चल्य नहीं होने देता। लय, विक्षेप, अप्रतिपत्ति, कषाय और रसास्वाद, यह पाँच प्रकारके अन्तराय भक्ति-लताके स्वच्छन्द रूपसे पनपनेमें बाधक बने रहते हैं। 'लय' का अर्थ है श्रवण-कीर्तनादिमें नींदका आना; 'विक्षेप' का अर्थ है श्रवण-कीर्तनादि भक्ति-अनुष्ठानोंके समय व्यावहारिक विषयोंकी आलोचना करना या उनका स्मृतिमें जागना; 'अप्रतिपत्ति' का अर्थ है लय और विक्षेपके अभावमें भी उन अनुष्ठानोंका ठीकसे न हो सकना; 'कषाय' का अर्थ है भजनके समय क्रोध, लोभ, गर्वादिके संस्कारोंका बना रहना; 'रसास्वाद' का अर्थ है विषय सुखादिके कारण भजनमें अनभिनिवेश, अर्थात् मनका न लगना। अनर्थ-निवृत्ति होनेपर यह अन्तराय नहीं रहते। श्रवण-कीर्तनादिमें शैथिल्यका भी तब कोई कारण नहीं रहता। रजः और तमोगुण से उत्पन्न काम-क्रोधादि चित्तको अभिभूत नहीं करते और भक्तिमें दृढ़ता और नैश्चल्यकी उत्पत्ति होती है। इसे निष्ठा या नैष्ठिकी-भक्ति कहते हैं।[2]

निष्ठा दो प्रकार की है—साक्षात् भक्तिवर्त्तिनी और तदनुकूलवस्तु-वर्त्तिनी। नवविधा-भक्तिके किसी अंगमें या सब अंगोंमें निष्ठा साक्षात् भक्तिवर्त्तिनी है। भक्तिके अनुकूल गुणोंमें निष्ठा (जैसे स्वयं मानरहित होकर दूसरोंको मान देना, सब जीवोंके प्रति दया भाव रखना आदि) तदनुकूलवस्तुवर्त्तिनी है। भक्तिके अनुकूल गुणोंके लिये साधकको पृथक्रूपसे चेष्टा नहीं करनी पड़ती। उनका भक्तिदेवीके पदार्पणके साथ अपने आपही हृदयमें संचार होता है। कुछ स्वभावसे उद्धत भक्त ऐसे भी होते हैं, जिनमें

---

१. वही ३।४

२. वही ४।२

साक्षात्-भक्तिमें निष्ठा होते हुए भी तदनुकूल गुणोंका अभाव दीखता है। कुछ लोगोंमें इस प्रकारके गुण होते हुए भी साक्षात् भक्तिका अभाव होता है। इसलिये इन गुणोंको भक्तिकी कसौटी मान लेना भूल है। भक्ति स्वयं ही भक्तिकी कसौटी है। श्रवण-कीर्तनादि भक्ति-अंगोंमें प्रबल उत्कण्ठा ही भक्तिमें निष्ठाका और उनमें शिथिलता ही अनिष्ठाका लक्षण है।

रुचि

भक्तिके निरन्तर अभ्याससे निष्ठाके बाद रुचि उत्पन्न होती है। रुचि उत्पन्न होनेपर श्रवण-कीर्तनादि भक्तिके अंगोंका बार-बार अनुशीलन करने से भी अरुचि या श्रम नहीं होता। उनका जितना अधिक अनुशीलन होता है, उतनी ही रुचि और बढ़ती है।[1]

रुचि दो प्रकारकी है—वस्तुवैशिष्ट्यापेक्षणी और वस्तुवैशिष्ट्यानपेक्षणी। पहली प्रकारकी रुचि श्रवण-कीर्तनादि भक्तिके अंगोंमें भगवान्‌के नाम-रूप-गुणादिके अतिरिक्त उन अंगोंमें कुछ विशेषताओंकी अपेक्षा रखती है, जैसे कीर्तनमें सुन्दर स्वर की, अर्चनमें बहुमूल्य द्रव्यादि की। दूसरी प्रकारकी रुचि उन विशेषताओंकी अपेक्षा नहीं रखती। खानेके पहले यह पूछना कि क्या-क्या बना है भूखकी कमी और पेटके रोगका लक्षण है। उसी प्रकार वैशिष्ट्य-रहित भगवान्‌के नाम-रूप-गुणादिमें रुचि न होना रुचिकी कमी और अन्तःकरणके दोषके कारण है।

रुचिकी अवस्थामें भक्त अन्य विषयों और अन्य वार्ताओंका परित्याग कर निरन्तर भगवान्‌के नाम-रूप-गुण-लीलादिके श्रवण-कीर्तन और चिन्तन में लवलीन रहता है, भगवद्धाममें प्रवेशकर साधु-सेवा और भगवत्-सेवामें समय व्यतीत करता हुआ अननुभूतपूर्व आनन्दका अनुभव करता है, पर साधारण लोगोंको वह अनमना और उन्मना जैसा दीखता है।

आसक्ति

रुचि प्रगाढ़ होनेपर आसक्तिका रूप धारण करती है। आसक्तिकी अवस्थामें चित्त भजनमें उतना आसक्त नहीं रहता, जितना भजनीय विषय श्रीभगवान्‌में आसक्त होता है। रुचिका प्रधान विषय भजन है, आसक्तिका

---

१. वही ५।१

प्रधान विषय भगवान् हैं। आसक्तिमें चित्त ऐसा निर्मल होजाता है कि उसमें प्रतिबिम्बित होने वाले भगवान् सहसा दीखते हुए से जान पड़ते है [1]

निष्ठाकी अवस्थामें मनको विषयोंसे खींचकर भगवान्के नाम-रूप-गुण-लीलाके चिन्तनमें लगानेकी चेष्टा करनी पड़ती है। पर आसक्तिकी अवस्थामें मन अपने-आप भगवान्में लगा रहता है। निष्ठाकी अवस्थामें भगवान्का चिन्तन करते-करते मन कब फिसलकर विषयोंका चिन्तन करने लग जाता है, उसका साधकको पता भी नहीं चलता। उसी प्रकार आसक्तिकी अवस्थामें मन कब विषयोंसे निकलकर भगवत्-चिन्तन करने लग जाता है, उसका साधकको पता नहीं चलता।

आसक्तिकी अवस्थामें भगवान् भक्तके मन और बुद्धिपर ऐसा छाये रहते हैं कि उसका हाव-भाव, बोल-चाल, आहार-विहारादि सब कुछ असंलग्न और असंयत जैसा प्रतीत होता है, यदि उसे भगवत्-प्रेम और भगवान्के चरणारविन्द प्राप्त करनेकी तीव्र उत्कण्ठाके सन्दर्भमें न देखा जाय। उसे देख उसके बन्धु-बान्धव कहते हैं—'इसकी बुद्धि ठीक नहीं है', मीमांसकगण कहते हैं—'यह मूर्ख है', वेदान्ती कहते हैं—'यह भ्रान्त है', कर्मीगण कहते हैं—'यह भ्रष्ट है', पर भक्तगण कहते हैं—'इसने महासार-वस्तुको पा लिया है।'[2]

भाव

आसक्ति गाढ़तम अवस्थाको प्राप्त होकर भावमें परिणत होती है। भाव या रति सत्, चित् और आनन्द, इन तीन स्वरूप-शक्तियोंकी मुकुलित अवस्था है। यह भक्ति-कल्प-लताका उत्फुल्ल पुष्प है, जिसकी सुगन्धसे आकर्षित हो श्रीमधुसूदन उसके चारों ओर मंडराने लगते हैं। जातरति-भक्त उनके अंगोंकी श्यामलता, अधरों और नेत्रोंकी अरुणिमा, मुखचन्द्रकी मृदुमुस्कानकी शुभ्रता, और भूषणादिकी पीतमाका दर्शनकर रुद्धकण्ठ हो अजस्र अश्रुधारसे अपने कलेवरको अभिसिञ्चित करने लगता है। वह उनकी मुरलीकी ध्वनि, नूपरोंका शिञ्जन और कण्ठका मधुर स्वर सुननेके लिये क्षण-क्षण पर उत्कर्ण रहता है। कभी वह उनके कर-कमलोंका स्पर्श

---

१. वही ६।१

२. वही ६।२

कैसा है सोचते-सोचते मानो उसका अनुभवकर रोमाञ्चित हो उठता है; कभी उनके अंगकी गन्ध पाकर प्रफुल्ल नासिकाद्वारा क्षण-क्षणपर श्वास लेकर पुलकित होता है; कभी यह सोचते हुए कि क्या उनकी अधर-सुधाका आस्वादन करनेका मेरा सौभाग्य होगा, मानो उसका आस्वादन करने लगता है और अपनी रसनाको चरितार्थ समझकर अपने ओष्ठोंको चाटने लगता है; कभी स्फूर्तिमें मानो उन्हें साक्षात् पाकर आनन्दित होता है; कभी उन्हें खोकर दु:खी होता है। साधारण लोग उसकी इस प्रकारकी चेष्टाको देख उसे पागल समझ लेते हैं। पर वह जैसे अपने साधक-शरीरको त्यागकर सिद्ध-देहसे श्रीकृष्ण-चरणारविन्द-मकरन्दका मधुप बना रहता है।[1]

श्रीरूपगोस्वामीने जात-रति भक्तके लक्षण बताये हैं—क्षान्ति (क्षोभ शून्यता), अव्यर्थकालत्व (कृष्ण-भजनके बिना व्यर्थ समय न गँवाना) विरक्ति, मानशून्यता, आशाबन्ध (भगवत्-प्राप्तिकी सदा आशा रखना), उत्कण्ठा, नाम-गानमें रुचि, भगवान्‌का गुणगान करनेमें आसक्ति और भगवद्-लीला-स्थलियोंमें रुचि।[2]

भाव उत्तरोत्तर गाढ़ता और पृथक्-पृथक् भक्तोंके आस्वादन भेदसे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर नामसे पाँच प्रकारका है। यह भाव समूह ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावको जन्म देता है और उनसे मिलकर रसरूपताको प्राप्त होता है। इसकी विस्तृत आलोचना हम आगे करेंगे।

प्रेम

प्रेम भाव-पुष्पका परिपक्व फल है। इसका रस परम आस्वादनीय, सान्द्रानन्द-विशेषात्मा है। इस फलके आते ही साधकमें आमूल परिवर्तन हो जाता है। इसकी शक्ति उसकी सारी चित्त-वृत्तियोंको, जो हजारों भागोंमें विभक्त होकर ममता रज्जूके द्वारा देह-गेहादिमें बँधी रहती हैं, चारों ओरसे समेटकर अप्राकृतत्व प्रदान करती हुई श्रीभगवान्‌के नाम-रूप-गुण-लीलादिसे बाँध देती है। यह फल उस महासूर्यके समान है, जिसके उदित होते ही निखिल पुरुषार्थरूपी नक्षत्र-मण्डली लुप्त-प्राय हो जाती है। साधकका बस

---

१. वही ७।१

२. भ. र. सि. १।३।११

एक ही लक्ष्य रह जाता है—श्रीभगवान्‌के नाम-रूप-गुण-लीलादिका आस्वादन। वह एक यशस्वी योधाकी तरह, अथवा अतिशय आवेशयुक्त, विचाररहित, महाधनके प्रति लोलुप तस्करकी तरह, बिना किसी प्रकारके विघ्नोंकी परवाह करते हुए, उस लक्ष्यकी प्राप्तिमें जुट जाता है और उसकी चिन्तामें खो जाता है। उसको उत्कण्ठा इतनी प्रबल होजाती है कि उसे उस दशामें बन्धु-बान्धवगण जलरहित अन्धे कुएंकी तरह, घर काँटोंसे घिरे जंगल की तरह, आहार प्रहारकी तरह, प्रशंसा सर्पके दंशनकी तरह, शरीर एक असहनीय बोझकी तरह और प्राण भुने हुए धानकी तरह निष्फल लगने लगते हैं; यहाँतक कि भगवत्-चिन्तन भी उसे ऐसा लगने लगता है जैसे वह उसके प्राणको छेदकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर देनेवाला शूल हो। ऐसी तीव्र उत्कण्ठाकी दशामें उसका प्रेम चुम्बकका रूप धारणकर लेता है, जो कृष्णरूप लोहेको आकर्षणकर किसी भी समय उनका दर्शन करा देता है। इसीलिये प्रेमकी अद्‌भुत शक्तिको "कृष्णाकर्षणी" कहते हैं।[1]

भगवान् भक्तको दर्शन देकर अपने सौन्दर्य, सौरभ्य, सौकमार्य, सौरस्य, सौदार्य एवं करुणा आदि गुणोंका आस्वादन कराते हैं। सर्वप्रथम वे उसे अपने सौन्दर्यका दर्शन कराते हैं। तब उसकी सारी इन्द्रियाँ जैसे नेत्रमय होजाती हैं और भक्त स्तम्भ, कम्पादि प्रेम-विकारोंको प्राप्तकर आनन्द-मूर्च्छा में बेसुध होजाता है। तब वे उसे चेतन करनेके लिये उसके निकट उपस्थित होकर उसकी घ्राणेन्द्रियमें अपने सौरभ्यरूप दूसरे माधुर्यका प्रकाश करते हैं। इस सौरभसे भक्तकी सारी इन्द्रियाँ घ्राणमय होजाती हैं और वह दूसरी आनन्द मूर्च्छाको प्राप्त होता है। तब भगवान् उसके कानोंमें यह कहकर कि—"ऐ मेरे प्यारे भक्त ! तू अधीर मत हो। मैं तो तेरा ही हूँ और सब प्रकारसे तेरे अधीन हूँ। मेरे दर्शनकर अपनी मनोकामना पूर्णकर" अपने सौस्वर्यरूप तीसरे माधुर्यको प्रकाशित करते हैं। भक्त उनकी मधुर वाणी सुनकर तीसरी आनन्दमूर्च्छामें जाने लगता है। उसी समय वे अपने कर-कमलोंसे उसे स्पर्शकर अथवा अपने हृदयसे लगाकर अपने सौकमार्यरूप चौथे माधुर्यका अनुभव कराते हैं।[2] सौकुमार्य-माधुर्यके आस्वादनसे प्राप्त

१. वही ८।१

२. वे दास्यभावके भक्तोंके सिरपर अपने चरण रखकर, सख्यभावके भक्तोंका हाथ पकड़कर, वात्सल्यभावके भक्तोंके अश्रुओंको पोछकर, तथा मधुरभाववती अपनी प्रेयसियोंको आलिंगनकर उन्हें अपना स्पर्श प्रदान करते हैं।

मूर्च्छाको दूर करनेके लिये वे अपने प्रेयसी-भावयुक्त भक्तोंको अपना अधरामृत पान कराकर कृतार्थ करते हैं। दूसरे किसी भावके भक्तोंको इस माधुर्यके पान करनेका अधिकार नहीं है। इस माधुर्यका रसनासे पानकर भक्तको जो मूर्च्छा आती है, उसमें इतनी गाढ़ता होती है कि उसे दूर करनेके लिये भगवान्‌को अपने छठे माधुर्य "औदार्य" को प्रकाशित करते हुए अपनी अचिन्त्य शक्तिसे सौन्दर्य-सौरभ्यादि समस्त गुणोंके माधुर्यको भक्तकी समस्त इन्द्रियोंमें बलपूर्वक एकसाथ वितरण करना पड़ता है। भक्तके लिये अपनी सभी इन्द्रियोंसे एक साथ इन सभी प्रकारके माधुर्यका आस्वादन करना इसलिपे सम्भव होता है कि उसकी इन्द्रियाँ भगवान्‌की ह्लादिनी शक्तिके सम्पर्कमें आनेसे अप्राकृतत्वको प्राप्तकर भगवान्‌की अपनी इन्द्रियोंके समान विभुता और सर्वज्ञता आदि गुणोंको प्राप्तकर लेती हैं। प्रेम उस अवस्था में चन्द्रमाको तरह भक्तके आनन्द समुद्रमें सैकड़ों तरंगें उत्पन्नकर उसके अन्तःकरणको आलोड़ित करने लगता है। तब उसे जो अकथनीय आनन्द होता है, उसकी तुलना उस आनन्दसे करना भी झक मारना है जो सूर्यकी किरणोंसे तपे मरुस्थलके पथिकको विशाल वट-वृक्षकी छाया मिल जानेसे मिलता है, अथवा चिरकालसे दावानलसे पीड़ित वनमें भ्रमण करनेवाले हाथीको घनघोर बादलोंकी असंख्य जल-धाराओंमें स्नान करनेसे मिलता है!

भक्त भगवान्‌के असीम सौन्दर्य और माधुर्यका प्रत्यक्ष दर्शनकर चमत्कृत होजाता है। उसे लगता है कि वह जो उनके श्रीअंगकी नवीन मेघ से, श्रीमुखकी चन्द्रमासे और चरण-कमलोंकी नव-पल्लवोंसे उपमा दिया करता था, वह ऐसा ही था जैसे स्वर्णमय सुमेरु पर्वतकी जले हुए सरसोंके आधे बीजसे या चिन्तामणिकी चनेकी कणिकासे उपमा देना।[१]

भगवान् प्रेम-जात भक्तके ऊपर अपने भक्त-वात्सल्यकी वृष्टि करने लगते हैं, जिसे देखकर वह और भी चमत्कृत होता है। वह यह सोचकर कि उसने ऐसे भक्तवत्सल भगवान्‌को अनन्तकालसे क्यों भुला रखा था अपने-आपको पहलेसे भी करोड़गुना उनके चरणोंमें अपराधी मानता है। भगवान् यह सोचकर कि भक्तने उन्हें प्राप्त करनेके लिये कितने कष्ट झेले हैं, कितना अपमान सहा है और कितना त्याग किया है, उसके प्रति अपने-आपको ऋणि मानते हैं और कहते हैं—"मेरे प्यारे भक्त! इसके बदलेमें तुझे देनेको मेरे

१. वही ८।३

पास कुछ नहीं है।" फिर भी वे उसके ऊपर अप्रत्याशित कृपा करते हैं। यदि वह प्रेयसी भावका भक्त है तो उसे कल्पवृक्ष, महायोगपीठ, श्रीयमुना, श्रीगोवर्धन आदिके साथ वृन्दावनका और ललितादि सखियों सहित श्रीवृषभानुनन्दिनीका, नन्द-यशोदाका और सुबलादि सखाओंका दर्शन कराते हैं। इस दर्शनके महानन्द-समुद्रमें भक्तको एकबार गोते खिलाकर वे परिकरों सहित अन्तर्धान होजाते हैं।[1]

तब भक्त मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़ता है। होश आनेपर कभी प्रलाप करता है, कभी रोता है, कभी पागलोंकी तरह जोर-जोरसे चिल्लाता है, कभी पछाड़ खाकर भूमिपर गिर पड़ता है, कभी हर दिशामें भगवान्‌का दर्शनकर आनन्दमें विभोर होता है। इस प्रकारकी अलौकिक चेष्टाएँ करता हुआ वह अपने शरीरको भूल जाता है। यथासमय शरीर पात होजाता है। उसे इसका पता भी नहीं चलता। वह केवल यह अनुभव करता है कि भक्त-वत्सल भगवान् स्वय प्रकट होकर उसे अपने धाममें अपनी सेवामें लिये जा रहे हैं।[2]

प्रेमके ऊपरके स्तर

प्रेमके ऊपरके स्तर हैं स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और महा-भाव, जिनका हम आगे उल्लेख करेंगे। यह साधकका देह रहते संभव नहीं हैं, क्योंकि इनके आस्वादनकी उष्णता और शीतलताको सहन करनेकी साधककी देहमें सामर्थ्य नहीं है। योगमायाकी कृपासे जिस ब्रह्माण्डमें कृष्ण-लीला प्रकट है, उसमें गोपिका-गर्भसे जन्म लेनेके पश्चात् ही साधकमें स्नेह-मान-प्रणयादिका विकास होता है। संभवत: इसका कारण यह है कि प्रेमकी अवस्थामें श्रीकृष्णमें ममत्व-बुद्धि जाग्रत होनेपर भी सूक्ष्म ऐश्वर्य-ज्ञानका कुछ पुट रह जाता है, जो प्रेमसे ऊपरके स्तरोंके विकासमें बाधक होता है। ऐश्वर्यज्ञानहीन शुद्धमाधुर्यमय आवेष्ठन इस ब्रह्माण्डमें संभव ही नहीं है।

निरपराध व्यक्तिमें भक्तिका विकास

भक्तिके जिस विकास-क्रमका उपर उल्लेख किया गया है, वह साधारणरूपसे भक्तिमार्गके सभी साधकोमें देखनेमें आता है। पर जिनका

---

१. वही ८।३

२. वही ८।३

चित्त निरपराध है, उनमें इस क्रमके बिना भी भक्तिका उदय संभव है। श्रद्धा और साधुसंग अर्थात् श्रीगुरु-चरणाश्रय भक्तिके विकासमें परम आवश्यक हैं। पर बिना श्रद्धा और गुरु-चरणाश्रयके भी निरपराध व्यक्तियोंमें भक्तिका आविर्भाव होता है। अग्निमें जिस प्रकार दाह करनेकी स्वाभाविक शक्ति है, उसी प्रकार भगवत्-श्रवण-कीर्तनादिमें श्रद्धादिके बिना ही भक्तिको अविर्भूत करानेकी स्वाभाविक शक्ति है। पर जिस प्रकार काष्ठका गीलापन अग्निद्वारा काष्ठको जलानेमें बाधक होता है, उसी प्रकार साधकके अपराध श्रवण-कीर्तनादि द्वारा भक्तिको आविर्भूत करनेमें बाधक होते हैं। श्रीरूप-गोस्वामीने कहा है कि श्रीमूर्ति, श्रीमद्भागवत, श्रीभक्त, श्रीनाम और श्रीमथुरा—यह पाँचों साधन इतने दुरुह और अद्भुत वीर्यशाली हैं कि इनमें श्रद्धाकी कौन कहे, इनसे अति अल्पमात्र सम्बन्ध हो, तो भी निरपराध व्यक्तिके चित्तमें इनके द्वारा भावका सहज संचार होता है—

दुरुहाद्भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तुपञ्चके।
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धिया भावजन्मने॥
(भ. र. सि. १।२।२३८)

'श्रद्धया हेलया वा' इत्यादि श्लोकसे स्पष्ट है कि बिना श्रद्धाके श्रीहरिनाम अपनी स्वाभाविक शक्तिसे फलदान करता है, उसी प्रकार जिस प्रकार जाने-अनजाने, विश्वासपूर्वक या अविश्वासपूर्वक जैसे भी अग्निशिखाको स्पर्श किया जाय, वह अपनी स्वाभाविक शक्तिके कारण उँगली जलानेकी क्रिया करती है।

श्रीगुरु-चरणाश्रयको भक्तिका द्वार कहा गया है, पर श्रीचैतन्य-चरितामृतमें कहा है कि कृष्ण-नाम दीक्षा-पुरश्चर्या आदिकी अपेक्षा नहीं रखता। यह जिह्वासे स्पर्श होते ही चण्डाल तकका उद्धार करनेकी सामर्थ्य रखता है—

दीक्षा - पुरश्चर्या विधि अपेक्षा ना करे।
जिह्वा स्पर्शे आचण्डाले सबारे उद्धारे॥
(चै. च. २।१५।१०९)

भक्तिके विभिन्न अंगोंके सम्बन्धमें शास्त्रोंकी इस प्रकारकी विभिन्न उक्तियोंमें जो विरोधाभास दीखता है, उसका समाधान श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने भा. ६।२।९-१० श्लोकोंकी टीकामें इस प्रकार किया है—'जो लोग गो-गर्दभ

के समान विषय-भोगोंमें सर्वदा मत्त रहते हैं, जिन्होंने स्वप्नमें भी कभी इस बातका अनुसन्धान नहीं किया कि भगवान्, गुरु और भक्ति हैं क्या, ऐसे लोग यदि निरपराध हों, तो अजामिलकी तरह बिना गुरुके ही उनका उद्धार संभव है; परन्तु जो विवेकवान् हैं और यह जानते हैं कि श्रीहरि ही भजनीय हैं, भजनसे ही वे प्राप्त किये जासकते हैं, श्रीगुरु ही भजनके उपदेष्टा हैं और पूर्व-पूर्व महाजनोंने गुरु-उपदिष्ट भक्ति-पथसे ही श्रीहरिको प्राप्त किया है, वे यदि यह मानकर चलते हैं कि दीक्षा, पुरश्चर्या आदिकी कोई आवश्यकता नहीं, श्रीकृष्णनामात्मक मन्त्रके रसना स्पर्शमात्रसे अजामिलकी भाँति फल प्राप्त कर लेंगे, तो उन्हें गुरु-अवज्ञारूपी, महदपराधके कारण फल-प्राप्ति कदापि न होगी।'

• • •

भक्ति और विज्ञान

साधारण दृष्टिकोणसे भक्ति और विज्ञान एक-दूसरेके विरोधी हैं। भक्तिके आधार हैं—श्रद्धा, विश्वास और शरणागति, विज्ञानके निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग। भक्त विश्वास करता है, शङ्का नहीं करता; विज्ञान शङ्का किये बिना रह नहीं सकता। भक्त कहता है—'संशयात्मा विनश्यति'। विज्ञान कहता है—संशय सत्यको जन्म देता है। भक्त श्रद्धाको कलेजेसे लगाकर रखता है, जैसे अन्धा अपनी लड़की को। उसे सारी मंजिल उसीके सहारे तय करनी होती है। वैज्ञानिक एक कदम भी आगे नहीं रखता, जब तक वह उसके लिये निश्चयात्मक ज्ञानका ठोस आधार तैयार नहीं कर लेता। भक्तकी उपलब्धियाँ उसके हृदय-क्षेत्रतक ही सीमित रहती हैं, विज्ञानकी उपलब्धियाँ सार्वजनिक होती हैं। भक्त अपना हृदय चीरकर अपनी उपलब्धियोंको दूसरोंके समक्ष नहीं रख सकता; वैज्ञानिक प्रयोगशालाओंमें अपने प्रयोगोंको बार-बार दुहराकर विश्वके सामने रख सकता है।

आजका युग विज्ञानका युग है। इसलिये आजका अपनेको प्रगतिशील माननेवाला साधारण व्यक्ति भक्तिको अन्धविश्वास, रूढ़िवाद और पिछड़ेपन का प्रतीक माने तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पर आश्चर्यकी बात यह है कि विज्ञानकी ध्वजा फहरानेवाले इस बातका दावा करते हैं कि वे अपने मस्तिष्क की खिड़कियाँ सदा खुली रखते हैं और किसी भी तथ्यको तबतक स्वीकार या अस्वीकार नहीं करते, जबतक वैज्ञानिक ढङ्गसे उसे परख नहीं लेते, फिर भी धर्म-जगत्के तथ्योंके प्रति वे विपरीत ढङ्गसे व्यवहार करते हैं—विशेष रूपसे भक्तिके प्रति, जिसे वे बिना परखे कोरी भावुकता (sentimentalism) मान बैठते हैं।

भक्ति एक विज्ञान है, मनुष्य उसकी प्रयोगशाला है

वैज्ञानिक कहते हैं कि भक्तिका विषय विज्ञानकी परिधिमें नहीं आता। यह उनकी एक बड़ी भूल है। भक्ति भी एक विज्ञान है, उतना ही

जितना भौतिक-विज्ञान (Physics) या और कोई विज्ञान। भक्तिमें भी वैज्ञानिक विधियोंका उतना ही प्रयोग होता है, जितना अन्य किसी विज्ञान में। भक्तिमें भी निरीक्षण और प्रयोग होते हैं। भक्तिके सिद्धान्त भी उसी प्रकार भक्तिके क्षेत्रमें किये गये प्रयोगोंके परिणाम हैं, जिस प्रकार अन्य किसी विज्ञानके नियम उस विज्ञानके क्षेत्रमें किये गये प्रयोगोंके परिणाम हैं। भक्तिके नियमोंकी भी हम उसी प्रकार जाँच कर सकते हैं, जिस प्रकार और किसी विज्ञानके नियमों की।

अन्तर केवल इतना है कि अन्य विज्ञानोंके विषय और उनपर किये जानेवाले प्रयोगोंके उपकरण बाह्य जगत्की वस्तुएँ होती हैं, जिनमें परिवर्तन आसानीसे किये जा सकते हैं। पर भक्ति-सम्बन्धी प्रयोगोंके न तो विषय ही बाह्य होते हैं और न उनके उपकरण। भक्तिकी प्रयोगशाला मनुष्य स्वयं है। भक्तिके प्रयोगोंमें उसे सब कुछ अपने अन्तरमें करना होता है। इसीलिये यह प्रयोग उतने आसान नहीं होते।

भक्तिके प्रयोगोंमें विषयोंसे आत्माका सम्बन्ध तोड़कर भगवान्से जोड़ना पड़ता है

वैज्ञानिक रीतिसे किसी विषयका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आवश्यक होता है कि उस विषयका पृथक्रूपसे, उसकी असली और शुद्ध अवस्थामें अध्ययन किया जाय। पर प्रकृति इतनी संसृष्ट है कि कोई वस्तु हमें अपने शुद्धरूपमें नहीं मिलती। दूसरी अनेक वस्तुएँ उससे मिली-जुली होती हैं। वैज्ञानिक प्रयोगशालामें उसे उन सभी वस्तुओंसे पहले अलग कर लेता है। तब उसमें तरह-तरहके परिवर्तन करके देखता है कि उनका क्या परिणाम हुआ। तभीं वह उसके गुण-दोष और उनसे सम्बन्धित नियमों (laws) की खोज कर पाता है।

मनुष्यका अपना आत्मा भी उसी प्रकार अपनी विशुद्ध अवस्थामें नहीं है। वह देहसे संसृष्ट है, देहात्मबुद्धियुक्त है। मायाका आवरण उसपर पड़ा है। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोहसे वह दूषित होरहा है। भक्ति शुद्ध आत्माका धर्म है। भक्तिके प्रयोगमें विषयोंसे आत्माका सम्बन्ध तोड़कर भगवान्से जोड़ना होता है। यह एक लम्बा प्रयोग है। इसमैं पूरा जन्म लग सकता है। कई जन्म भी लग सकते हैं। कठिन भी यह बहुत है। विषयासक्तिसे आत्माको मुक्त करना आसान नहीं। मनुष्यके लिये चन्द्रमा

तक उड़कर जाना आसान है, पर विषयोंसे थोड़ा भी ऊपर उठना आसान नहीं। समुद्रकी तहमें जाकर मुक्ता-राशि निकाल लाना आसान है, पर अपने देह, मन, बुद्धि, अहंकार आदिके तलमें जाकर अपने ही आत्मस्वरूप की उपलब्धि करना आसान नहीं।

भक्तिके प्रयोग कठिन होनेके कारण वैज्ञानिकों द्वारा उपेक्षित हैं

इन प्रयोगोंकी कठिनाई ही वैज्ञानिकों द्वारा इनकी उपेक्षाका कारण है। मनुष्यका स्वभाव है कि जो विषय उसे कठिन जान पड़ता है, उसकी वह उपेक्षा करता है और ऐसा करनेके लिये कोई-न-कोई कारण ढूँढ़कर आत्मतुष्टि कर लेता है। पर संसारमें ऐसे लोगोंकी कमी नहीं, जिन्होंने इन प्रयोगोंको किया है। भक्त-गाथाएँ उनके प्रयोगोंसे भरी पड़ी हैं। भक्तिके सिद्धान्त और नियम आदि उन्हीं प्रयोगोंपर आधारित हैं। गीता, भागवत, नारद-भक्तिसूत्र, भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिसन्दर्भ आदि ग्रन्थोंमें भक्तिके नियमोंका, उसके विभिन्न प्रकार, स्तर और अङ्ग-प्रत्यङ्गों का विस्तृत और व्यवस्थित विवेचन है, जिसके आधारपर कहा जा सकता है कि भक्ति विज्ञानके किसी भी मापदण्डके अनुसार एक विज्ञान है।

विज्ञानकी कसौटीपर भक्ति-विज्ञान ही खरा उतरता है

विज्ञानका अर्थ है—किसी विषयका यथार्थ और नियमित ज्ञान। इसलिये यदि हमें निर्णय करना हो कि किसी विषयके ज्ञानको 'विज्ञान' की संज्ञा देना कहाँ तक उचित है, तो उसे इन दो कसौटियोंपर कसके देखना होगा, उसके सम्बन्धमें दो प्रश्न इस प्रकार करने होंगे—

(१) क्या वह ज्ञान यथार्थ है ?

(२) क्या उसके नियम व्यापक और सुनिश्चित हैं ?

इन दोनों कसौटियोंपर भक्ति-विज्ञान जितना खरा उतरता है, उतने और विज्ञान नहीं उतरते। बल्कि यदि कहा जाय कि केवल भक्ति-विज्ञान ही खरा उतरता है तो भी अनुचित न होगा; क्योंकि आजके बड़े-बड़े वैज्ञानिक प्रायः सभी इस बातकी साक्षी भरते हैं कि विज्ञान न तो किसी विषयके

वास्तविक रहस्यका उद्घाटन कर पाता है और न उसके नियम सुनिश्चित और अवश्यम्भावी हैं।

साधारण विज्ञान यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है

भौतिक विज्ञानका उदाहरण लेकर इस बातको अच्छी तरह समझाया जा सकता है; क्योंकि जितनी भौतिक-विज्ञानने प्रगतिकी है उतनी और किसी विज्ञानने नहीं की और भौतिक-विज्ञानका विषय अधिकांश विज्ञानों का आधारभूत विषय भी है। वैज्ञानिकोंने भौतिक-जगत्के पदार्थोंका विश्लेषणकर यह मालूम किया कि छोटेसे छोटा पदार्थ भी करोड़ों परमाणुओं (electrons) के संयोगसे बना है। इसलिये वे परमाणुके अध्ययनमें लग गये। पर परमाणु उनके लिये एक पहेली बनकर रहगया। उसके वास्तविक स्वरूपके ज्ञानकी बात तो दूर, उन्हें यह भी निर्णय करनेमें कठिनाई होने लगी कि वह ठोस है या कोई तरल पदार्थ ! वह कभी तो एक कण (particle) जैसा व्यवहार करता जान पड़ता और कभी लहर (wave) की तरह लहराता जान पड़ता। उन्होंने उसे एक ऐसा पदार्थ मान लिया, जो कण भी है और लहर भी, यद्यपि 'कण' और 'लहर' के प्रत्यय परस्पर विरोधी हैं। 'wave' और 'particle', इन दोनों शब्दोंको जोड़कर उन्होंने उसे 'wavicle' की संज्ञा दे डाली; पर उन्होंने निश्चय किया कि उसका स्वरूप जो भी हो, वह एक शक्ति (energy) है—एक गति (process) है। स्वाभाविक रूपसे प्रश्न हुआ कि वह शक्ति या गति किसकी है; क्योंकि शक्ति किसी शक्तिमान्की और गति किसी गतिशील पदार्थकी ही हो सकती है। विज्ञान आजतक इस प्रश्नका उत्तर नहीं दे सका। आगे दे सकेगा, इसकी भी कोई सम्भावना नहीं है; क्योंकि उसकी नजरमें शक्तिके सिवा कोई दूसरी वस्तु रह ही नहीं गयी है, जिसके प्रति संकेत करके वह कह सके—शक्ति इसकी है। इसलिये जड़-वस्तुमात्रका स्वरूप उसे अज्ञात रह गया है और जड़-तत्त्व (matter) के बारेमें उसे C. E. M. Joad के शब्दोंमें यह कहनेको बाध्य होना पड़ा है कि 'जड़तत्त्व (matter) के बारेमें मैं निश्चितरूपसे सिर्फ इतना जानता हूँ कि मैं नहीं जानता वह क्या है—Matter is I know not what.'

भौतिक-विज्ञान जब इस निष्कर्षपर पहुँच जाता है कि जड़-वस्तुमात्र शक्ति है, तो यह सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि इस शक्तिका

आश्रय अथवा स्वामी कोई चेतन सत्ता ही हो सकती है। आइन्स्टीन (Einstien), एडिंग्टन (Eddington) और जेम्स जीन्स (James Jeans) जैसे कुछ वैज्ञानिकोंने इसी प्रकारका संकेत किया है। भौतिक-विज्ञान ऐसा संकेत या अनुमान करनेके सिवा और कुछ नहीं कर सकता। उसके पास कोई ऐसा साधन नहीं, जिससे वह उसका प्रत्यक्ष कर सके और उसे निकटसे जान सके। ऐसा न कर सकनेके कारण वह किसी भी वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है।

भक्ति-विज्ञान यथार्थ वस्तुका साक्षात्कार कराता है

पर भक्ति-विज्ञानका सम्बन्ध सीधे उस चेतन सत्तासे है। भक्त जानता है कि जिस शक्तिका विस्तार भौतिक-विज्ञान सारे जगत्में देखता है, वह उसी चेतन सत्ता (परब्रह्म) की शक्ति है—

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥
(विष्णुपु० १।२२।५६)

'जिस प्रकार एक स्थानमें प्रज्वलित अग्निकी किरणें चारों ओर फैली रहती हैं, उसी प्रकार परब्रह्म—भगवान्‌की शक्ति सारे जगत्‌के रूपमें सर्वत्र विस्तृत है।'

यह न केवल उसका अनुमान है और न केवल शास्त्रोंके आधारपर माना हुआ एक सिद्धान्त। भक्ति उसे इसका साक्षात् अनुभव कराती है—

'भक्तिरेवैनं दर्शयति।'
—श्रुति

यह बहुत सूक्ष्म तत्त्व है। किसी भी प्राकृत विज्ञानके द्वारा इसे जानना सम्भव नहीं। शुद्ध अन्तःकरणसे ही इसे जाना जा सकता है। भक्तिके प्रभावसे धीरे-धीरे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होजाता है, तब उसे इसका साक्षात्कार होजाता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा. ११।१४।२६)

'जैसे अंजनके उत्तम प्रयोगसे दृष्टि निर्मल होकर सूक्ष्म वस्तुको देखने में समर्थ होजाती है, उसी प्रकार जैसे-जैसे मेरी पवित्र कथाके श्रवणसे मनुष्यका चित्त शुद्ध होता है, वैसे-वैसे वह मेरे इस सूक्ष्म तत्त्वको देखनेमें समर्थ होता है।'

विज्ञानके किसी सिद्धान्तकी भाँति भक्ति-विज्ञानका यह आधारभूत सिद्धान्त परीक्षणोंद्वारा सिद्ध किया जा सकता है। इतिहास इसके अनेकों सफल परीक्षणोंका साक्षी है। प्रह्लादने स्तम्भमें, द्रौपदीने साड़ीमें और मीरा ने राणा की भेजी हुई साँपकी पिटारीमें परब्रह्म भगवान्‌को प्रकटकर सिद्ध किया था कि सभी भौतिक पदार्थ उनकी शक्तिका परिणाम हैं और वे शक्तिमान्‌के रूपमें सर्वत्र विराजमान हैं।

भौतिक विज्ञानके नियम निश्चयात्मक नहीं हैं

अब रही भौतिक-विज्ञानके नियमोंकी बात। सत्रहवीं शताब्दीमें गैलीलिओ (Galileo) और न्यूटन (Newton) के समयसे भौतिक-विज्ञान में यन्त्रवाद (Mechanistic Theory) का बोलबाला था। वैज्ञानिकोंका दृढ़-विश्वास था कि सारा विश्व एक विशाल यन्त्र (machine) है और यांत्रिक नियमोंद्वारा परिचालित है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततक यन्त्रवाद का इतना विस्तार होगया और कार्य-कारणका यान्त्रिक नियम इतना सार्वभौम माना जाने लगा कि मनुष्य स्वयं भी उसका शिकार बन गया। उसका इच्छा-स्वातन्त्र्य एक भ्रम समझा जाने लगा और उसकी सभी क्रियाएँ किसी यन्त्रकी क्रियाओंकी भाँति बाहरी वातावरणकी उसके ऊपर हुई क्रियाओंकी यान्त्रिक प्रतिक्रिया मात्र समझी जाने लगीं। इच्छा-स्वातन्त्र्यके साथ मनुष्य की नैतिकता और उसकी धार्मिक भावनाएँ यन्त्रवादकी भयंकर बाढ़में बह चलीं।

बीसवीं शताब्दी विज्ञानके क्षेत्रमें एक ऐसी क्रान्ति लेकर आयी, जिसने विज्ञानकी प्रायः सभी मौलिक मान्यताओंको जड़से उखाड़कर फेंक दिया। क्रान्तिका कारण था—विज्ञानके रंगमंचपर परमाणुओंका प्रवेश। परमाणु यन्त्रवादके विरुद्ध इनकलाबी नारे लगाते आये और यन्त्रवादको सदाके लिये रंगमंचको छोड़कर चला जाना पड़ा। अभीतक वैज्ञानिक जड़-पदार्थके जिन छोटे-से-छोटे कणोंको जड़-पदार्थकी अन्तिम इकाइयाँ मानते थे और जिनके और छोटे टुकड़े करनेमें वे असमर्थ थे, वे करोड़ों परमाणुओंके

समूह सिद्ध हुए। उन परमाणुओंकी गतिविधियोंका व्यक्तिगत रूपसे अध्ययन करनेपर जान पड़ा कि वे उनमेंसे किसी नियमके अधीन नहीं हैं, जो परमाणुओंके समूह अर्थात् साधारण जड़-पदार्थोंपर लागू होते हैं। वे अपने व्यवहारमें पूर्ण स्वतन्त्र हैं। कार्य-कारणका नियम, जो समस्त विज्ञानोंका मूलाधार है, उसका उनकी दुनियामें कोई अस्तित्व नहीं है[1]। उनका व्यवहार पूर्णरूपसे उनकी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार होता जान पड़ता है। यदि कोई नियम उनपर लागू होता है, तो वह प्रोफेसर हाइसेनबर्ग (Prof. Heisenberg) के शब्दोंमें अनियमितता या अनिश्चितताका नियम (Principle of Indeterminacy) है।

ऐसी स्थितिमें यदि हमें अपने दैनिक व्यवहार में परमाणुओंसे सीधा काम पड़ता, तो हमारा जीवन असम्भव होता। पर भाग्यवश परमाणु हमारी दृष्टिसे ओझल रहते हैं और हमारे व्यवहारमें पदार्थ आते हैं, जिनमेंसे छोटे-से-छोटा पदार्थ भी अनन्त परमाणुओंका समूह है। व्यक्तिगतरूपसे परमाणुओं की क्रिया कितनी ही अनियमित और अनिश्चित क्यों न हो, समूहमें उनकी क्रियाएँ उन नियमोंके अनुरूप होती हैं, जिनकी समष्टि हमारा विज्ञान है।

पर विज्ञानके ये नियम वस्तुगत नहीं हैं। परमाणु समूहमें भी अपनी स्वतन्त्रता नहीं छोड़ते। उनकी क्रियाएँ उतनी ही अनिश्चित रहती हैं, जितनी व्यक्तिगत रूपमें। सामूहिक रूपमें उनके व्यवहारमें जो एकरूपता (uniformity) दिखलायी देती है, उसका कारण यह है कि हम उन परमाणुओंकी क्रियाओंको अलग-अलग ग्रहण नहीं करते। ग्रहण करते हैं उनकी सामूहिक क्रियाओंके औसतको। जेम्स जीन्स (James Jeans) ने इसे एक उदाहरण देकर समझाया है। यदि हम दो पैसका एक सिक्का आकाशमें उछालें तो हम यह नहीं कह सकेंगे कि वह उलटा गिरेगा या सीधा। सौ, दोसौ सिक्के उछालें तो भी हम नहीं कह सकेंगे कि कितने सीधे गिरेंगे, कितने उलटे। पर यदि हम उनकी संख्या बढ़ाते जाँय तो गणित-शास्त्रके औसतोंके नियम (Law of Averages) के अनुसार उलटे और सीधे गिरनेवाले सिक्कोंकी संख्यामें अन्तर कम होता जायगा; यहाँतक कि

---

१. 'The concept of strict causation finds no place in the picture of the universe, which the new physics presents to us.' —James Jeans : 'Mysterious Universe', p. 43.

यदि हम दस लाख टन सिक्के एक साथ उछालें तो यह निश्चित है कि पाँच लाख टन सीधे गिरेंगे, पाँच लाख टन उलटे। यह देखकर हम मान लेंगे कि सिक्कोंकी क्रियामें एकरूपता है और उस एकरूपताको विज्ञानके एक नियम का रूप दे डालेंगे। पर वास्तविकता यह है कि एकरूपता केवल गणित-शास्त्रके औसतोंके नियमके अनुसार दीखती है। जहाँतक प्रत्येक दो पैंसके सिक्केका प्रश्न है, उसकी व्यक्तिगत क्रियामें, उस समूहमें भी एकरूपता नहीं है। इसी प्रकार जो एकरूपता औसतोंके नियमके अनुसार परमाणुओंके विशाल समूहमें दीखती है, वह उसकी इकाईमें या उसके अल्पसंख्यक समूह में नहीं होती। दस लाख टनमें जितने दो पैंसके सिक्के होते हैं, उनसे कहीं अधिक परमाणु एक छोटे-से-छोटे भौतिक पदार्थमें होते हैं। इसीलिये हमें उसकी क्रियामें एकरूपता दीख पड़ती है। एकरूपता वस्तुओंका स्वरूपगत लक्षण नहीं है। वह गणित-शास्त्रकी देन है।[1] यही पुराने विज्ञानमें व्याप्त एकरूपता और नियमबद्धताके भ्रमका रहस्य है। नया विज्ञान इस भ्रमको दूर करता है।

इसीलिये नया विज्ञान अपने नियमोंको सम्भवात्मक (probable) मानता है, निश्चयात्मक (necessary) नहीं। परमाणुओंका समूहमें गठ-बन्धन, जिसके कारण हमें सांसारिक पदार्थोंकी नियमबद्धताका भ्रम होता है, किस प्रकार होता है और कबतक टिका रहेगा, यह विज्ञान नहीं जानता। कभी भी परमाणुओंका विघटन होसकता है और उनके विघटन के साथ-साथ वस्तुओंका और उनकी नियम-बद्धताके भ्रमका भी अन्त होसकता है। सूर्य प्रतिदिन नियमपूर्वक पूर्व दिशामें उदित होता है। कल भी उदित होगा या नहीं, यह विज्ञान पूर्ण निश्चयके साथ नहीं कह सकता, यद्यपि इस बातकी सम्भावना विज्ञानकी दृष्टिमें इतनी अधिक है कि उसकी अनिश्चितताके कारण हमें अपनी नींद हराम करनेकी आवश्यकता नहीं।

भक्ति-विज्ञानके नियम निश्चयात्मक हैं

भक्ति-विज्ञानकी स्थिति किसी अंशमें भौतिक विज्ञानके सदृश होते हुए भी उससे कहीं अच्छी है। जीव और ईश्वर दोनों भौतिक विज्ञानके

---

१. "When we are dealing with atoms and electrons in crowds, the mathematical law of averages imposes the determinism, which physical laws failed to provide." Ibid. p. 42

परमाणुओंके समान स्वतन्त्र हैं। उनके व्यवहारको एकरूपता और कार्य-कारणके नियमोंकी शृङ्खलामें नहीं बांधा जासकता। पर जिस प्रकार सामूहिक क्षेत्रमें परमाणुओंकी स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचारिताका स्थान नियमबद्धता लेती जान पड़ती है, उसी प्रकार भक्तिके क्षेत्रमें ईश्वर और जीवकी स्वाधीनताका स्थान पराधीनता ले लेती है। भक्तिके क्षेत्रमें ईश्वर भी उतना ही पराधीन है, जितना जीव। परम स्वतन्त्र होते हुए भी वह प्रेम-परतन्त्र है—

यद्यपि ईश्वर तुमि परम स्वतन्त्र।
तथापि स्वभावे हओ प्रेम - परतन्त्र॥
(चै. च., म. १२।२९)

भक्तिका सम्बन्ध न तो उस जीवसे है, जो स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी है और न उस ईश्वरसे, जो पूर्ण स्वतन्त्र है। भक्तिका सम्बन्ध उस भक्तसे है, जो भगवान्के हाथ बिक चुका है और उन भगवान्से, जो भक्तके हाथ बिक चुके हैं। भक्त कहता है—मैं भगवान्का हूँ। वे जैसे रक्खेंगे वैसे रहूँगा—

जो पहिरावे सोई पहरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावे तहँ ही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ।
—मीराबाई

भगवान् कहते हैं—मैं भक्तोंके पराधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं—

'अहं भक्तपराधीनो अस्वतन्त्र इव द्विज।'
(श्रीमद्भा. ९।४।६३)

इतना ही नहीं; वे कहते हैं—'मैं उनके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ, जिससे उनके चरणोंकी रज उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र होजाऊँ—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥'
(श्रीमद्भा. ११।१४।१६)

भक्त भगवान्के इशारेपर नाचता है, भगवान् भक्तके इशारेपर। और सच पूछिये तो दोनों नाचते हैं प्रेमके इशारेपर। प्रेम दोनोंका इष्ट है। भक्ति के साम्राज्यमें प्रेम ही सम्राट् है, भगवान् और भक्त दोनों उसकी प्रजा हैं।

भगवान् उसी तरह उसके इशारेपर नाचते हैं, जैसे कोई नटका शिष्य अपने गुरुके इशारे पर नाचता है—

राधिका प्रेम गुरु, आमि शिष्य नट।
सदा आमा नाना नृत्ये नाचाय उद्भट ॥
(चै. च., आ. ४।१२४)

प्रेमके साम्राज्यमें न कोई सेवक है न स्वामी, न कोई भक्त है न भगवान्। वहाँका भगवान् है प्रेम, जिसे रसिक भक्त 'रस' भी कहते हैं—

'रसौ वै सः।'

इस रसमें ऐसी मादकता है कि यह भक्तका भक्ताभिमान और भगवान्की भगवत्ता, नायकका नायकत्व और नायिकाका नायिकात्व भुलाकर दोनोंको तरह-तरहके खेल खिलाता रहता है—

'नायक तहाँ न नायिका, रस करवावत केलि।
(ध्रुवदास)

भगवान्की रास-लीलामें न तो भगवान् ही अपनी स्वतन्त्र इच्छासे लीला करते हैं, न गोपियाँ। रस ही दोनोंसे नृत्य कराता है। इसीलिये उस नृत्यका नाम 'रास' है।

पूर्णरूपसे प्रेमके अधीन होनेके कारण भक्त और भगवान् पूर्णरूपसे प्रेम या भक्तिके नियमोंके भी अधीन हैं। उनका उल्लङ्घन करनेकी स्वतन्त्रता उनमें नहीं है। भक्तिके नियम भौतिक-विज्ञानके नियमोंकी तरह न तो औसतोंके नियम हैं और न वे केवल सम्भावनात्मक ही हैं। वे वस्तुगत और निश्चयात्मक हैं।

भक्तिके निश्चयात्मक नियमोंके कुछ उदाहरण

उदाहरणरूपसे भौतिक-शास्त्रके मध्याकर्षणके नियम (Law of Gravitation) के समान, जिसके अनुसार पृथ्वी सभी भौतिक पदार्थोंको अपनी ओर आकर्षित करती है, भक्तिका एक नियम है कि वह भगवान्को अपनी ओर आकर्षित करती है। इसलिये भगवान्के भक्त जहाँ उनका गुणगान करते हैं, वहाँ वे आप ही खिंच आते हैं और आसन जमाकर बैठ जाते हैं—

'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥'

(आदिपुराण)

यह नियम अटल है। इसके विपरीत मध्याकर्षणके नियमके बारेमें भौतिक-विज्ञान कहता है कि अभीतक संसारके सारे पदार्थ इसके द्वारा परिचालित होते रहे हैं और इस बातकी लगभग पूरी सम्भावना है कि आगे भी ऐसा होता रहेगा। पर विज्ञानके पास ऐसा कोई आधार नहीं, जिसके बल पर वह कह सके कि निश्चय ही आगे भी ऐसा होता रहेगा। भक्तिका यह नियम पूर्णरूपसे निश्चित है कि वह भगवान्को सदा आकर्षित करती रहेगी; क्योंकि भक्ति और भगवान्का स्वरूप ही ऐसा है। यह स्वरूप नित्य है, इसलिये यह नियम भी नित्य है। यह सम्भव है कि फल टूटकर वृक्षपर ही रह जाय और पृथ्वी उसे आकर्षित न कर सके; पर यह सम्भव नहीं कि भक्ति-कमल किसी भक्तके हृदय-सरोवरमें खिले और भगवान्रूपी भौंरा उसकी ओर आकर्षित न हो।

इसी प्रकार और भी भक्तिके नियम हैं, जो अटूट, अटल और अव्याहत हैं, जैसे—

(१) भगवान्को जो जैसे भजता है, भगवान् भी उसे वैसे ही भजते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४।११)

(२) जो सब धर्मोंको त्यागकर अनन्यभावसे भगवान्की शरणमें आता है, उसे भगवान् सब पापोंसे मुक्त कर देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

(३) जो अनन्य भावसे भगवान्का चिन्तन करता है, उसका योग-क्षेम भगवान् स्वयं वहन करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

भक्तिके नियमोंमें कभी किसी प्रकारका व्याघात होनेका प्रश्न इसलिये नहीं उठता कि भक्ति पूर्णरूपसे स्वतन्त्र और निरपेक्ष है। अन्य सभी ज्ञान और विज्ञान अन्य किसी-न-किसी वस्तुकी अपेक्षा रखते हैं—यदि और किसी वस्तुकी नहीं तो भगवान्‌की अपेक्षा तो रखते ही हैं; उनके नियमादि सब भगवान्‌की इच्छाके अधीन होते हैं; पर भक्ति भगवान्‌की अपेक्षा भी नहीं रखती, अपितु भगवान् ही भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं।

भक्ति ही पूर्ण विज्ञान है

इस प्रकार भक्तिके नियम भी अटल हैं और उसकेद्वारा प्राप्त ज्ञान भी यथार्थ है।

भक्तिके द्वारा प्राप्त ज्ञानके अयथार्थ होनेका प्रश्न इसलिये और भी नहीं उठता कि भगवान् सभी ज्ञान-विज्ञानके मूल और स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं—"ज्ञानं ज्ञानवतामहम्"—और भक्त उन्हें तत्वसे जानता है—

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।'

(गीता १८।५५)

भगवान् भक्तके हस्तामलकवत् रहते हैं। उनका कोई भी रहस्य उससे छिपा नहीं रहता। उनका हृदय ही जैसे उसके हाथमें होता है—

'साधुभिर्ग्रस्तहृदयः'

(श्रीमद्भा. ९।४।६३)

अतः विज्ञानकी दोनों कसौटियोंपर यदि कोई विज्ञान पूरी तरह खरा उतरता है, तो वह भक्ति-विज्ञान है। भक्ति ही श्रेष्ठ विज्ञान है; भक्ति ही पूर्णविज्ञान है; भक्ति ही महान है—

'भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।'

(नारद-भक्तिसूत्र ८१)

• • •

भक्ति और सदाचार

सदाचारका मूल्य भक्तिके साधनरूपमें है, स्वतंत्ररूपमें नहीं

श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुसार जीवका परम-धर्म है कृष्ण-भक्ति—"स वै पुंसा परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।"[1] सदाचारका मूल्य भक्तिके साधनरूपमें है, सहायकरूपमें है, स्वतंत्ररूपमें नहीं। सत्कर्म ही वह है, जिससे श्रीकृष्ण संतुष्ट हों—"तत्कर्म हरितोषं यत्"।[2] हम जिस कर्मका अनुष्ठान करें, उसकी पूर्णसिद्धि इसीमें है कि भगवान् प्रसन्न हों—"स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्।"[3] यदि श्रीहरिको प्रसन्न करना हमारे जीवनका एक-मात्र उद्देश्य है तो हमारा कभी स्खलन न होगा, हमसे कभी कोई अनुचित कार्य बनेगा ही नहीं—"धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह।"[4]

सच तो यह है कि जो कृष्ण-भक्ति करता है, उसे और कुछ करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका देवताओं, पितरों, प्राणियों और अतिथियों आदिके प्रति कोई कर्तृत्व नहीं रहता।[5] उसके सभी कर्म कृत हो जाते हैं—'कृष्ण-भक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय'।[6] जैसे वृक्षके मूलमें जल देनेसे उसके तने, शाखाओं और उपशाखाओंमें जल देना होजाता है, जैसे प्राणोंकी रक्षा करनेसे सब इन्द्रियोंकी रक्षा होजाती है, वैसे ही श्रीकृष्णकी पूजा-भक्ति करनेसे सबकी पूजा होजाती है, सबके प्रति कर्मका पालन होजाता है।[7]

---

१. भा. १।२।६

२. भा. ४।२।४६

३. भा. १।२।१३

४. भा. ११।२।३५

५. भा. ११।५।४१

६. चै. च. २।२२।३७

७. भा. ४।३१।१४

इसलिये गीताके अन्तमें भगवान् कृष्णका सर्वगुह्यतम उपदेश है—'सब कर्मों का परित्याग कर केवल (मुझ) भगवान्की शरण ले, केवल मेरी भक्तिकर'। सब कर्मोंके परित्यागका अर्थ केवल कर्मके फलका त्याग नहीं, कर्ममात्रका सम्यक् त्याग है। शुद्धा-भक्तिमें कर्मका सम्यक् त्याग आवश्यक है। जो शुद्धा-भक्तिके अधिकारी नहीं उन्हींके लिये फल त्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानका विधान है। "यत् करोषि" (गीता ६।२७) श्लोकको टीकामें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है कि श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'हे अर्जुन ! तुम अभी कर्म-ज्ञानादि न त्याग सकनेके कारण अनन्याभक्तिके अधिकारी नहीं हो, निकृष्टा सकामा भक्तिमें तुम्हारी रुचि नहीं है। इसलिये तुम निष्कामा ज्ञान-कर्म-मिश्रा भक्ति का आचरण करो, जो कुछ करो—खाओ, पियो, हवन, दान, धर्मादि करो, वह सब मेरे अर्पण करो"। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका कहना है कि शुद्धा-भक्ति में अनुष्ठानके पश्चात् अर्पणकी विधि नहीं है, अर्पणके पश्चात् अनुष्ठानकी विधि है, अर्थात् भगवान्को आत्म-समर्पणकर उनकी प्रीतिके लिये ही श्रवण-कीर्तनादि अनुष्ठानकी विधि है। शरणापन्न व्यक्तिका अपना स्वतंत्र कर्तृत्व कुछ नहीं रहता। वह जिसके शरणापन्न होता है, उसका खरीदा हुआ पशु के समान होता है। वह उसे जो खिलाता है वही खाता है, उसे जैसे रखता है वैसे ही रहता है, उससे जो कराता है वही करता है। श्रीधर स्वामीपादने भी "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः" इत्यादि श्लोकको टीकामें लिखा है—"विष्णो अर्पिता भक्तिः क्रियते न तु कृत्वा पश्चात्र्प्यंत इतिः—विष्णुको अर्पित भक्ति का अनुष्ठान करो, अनुष्ठानके पश्चात् अर्पण नहीं।"

कर्मके सम्यक् त्यागकी बात श्रुतिमें भी कही गयी है—"वर्णाश्रमाचार युतां विमूढां कर्मानुसारेण फलं लभन्ते। वर्णादि धर्मंहि परित्यजन्तः स्वानन्द-तृप्ताः पुरुषा भवन्ति।—वर्णाश्रमाचारयुक्त विमूढ़गण कर्मानुसार ही फल प्राप्त करते हैं। जो वर्णाश्रम धर्मका परित्याग करते हैं, वे ही स्वानन्द तृप्त होते हैं।" परन्तु कर्मका यह सम्यक् त्याग तबतक नहीं करना चाहिये, जब तक निर्वेदकी स्थिति नहीं आती, अर्थात् विषयों या कर्मफलोंसे विरक्ति नहीं होजाती, तथा जबतक भगवत्-कथा-श्रवणादिमें श्रद्धा नहीं होजाती—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥[1]

---

१. भा. ११।२०।९

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इस श्लोककी टीकामें लिखा है कि यहाँ श्रद्धा का अर्थ है—आत्यन्तिकी श्रद्धा। आत्यन्तिकी श्रद्धामें साधकको यह दृढ़-विश्वास होता है कि भगवत्कथा-श्रवणादिसे ही वह कृतार्थता लाभ कर सकता है, कर्म-ज्ञानादिसे नहीं।[२] ऐसी श्रद्धा तभी होती है, जब मनुष्य कर्म के गुण और दोष भली प्रकार जान लेता है और समझ लेता है कि कर्मसे स्वर्गादिकी प्राप्ति ही होती है, वासनाओंका नाश नहीं होता, जो संसार-बन्धन का मुख्य कारण है। ऐसे लोगोंके लिये, जिन्हें कर्मके गुण-दोष समझ लेनेपर भगवत्-कथा-श्रवणादिमें आत्यन्तिक श्रद्धा होगयी है, भगवान् कृष्णने कहा है कि यदि वे मेरे द्वारा आदिष्ट स्वधर्मसमूहको सम्यक्‌रूपसे त्यागकर मेरा भजन करते हैं, तो परम सन्त हैं—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स सत्तमः॥[३]

पर जिन्हें इस प्रकारकी श्रद्धा नहीं है, उनके लिये कर्मत्याग अविधेय है। उनका कल्याण वेद-विहित कर्मोंको विधिपूर्वक करते रहनेमें ही है। उन कर्मोंके करते रहनेसे उनकी चित्त-शुद्धि होती है और वे क्रमशः भगवद्-भजनके अधिकारी बन जाते हैं, अन्यथा कर्मोंका त्याग करनेसे वे वेदोंका आश्रय छोड़ बैठते हैं और उच्छृंखल जीवनके भयङ्कर परिणामोंको भोगा करते हैं। ऐसे लोगोंके लिये ही श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वष्णवः॥
(वाधूल स्मृति १८९)

‘श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा है, जो मेरी आज्ञाका लल्लङ्घन करता है, वह मेरा द्वेषी है, वैष्णव नहीं।’

श्रीजीव गोस्वामीने (भागवत ११।२९।६-८ की टीकामें) कर्मको भक्ति का द्वार-स्वरूप कहा है। कर्म उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार गृहमें प्रवेश करनेके लिये द्वारमें प्रवेश करना आवश्यक है। श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी ने भी कहा है कि धर्मका उद्‌गम स्थान ही सत्कर्म है—

---

१. चै. च. २।२२।३७

२. भा. ११।११।३२

आचारप्रभवो धर्मः, सन्तश्चाचारलक्षणाः ।
(श्रीहरिभक्तिविलास ३।१० घृत भविष्योत्तरवचन)

सदाचार और शास्त्र

कर्म कौनसे करने योग्य हैं, कौनसे नहीं, यह जाननेके लिये शास्त्रका आश्रय लेना आवश्यक है। भगवान् कृष्णने अर्जुनसे कहा था—'जो लोग शास्त्र-विधिका परित्यागकर स्वेच्छासे कर्म करते हैं, वे सिद्धि लाभ करनेमें असमर्थ रहते हैं; उन्हें न सुख मिलता है, न परागति। अतः शास्त्रोक्त विधान जानकर तदनुसार ही कर्म करना चाहिये।'[1] श्रीचैतन्य महाप्रभुने शास्त्रानुगतितापर विशेषरूपसे बल दिया है। राय रामानन्दके मुखसे साध्य-साधन-तत्त्वका प्रकाश करानेके उद्देश्यसे उन्होंने कहा था—'पढ़ श्लोक साध्येर निर्णय।'[2] अर्थात् श्लोक पढ़ते हुए आप 'साध्य-तत्त्वका निरूपण करें; इस सम्बन्धमें जो कुछ कहें, उसका शास्त्रसे समर्थन करें।' सनातन श्रीगोस्वामी को भी भक्ति-शास्त्रका प्रचार करनेका आदेश देते हुए उन्होंने कहा था—

'सर्वत्र प्रमाण दिवे पुराण वचन।'[3]

अर्थात् 'भक्तिके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहना या लिखना, उसके प्रत्येक अंश का पुराण-शास्त्रादिसे समर्थन करना। गौड़ीय-वैष्णव आचार्योंने महाप्रभुके इस आदेशका अक्षरशः पालन किया है।

श्रीरूप गोस्वामीने कहा है कि शास्त्र-विधिका उल्लंघनकर श्रीहरिकी ऐकान्तिकी भक्ति करनेसे भी वह कल्याणदायक नहीं होती। वह एक प्रकार का उत्पात ही होती है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपाञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ॥[4]
(भ.र.सि. १।२।४६ धृत 'ब्रह्मयामल'वचन)

---

१. गीता १६।२३-२४

२. चै. च. २।८।५४

३. वही २।२४।२५५

४. परवर्ती श्लोकमें श्रीरूपगोस्वामीने कहा है कि ऐसी भक्ति बाहरसे ही ऐकान्तिकी-जैसी प्रतीत होती है, वास्तवमें अशास्त्रीयताके कारण वह ऐकान्तिकी नहीं होती।

श्रीजीव गोस्वामिपादने इस श्लोककी टीकामें स्पष्ट किया है कि यहाँ शास्त्र-विधिके अनुसार आचरण करनेकी जो बात कही गयी है, वह साधकों के अपने-अपने अधिकारसे सम्बद्धित शास्त्र-भागोंके लिये ही है। शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके साधनोंका उल्लेख है। जो लोग अपने अभीष्टके अनुकूल जिस साधन-पथको अङ्गीकार करते हैं, उन्हें उस साधन-पथके अनुकूल शास्त्रका ही आश्रय लेना चाहिये। श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवाके आकाँक्षी भक्तजनोंके लिये सायुज्यमुक्तिका उपदेश करनेवाले शास्त्रोंका आनुगत्य अनुकूल न होगा और सायुज्य-मुक्तिके आकाँक्षी ज्ञानी साधकोंके लिये कर्म-मार्गका उपदेश करने वाले शास्त्रोंका आनुगत्य अनुकूल न होगा।

शास्त्र-आज्ञाके विपरीत गुरु-आज्ञाका पालन करना भी श्रेयस्कर नहीं है। श्रीजीव गोस्वामीने इस सम्बन्धमें 'नारदपाञ्चरात्र' से निम्नलिखित प्रमाण उद्धृत किया है—

यो वक्ति न्यायरहितमन्यायेन शृणोति यः।
तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम्॥

'जो (गुरु) अन्यायकी बात (शास्त्र विरुद्ध बात) कहता है और जो उसका पालन करता है, उन दोनोंका अक्षय-काल पर्यन्त नरकमें बास होता है।'

गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायमें शास्त्रानुगत्यका कितना महत्व है, इसका पता इस बातसे भी चलता है कि श्रीरूप गोस्वामीपादने भगवान् श्रीकृष्ण तकके आचरणको अननुकरणीय बताया है, इसीलिये कि वह सदा शास्त्रके अनुकूल नहीं होता। 'उज्ज्वलनीलमणि' में उन्होंने कहा है—

वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत्।
इत्येव भक्तिशस्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः॥[1]

'जो लोग अपनी मंगल-कामना करते हैं, उन्हें भक्तवत् आचरण करना चाहिये, न कि कृष्णवत्। यही है भक्ति-शास्त्रोंका निर्णीत तात्पर्य।'

इस श्लोककी टीकामें श्रीजीव गोस्वामीने लिखा है कि 'कान्तारसकी बात तो दूर, अन्य रसोंमें भी श्रीकृष्णका भाव अनुकरणीय नहीं है; भक्तोंमें भी सिद्ध भक्तोंका भाव सदा अनुकरणीय नहीं है; क्योंकि वे भी कभी-कभी

१. उ. नी. म कृष्णवल्लभा प्रकरण, १२।१

आवेशमें कृष्ण जैसा आचरण करने लगते हैं, जैसे गोपियाँ विरहमें श्रीकृष्णका ध्यान करते-करते उनसे तादात्म्य प्राप्तकर उनकी जैसी लीला करने लगती हैं। केवल साधक-भक्तोंका भक्तिशास्त्रानुमोदित आचरण ही अनुकरणीय है।'

सामान्य सदाचार

सदाचारके कुछ सामान्य नियम हैं, जैसे झूठ न बोलना, हिंसा न करना, परस्त्री-गमन न करना इत्यादि। कुछ विशेष नियम हैं जो विभिन्न वर्ण और आश्रमके लोगोंके लिये हैं, जैसे ब्राह्मणके लिये वेदाध्ययन करना, शूद्रके लिये सेवा करना, ब्रह्मचारीके लिये ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना, गृहस्थके लिये सन्तानका पालन-पोषण करना इत्यादि। यह सब नियम अवश्य पालनीय हैं। श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने इस सम्बन्धमें हरिभक्ति विलासमें भविष्योत्तर पुराणके कृष्ण-युधिष्ठिर सम्वादसे एक श्लोक उद्धृत करते हुए कहा है—सदाचार-विहीन व्यक्तिके यज्ञ, दान, तपस्यादि सभी पुण्य कर्म उसी प्रकार दूषित होते हैं, जिस प्रकार नर-कपालमें या कुत्तेके चमड़ेसे बने पात्रमें जल या दुग्ध दूषित होता है। आचारहीन व्यक्तिको न इस लोकमें सुख मिलता है, न परलोक में—

कपालस्थं यथा तोयं श्वदृतौ वा यथा पयः।
दुष्टं स्यात् स्थानदोषेण वृत्ति हीने तथा शुभम्॥
आचार रहितो राजन्नेह नामुत्र नन्दति इति।

इनके अतिरिक्त कुछ विशेष नियम हैं कर्म, योग, ज्ञान और भक्तिपथ के लिये। यह बहुत कुछ समान होनेपर भी किसी-किसी अंशमें एक-दूसरेसे भिन्न हैं। प्रत्येक पथके साधकके लिये उस पथसे सम्बन्धित आचारके नियमों का पालन करना आवश्यक है। न करनेसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती। महाप्रभुके सम्प्रदायका साधन-पथ है शुद्धा-भक्ति। इसलिये हम यहाँ केवल शुद्धा-भक्तिसे सम्बन्धित बैष्णवाचारके उन मुख्य-मुख्य नियमोंका उल्लेख करेंगे, जिनपर महाप्रभुने विशेष बल दिया है।

वैष्णव-सदाचार

हम पहले कह चुके हैं कि गौड़ीय-वैष्णव धर्मके अनुसार सदाचारका मूल है भक्ति। भक्तिका मूल है शरणागति। शरणागतिका अर्थ है—एकमात्र

श्रीकृष्णके शरणागत होना। शुद्धा-भक्तिके साधक-वैष्णवके आचार सम्बन्धी जितने भी नियम है, वे सब शरणागतिके लक्षण, उपलक्षण या उनके स्वाभाविक परिणाम हैं। शरणागतिके छः लक्षण हैं—(१) आनुकूल्यका संकल्प, (२) प्रतिकूलका वर्जन, (३) भगवान् मेरी रक्षा करेंगे—यह विश्वास, (४) रक्षकरूपमें भगवान्‌का वरण, (५) आत्मसमर्पण और (६) कार्पण्य (आर्तिज्ञापन)।

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥[1]

वैष्णवाचारके बहुतसे नियम शरणागतिके प्रथम दो लक्षण 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' के परिणाम हैं। उनमें मुख्य हैं—असत्-सङ्ग-त्याग, स्त्री-संगीके संगका त्याग, कृष्णाभक्तका संग त्याग, वर्णाश्रम-धर्मका त्याग और अकिंचनत्व, जिनका महाप्रभुने सनातनगोस्वामी से इस प्रकार वर्णन किया है—

असत्-संग-त्याग, एइ वैष्णव आचार।
स्त्रीसंगी एक असाधु-कृष्णाभक्त आर॥
ए सब छाड़िया आर वर्णाश्रम धर्म।
अकिंचन हञा लय कृष्णैक शरण॥[2]

इनके अतिरिक्त कुछ और नियम हैं, जिनपर महाप्रभुने विशेष बल दिया है। वे हैं अभिमानका त्याग, सहिष्णुताका पालन, ज्ञान और वैराग्यके लिये स्वतन्त्ररूपसे प्रयास न करना, अपराधोंसे दूर रहना, वैष्णव-व्रतोंका पालन करना और वैष्णव-चिन्ह धारण करना।

असत् संग-त्याग

असत् संग-त्यागका आशय असत्-वस्तु और असत् कर्मका त्याग ही नहीं, सत् वस्तु और सत्-कर्मका ग्रहण, अर्थात् सत्संग भी है। सत्वस्तु हैं केवल अनादिरादि सर्वकारणकारण, सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीकृष्ण। इसलिये सत्संगका अर्थ है श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीलादिके स्मरण-कीर्तन,

---

१. ह. भ. वि. ११।४१७ धृत 'श्रीवैष्णवतन्त्र' वचन।
२. चै. च. २।२२।४९-५०

श्रीमूर्तिके अर्चन-पूजन और श्रीकृष्णमें अनुरक्त उनके भक्तोंके संग आदि महाप्रभु द्वारा उपदिष्ट भक्तिके चौंसठ अंगोंके अनुष्ठानके माध्यमसे श्रीकृष्ण का संग। असत्संगका अर्थ है श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य वस्तुओंका संग या उनमें आसक्ति और श्रीकृष्णके स्मरण-कीर्तन-पूजनादिकी जगह अन्य वस्तुओं का स्मरण-कीर्तन-पूजनादि। असत्संग या दुःसंगका अर्थ महाप्रभुने किया है "श्रीकृष्ण-भक्ति बिना अन्य कामना"—

दुःसंग कहिये कैतव आत्मवञ्चना।
कृष्ण - भक्ति बिना अन्य कामना॥
(चै. च. २।२४।७०)

उन्होंने असत्संगके दो मुख्य रूपोंका वर्णन किया है—

(१) स्त्रीसंगीका संग और
(२) कृष्णाभक्त संग

स्त्री संगीका अर्थ केवल परस्त्री संग ही नहीं, अपनी स्त्रीमें आसक्ति भी है। महाप्रभुने कहा है कि शिश्नोदर-परायण व्यक्तिको, चाहे वह अपनी स्त्रीमें आसक्त हो या परस्त्रीमें, कृष्णकी प्राप्ति कभी नहीं होती—

"शिश्नोदरपरायण कृष्ण नाहिं पाय।"
(चै. च. ३।६।२२५)

श्रीमद्भागवतका एक श्लोक (३।३१।३५) उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है कि स्त्रीसंग या स्त्रीसंगीके संगसे जैसा मोह और संसार-बन्धन होता है, वैसा और किसी व्यक्तिके संगसे नहीं होता। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने भा. ३।३१।४० श्लोककी टीकामें लिखा है—"स्त्रियाँ हैं देवनिर्मित मायाविशेष। उनके संश्रवमें जाना ही ठीक नहीं। यदि कोई स्त्री किसी पुरुषको विरक्त और निष्काम जानकर अपना भी निष्काम भाव दिखलाते हुए केवल सेवा-सुश्रूषाके लिये उसके निकट जाय तो भी उसे अपना अमंगलकारी जानना चाहिये—उसे तृणाच्छादित कूपके समान स्त्रीके वेषमें अपनी मृत्यु ही समझना चाहिये। स्त्री यदि भक्तिमती, ज्ञानमती एवं वैराग्यमती हो, उन्मादरोगवशतः अचेतना हो, निद्रिता हो, या मृता हो, तो भी उससे दूर रहना चाहिये।"

महाप्रभुने छोटे हरिदासको, जो उन्हें गम्भीरामें नित्य कीर्तन सुनाया करते थे, केवल इसलिये त्याग दिया कि वे भगवान् आचार्यकी आज्ञासे

महाप्रभुके निमन्त्रणके निमित्त भगवान् आचार्यके घरसे वृद्धा तपस्विनी माधवीदासीसे चावलकी भिक्षा माँग लाये थे। इससे उन्हें महाप्रभुके स्थान में प्रवेश करनेकी मनाही होगयी और उन्हें महाप्रभुको नित्य कीर्तन सुनाने की सेवासे वंचित होना पड़ा। श्रीरूप, दामोदरादिने जब महाप्रभुसे उन्हें इस 'अल्प' अपराधके लिये क्षमा कर देनेका आग्रह किया, तब उन्होंने कहा—'मैं प्रकृतिसम्भाषी वैरागीका दर्शन नहीं कर सकता। यदि तुम लोग फिर मुझसे इस प्रकारका अनुरोध करोगे तो मुझे यहाँ न देख पाओगे।' एक वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करनेपर भी जब महाप्रभुने छोटे हरिदासको अङ्गीकार न किया, तब उन्होंने प्रयाग जाकर त्रिवेणीमें देह विसर्जन कर दिया! दिव्यदेह प्राप्त कर वे अदृश्य रूपसे महाप्रभुको कीर्तन सुनाने लगे। महाप्रभु जानते थे कि छोटे हरिदास स्त्रीसंगी नहीं हैं और उन्होंने माधवीदेवीसे उनके अपने ही लिये भिक्षान्न लाकर कोई अपराध नहीं किया था। पर बाह्यदृष्टिसे उन्होंने शास्त्राज्ञाका उल्लंघन किया था; क्योंकि शास्त्रमें वैरागीके लिये स्त्रीके सान्निध्यमें जाने और उससे वार्तालाप करनेका निषेध है। शास्त्रकी मर्यादा रखनेके लिये और शास्त्रकी इस आज्ञाको विशेषरूपसे साधकके हितमें जान लोक-शिक्षाके लिये उन्होंने उनके प्रति ऐसा कठोर व्यवहार किया।

कृष्णाभक्त-सङ्गत्यागके सम्बन्धमें श्रीरूपगोस्वामीने कहा है कि कृष्ण-चिन्ता-विमुखोंके सहवासका क्लेश भोग करनेसे अग्नि-शिखामय पिंजरमें वास करना अच्छा है। सर्प, व्याघ्र या जोंकका आलिङ्गन करना पड़े तो भले ही करले, पर वासनारूप-शल्यविद्ध नाना देवोपासक कृष्णाभक्तका सङ्ग कभी न करे। सदाचारी व्यक्तिका भी सङ्ग नहीं करना चाहिये, यदि वह भगवद्भक्तिविहीन हो। मुख्यरूपसे असाधु वही हैं, जो भगवद्भक्ति रहित हैं। उनकी सदाचारनिष्ठा होनेपर भी सद्गति नहीं होती—

भगवद्भक्तिहीना ये मुख्याऽसंतस्त एव हि।
तेषां निष्ठा शुभा क्वापि न स्यात् सच्चरितैरपि ॥[1]

महाप्रभु श्रीवास पण्डितके घर रात्रिमें दरवाजा बन्दकर भक्तों सहित नृत्य-संकीर्तन किया करते थे। एकदिन नृत्य-संकीर्तन आरम्भ करनेके कुछ बाद वे बोले—'आज हृदयमें स्फूर्ति नहीं होरही है, लगता है किसी बहिरंग व्यक्तिका यहाँ प्रवेश हुआ है।' यह सुन श्रीवासपण्डितने कहा—'कोई ऐसा

१. ह. भ. वि. १०।२२९

वैसा व्यक्ति तो नहीं, एक दुग्धपायी तपस्वी ब्राह्मण, जो बिल्कुल निष्पाप और आजन्म ब्रह्मचारी है, यहाँ आया हुआ है।' महाप्रभुने क्रुद्ध होकर तत्काल उसे निकाल देनेका आदेश दिया और बोले—'जबतक जीव उनके शरणागत न हो, तबतक कहीं दूध पीनेसे, ब्रह्मचर्य पालन करनेसे, या तप करनेसे भगवान् मिलते हैं ?'

वर्णाश्रमधर्म-त्याग

हम पहले कह चुके हैं कि वर्णाश्रमधर्म, जिससे केवल इस लोक और परलोकमें भोग्य वस्तुओंकी प्राप्ति होती है, भक्तिका अंग नहीं है—

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥
(भ. र. सि. १।२।२५)

इसलिये भक्तको वर्णाश्रमधर्मका परित्यागकर देना चाहिये। वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाला व्यक्ति यदि कृष्ण-भजन नहीं करता, तो अपने धर्मका पालन करते हुए भी रौरव भोग करता है—

चारिवर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहिं भजे।
स्वधर्म करियाओ से रौरवे पड़ि भजे ॥
(चै. च. २।२२।१९)

वर्णाश्रमधर्म परित्यागकर हरिभजन करनेवाला व्यक्ति भजनसे च्युत भी हो जाय, या उसकी मृत्यु भी होजाय, तो उसका अकल्याण नहीं होता।[1] भगवान् कृष्णने गीतामें कहा है—"न में भक्त प्रणश्यति।" उद्धवसे भगवान् ने कहा था—"मनुष्य जब सब कर्मोंका त्यागकर मुझमें आत्म-समर्पणकर देता है, तब उसके लिये विशेष कुछ करनेको मेरा मन आतुर हो पड़ता है"।[2] श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुसार भगवान् तब उसे अपने समान ही कर लेते हैं—

शरण लइञा करे कृष्णे आत्मसमर्पण।
कृष्ण तारे करे तत्काले आत्मसम ॥
(चै. च. १।२२।५८)

---

१. भा. १।५।१७

२. वही ११।२९।३४

तब वह अंत्यज होनेपर भी चारों वर्णोंसे श्रेष्ठ और उनका पूज्य हो जाता है। इसीलिये महाप्रभुके अभिन्न कलेवर श्रीअद्वैताचार्यने यवनकुलमें आविर्भूत परम भागवत श्रीहरिदास ठाकुरको अपने पिताके श्राद्धका पात्रान्न खिलाने में संकोच नहीं किया था। हरिदास ठाकुरके आपत्ति करनेपर उन्होंने कहा था—

"तुमि खाइले हय कोटि ब्राह्मण भोजन।"

अर्थात्, तुम्हें भोजन कराना कोटि ब्राह्मणोंको भोजन करानेके समान है।

अकिंचन होना

अकिंचन होना शरणागतिके विशेष लक्षण श्रीकृष्णमें आत्मसमर्पणका स्वाभाविक परिणाम है। अकिंचनका अर्थ है कृष्ण-भक्तिके अतिरिक्त और सब कामनाओंका त्याग। जिसने अपना तन-मन सबकुछ श्रीकृष्णको समर्पित कर दिया उसकी और कामना ही क्या हो सकती है? वह मुखसे कहता है—"प्रभु! मैं तुम्हारा हूँ", मनसे उनके प्रति उसी प्रकारका भाव रखता है और शरीरसे उनकी लीला-स्थलीका आश्रय लेकर रहता है। ऐसा कर वह एक विशेष प्रकारके आनन्दका अनुभव करता है—

तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन्।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः॥
(ह. भ. वि. ११।४१८)

उस आनन्दमें वह ऐसा डूब जाता है कि फिर उसे किसी वस्तुकी कामना ही नहीं रहती।

अभिमान-त्याग

अभिमान भी कृष्ण-भक्तिके प्रतिकूल है। श्रीनरोत्तम ठाकुरने कहा है, "अभिमानी भक्तिहीन", अर्थात् अभिमानी कभी भक्त नहीं होता। भक्त स्वाभाविकरूपसे सभी जीवोंको अन्तर्यामीरूपमें भगवान्‌का अधिष्ठान जानकर उनका सम्मान करता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो भगवान्‌के प्रति अपराध करता है और इस बातको सिद्ध करता है कि वह पूर्णरूपसे भगवान्‌के शरणागत नहीं है। जीवका स्वाभाविक अभिमान है—श्रीकृष्णदासाभिमान। पाञ्चभौतिक देहमें आत्मबुद्धिरूप अभिमान आगन्तुक और मायाद्वारा आरोपित है। यही अभिमान धन-जन, रूप, कुल, विद्यादि अभिमानका

मूल है। इसलिये इसका त्याग आवश्यक है। इसे दूर करनेके लिये महाप्रभु का आदेश है कि साधक अपने-आपको तृणसे भी तुच्छ जानकर और वृक्षके समान सहिष्णु होकर, स्वयं किसी प्रकारके सम्मानकी कामना न करते हुए और सभी जीवोंको सम्मान देते हुए निरन्तर हरिनाम-कीर्तन करे—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥[१]

दूसरोंका सम्मान करनेसे अपने अभिमानका नाश होता है। इसलिये चैतन्य-भागवतमें ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल और कुत्ते तकको सम्मानके साथ दण्डवत् करनेका उपदेश है। इतना ही नहीं, इसे वैष्णवताकी कसौटी माना गया है। जो ऐसा नहीं करता, उसे वैष्णवताका ढकोसला करनेवाला 'धर्मध्वजी' मात्र कहा गया है—

एई से वैष्णवधर्म—सभारे प्रणति।
सेइ धर्मध्वजी, जार इथे नाहिं रति॥[२]

स्वयं महाप्रभु 'तृणादपि सुनीचेन' श्लोककी सजीव मूर्ति थे। सर्वमान्य और सर्वपूज्य होते हुए भी वे भक्तोंकी पदधूलि लिया करते थे।

सहिष्णु होना

वैष्णवको तरुके समान सहिष्णु होना चाहिये। वृक्षको यदि कोई काटे भी तो वह कुछ नहीं कहता, चुपचाप सहनकर लेता है। उलटा काटनेवालोंको अपने पत्र-पुष्प-फलादि देनेमें संकोच नहीं करता। सूर्यके ताप और वृष्टिके अभावमें सूखकर मर जाता है, तो भी किसीसे पानी नहीं माँगता और जो कोई उसकी छायामें बैठकर ताप निवारण करना चाहता है, उसे आश्रय देकर उसकी रक्षा करता है। इसी प्रकार वैष्णव-साधकको चाहिये कि यदि कोई उसे कष्टदे तो उसपर विना क्रुद्ध हुए यह जानकर सहन करे कि वह अपने ही कर्मका फल भोग रहा है और कष्ट देनेवालेको केवल कर्मफलका वाहक जानकर सामर्थ्यानुसार उसकी सेवा करे। उसे चाहिये कि अपने किसी दुःखकी निवृत्तिके लिये किसीसे कुछ न कहे, दूसरोंका दुःख दूर

---

१. शिक्षाष्टक ३

४. चै. भा. ३।३

करनेके लिये अपनेको कष्ट भी उठाना पड़े तो कष्ट उठाकर उनका दु:ख दूर करे।

यवन हरिदासको कलमा न पढ़ने और हरिनाम-कीर्तन करनेके अपराधमें काजीने उन्हें बाइस बाजारोंमें घुमाकर बेत्राघातद्वारा मार डालने का हुकुम जारी किया। सिपाहियोंने आदेशानुसार बाइस बाजारोंमें घुमाते हुए उनपर कठोर बेत्राघात किया। पर हरिदास मरे नहीं। वे बराबर हरिनाम-कीर्तन करते रहे और मन ही मन भगवान्से प्रार्थना करते रहे, जिससे काजी और प्रहार करनेवाले सिपाहियोंका अनिष्ठ न हो। सिपाही बेत्राघात करते-करते थक गये तो बोले—"ठाकुर! तुम तो मरे नहीं, पर हमारा मरण निश्चित है। तुम्हें न मार सकनेके कारण काजी हमें अवश्य मार डालेगा।" हरिदासने अम्लान मुखसे कहा—"अच्छा, तो मैं मरता हूँ। उसी समय श्रीकृष्णका ध्यानकर वे समाधिस्त होगये। सिपाहियोंने मरा जान उन्हें गंगामें प्रवाहित कर दिया।

परम दयालु नित्यानन्द प्रभुने दुराचारी जगाइ और मधाइके उद्धार का संकल्प किया। वे मदमस्त हस्तीकी तरह उच्चस्वरसे हरिनाम-कीर्तन करते हुए उनकी बस्तीमें जा पहुँचे। जगाइ-मधाइ अपनी बस्तीमें एक अवधूत साधुके इस दु:साहसको कब सहनकर सकते थे। मधाइने मटकी उठाकर नित्यानन्द प्रभुके सिरपर दे मारी। उनके सिरसे रक्त-धार बहने लगी। संवाद पाते ही महाप्रभु दौड़ आये। प्राणाधिक नित्यानन्दके अङ्गमें रक्त देख उनके क्रोधकी सीमा न रही। वे 'चक्र-चक्र!' कहकर सुदर्शन-चक्रको आह्वान करनेलगे। पर अक्रोध, परमानन्द नित्यानन्दप्रभुने महाप्रभुको स्थिर करते हुए उनसे जगाइ और मधाइके देहोंकी भिक्षा माँगी। महाप्रभुने जगाइको और नित्यानन्दप्रभुने मधाइको आलिङ्गनके साथ देव-दुर्लभ प्रेम-भक्ति प्रदान कर कृतार्थ किया।

ज्ञान और वैराग्यके लिये स्वतंत्ररूपसे प्रयास न करना

भगवत्-स्वरूप और जीवका स्वरूप-विषयक ज्ञान भक्तिके अनुकूल और अनुपेक्षनीय है, पर जीव और ब्रह्मका ऐक्य संबंधी ज्ञान भक्तके लिये परित्यजय है, क्योंकि यह जीवके सेव्य-सेवक भावको नष्ट कर देता है। इसी प्रकार युक्त-वैराग्य भक्तिके अनुकूल है, पर फलगु-वैराग्य अनुकूल नहीं है। युक्त-वैराग्यकी परिभाषा श्रीरूप गोस्वामीने इस प्रकार की है—

"अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तवैराग्यमुच्यते ।।[1]

—जिनमें कृष्ण-निष्ठा है और जो आसक्तिहीन होकर यथायोग्य भावसे विषयोंका उपभोग करते हैं, अर्थात् उन्हीं विषयोंका उपभोग करते हैं, जो भक्तिके अनुष्ठित अंगोंकी रक्षाके लिये आवश्यक हैं और उसी परिमाण में करते हैं, जिस परिमाणमें आवश्यक हैं, उनका वैराग्य युक्तवैराग्य है।"

फल्गु वैराग्यके लिये श्रीजीवगोस्वामीने कहा है कि जो वैराग्य भक्ति के अनुकूल नहीं है, उसे फल्गु-वैराग्य समझना चाहिये।[2] चिन्मय महा-प्रसादादिको प्राकृतिक वस्तु समझकर उसका त्याग करना और भगवत्-कृपा के ऊपर निर्भर न रहकर अपनी शक्तिसे भोगवासनाओंको कुचलनेकी चेष्टा करना भक्तिके अनुकूल नहीं है। इसलिये ऐसा वैराग्य फल्गु-वैराग्य है। फल्गु-वैराग्यमें इन्द्रियोंके साथ घोर संग्राम करना पड़ता है, फिर भी भोग-वासनाओंका जड़से उत्पाटन नही होता। बाहरसे ही लगता है कि उनपर नियन्त्रण कर लिया गया है, पर वे सुप्तरूपसे हृदयमें बनी रहती हैं। माया को जीते बिना कोई वासनाओंको नहीं जीत सकता और भगवान्‌के शरणागत हुए बिना मायाको नहीं जीता जा सकता—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

(गीता ७।१४)

युक्त-वैराग्य भीतरका वैराग्य है, फल्गु-वैराग्य बाहरका वैराग्य है। युक्त-वैराग्यमें साधक बाहरसे विषयोंका उपभोग करता है, भीतरसे उनमें अनासक्त रहता है; फल्गु-वैराग्यमें वह बाहरसे विषयोंसे दूर रहता है, भीतर से उनमें आसक्त रहता है।

ज्ञान और वैराग्य किसी रूपमें भी भक्तिके अंग नहीं हैं।[3] भक्तिकी प्रथम अवस्थामें अन्य वस्तुओंसे आवेश छुटानेके लिये उनकी उपयोगिता है।[4] पर भक्तिका किंचित् उन्मेष होनेपर उनकी उपयोगिता नहीं रहती।

---

१. भ. र. सि. १।२।१२५

२. भ. र. सिं. १।२।२६ की टीका

३. चै. च. २।२२।८२

४. भ. र. सिं. १।२।१२०

वे उलटा बाधक ही होते हैं, क्योंकि उनके अभ्याससे चित्त नीरस और कठिन हो जाता है, जो आर्द्र हृदयमें पलने और फलने-फूलनेवाली सुकोमल भक्ति-लताके अनुकूल नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

"तस्मान्मद् भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिय ॥

(भा. ११।२०।३१)

अर्थात्, जिन्होंने अपना चित्त मुझे समर्पण कर दिया है, जो मुझसे भक्तियुक्त हैं, ऐसे भक्ति-योगियोंके लिये ज्ञान और वैराग्य प्रायः मंगलजनक नहीं होते।

भक्ति भगवान्‌की स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति है। भक्तिका आश्रय लेनेसे माया अपसारित होती है। मायाके अपसारणसे ज्ञान और वैराग्य अपने-आप सिद्ध होजाते हैं।[1] उनके लिये स्वतन्त्र रूपसे प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं होती। जिस हृदयमें श्रीकृष्णकी अहैतुकी प्रीतिकी लालसा घर कर लेती है, उसे वासनारूपी पखेरू अपने-आप छोड़ जाते हैं। भगवत्-विषयक ज्ञान स्वप्रकाश वस्तु है। वह ज्ञानके स्वतन्त्र प्रयाससे नहीं मिलती, केवल भक्तिके द्वारा प्राप्त होती है। शास्त्र बार-बार यही कहते हैं—'भक्तिरेव एनत दर्शयति' [2] 'भक्त्या माम अभिजानाति'।[3] 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'।[4]

अपराधोंसे दूर रहना

अपराध और पापमें भेद है। पाप अनात्म-वस्तु देहको स्पर्श करता है, अपराध आत्माको स्पर्श करता है, और भजनकी प्रगतिमें बाधक होता है। अपराध चार प्रकारके हैं—भगवदपराध, सेवापराध, नामापराध और वैष्णवापराध।

भगवदपराधका अर्थ है—भगवान्‌के प्रति अवज्ञा करना, उनके विग्रह को प्राकृत मानना, उनको नरलीलामें उन्हें मनुष्य मानना इत्यादि।

सेवापराधका अर्थ है—भगवान्‌के श्रीविग्रहकी सेवाके सम्बन्धमें अपराध। सेवापराध हैं—भगवत्सम्बन्धी उत्सवोंमें योग-दान न करना,

---

१. भा. ११२।७

२. माठर श्रुति

३. गीता १८।५५

४. भा. ११।१४।२१

अशुचि-अवस्थामें वन्दना आदि करना, एक हाथसे प्रणाम करना, श्रीविग्रह को पीठ दिखाकर प्रदक्षिणा करना, श्रीविग्रहके सामने सोना, पैर फैलाकर या जानु-बन्धन करके बैठना, भोजन करना, झूठ बोलना, उच्च स्वरसे बोलना, परस्पर आलाप करना, रोना, कलह करना, किसीके प्रति अनुग्रह या निग्रह करना, अन्य व्यक्तिका अभिवादन करना, कम्बल लपेटकर सेवा करना, पूजा करते समय मौन-भङ्ग करना या कोई भी ऐसा आचरण करना, जिससे श्रीविग्रहके प्रति अश्रद्धा, अवज्ञा, मर्यादाका अभाव या प्रीतिका अभाव जान पड़े।[1]

नामापराध दस हैं—(१) साधु-निन्दा, (२) विष्णु और शिवके नाम, रूप, लीलादिको भिन्न मानना, (३) गुरुदेवकी अवज्ञा करना, (४) वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना, (५) हरिनाममें अर्थवादकी कल्पना करना, अर्थात् शास्त्रोंमें हरिनामकी शक्तिके प्रशंसासूचक वाक्योंको अतिशयोक्ति मानना, (६) नामके भरोसे पाप करना, अर्थात् यह सोचकर पाप-कार्यमें प्रवृत्त होना कि उसके पीछे नाम लेनेसे पापके फलसे मुक्ति मिल जायगी, (७) अन्य शुभ कर्मोंके फलको नामके फलके समान मानना, (८) नाम-श्रवण या नाम-ग्रहण में अनवधानता या चेष्टाशून्यता, अर्थात् किसी भी प्रकार नामकी उपेक्षा करना, (९) नाम-ग्रहणको प्राधान्य न देना और (१०) श्रद्धाहीन और विमुख व्यक्तियोंको, जो उपदेश नहीं सुनते, या उसे ग्रहण नहीं करते, उन्हें हरिनाम का उपदेश करना।

वैष्णवापराधका अर्थ है किसी वैष्णवकी निन्दा करना, उसके प्रति द्वेष रखना, उसपर क्रोध करना, उसका अभिनन्दन न करना, उसे देखकर हर्ष-प्रकाश न करना, उसमें जातिबुद्धि रखना, या उसके प्रति किसी प्रकारका अपमानजनक व्यवहार करना। महाप्रभुने वैष्णवापराधको सबसे अधिक सांघातिक बताया है। उन्होंने कहा है कि वैष्णव-अपराध एक मत्त हस्तीकी तरह है, जो भक्तिकी कोमल लताको क्षणभरमें उत्पाटितकर छिन्न-भिन्न कर देता है।[2]

व्रतपालन एवं चिह्न-धारण

वैष्णव-साधकको एकादशी, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, रामनवमी, वामन, नृसिंह आदि जयन्ती-व्रतोंका पालन अवश्य करना चाहिये।

---

१. ह. भ. वि. ८।२००।१६

२. चै. च. २।१९।१३८-३९

वैष्णवको माला-तिलकादि चिन्होंको भी अवश्य धारण करना चाहिये। इनसे चित्तकी शुद्धि होती है और भक्तिभावका उद्दीपन होता है। जिस प्रकार सैनिककी वेश-भूषा धारण करनेसे वीरभाव जाग्रत होता है और भिखारीका भेष बना लेनेसे दीनताका भाव जाग्रत होता है, उसीप्रकार वैष्णव-चिन्ह धारण करनेसे भक्तिभाव जाग्रत होता है। इसके अतिरिक्त शास्त्रोंमें वैष्णव-चिन्होंके अपने-अपने विशेष माहात्म्यका उल्लेख है। तुलसी की कण्ठी गलेमें धारण करनेके सम्बन्धमें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि जो तुलसी काष्ठकी बनी माला कण्ठमें धारण करते हैं, वे अपवित्र और आचार भ्रष्ट होते हुए भी मुझे प्राप्त करते हैं।[1] यजुर्वेदमें कहा है कि जो उर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं। विधिके अनुसार शरीरके द्वादश अङ्गोंमें उर्ध्वपुण्ड्र तिलककी रचना द्वारा द्वादश भगवत्-स्वरूपोंको प्रतिष्ठितकर उनका ध्यान करनेसे साधकमें इस भावकी स्फूर्ति होती है कि उसका प्रत्येक अंग श्रीभगवान्‌का है और उसे भगवत्-सेवा-कार्यके अतिरिक्त और किसी कार्यमें नियोजित नहीं करना है।

• • •

---

१. ह. भ. वि. ४।१२५ धृत श्रीविष्णुधर्मोत्तरवचन

श्रीगुरु और दीक्षा

मायाबद्ध जीवकी दशा मरुभूमिके जलाशयकी उस मछलीके समान है, जो जलाशयको छोड़ विपरीत दिशामें चली जा रही है। वह जितना उस दिशामें आगे बढ़ती जा रही है, उतना जलाशयसे दूर और मृत्युके निकट होती जा रही है। सूर्यकी किरणोंसे झिलमिल करते बालुका-कण उसे जलके भण्डार जैसे प्रतीत होरहे हैं। वह उस भण्डारको प्राप्तकर चिरशान्ति लाभ करनेकी आशासे निरन्तर आगे बढ़ती जा रही है। वह आँख खोलकर आँख बन्द किये जैसी बढ़ती जा रही है मृत्युकी ओर। यदि कोई दयालु व्यक्ति उसे देखले और उसका मुख मोड़ दे जलाशयकी ओर तभी उसके प्राणोंकी रक्षा हो सकती है। मायाबद्ध जीवको भी ऐसे ही एक दयालु व्यक्तिकी आवश्यकता है, जो उसका मुख भगवान्‌रूपी सुख और शान्तिके जलाशयकी ओर मोड़कर उसे संसारकी मृगमरीचिकासे बचाले। ऐसे ही परमदयालु व्यक्ति हैं श्रीगुरुदेव।

गुरु-तत्व

श्रीकृष्णका कहना है कि गुरुको मुझे ही समझना चाहिये।[१] शास्त्रके अनुसार भी गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु, गुरु ही महादेव, गुरु ही परब्रह्म हैं और गुरुकी ही सदा पूजा करनी चाहिये—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुदेव परंब्रह्म तस्मात् सम्पूजयेत् सदा ॥[२]

---

१. भा. ११।१७।२७

२. ह. भ. वि. १३६ धृत शास्त्र-वाक्य

समष्टि-गुरु और व्यष्टि-गुरु

परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि भगवान् स्वयं ही गुरुरूप में अवतीर्ण होते हैं, या गुरु और भगवान् पूर्णरूपसे एक हैं। गुरुके दो रूप हैं—समष्टिरूप और व्यष्टिरूप। समष्टिरूपमें वे साक्षात् भगवत्-स्वरूप हैं। समष्टि रूपमें ही उन्हें 'जगद्गुरु'[1], 'गुरुर्गुरुत्तमः'[2], 'परमगुरु'[3] और 'आदि-गुरु'[4] कहा गया है। समष्टि गुरुरूपमें वे साक्षात् कृष्ण और गुरुशक्तिके मूल आश्रय हैं। समष्टि गुरुदेव सर्वावस्थामें सबके एक ही हैं। वे अद्वय-ज्ञान-तत्व हैं। वे ही व्यष्टिरूपसे प्रकट होते हैं पृथक्-पृथक् भक्तश्रेष्ठ-मूर्तिमें गुरु-शक्ति अर्पणकर पृथक्-पृथक् जीवोंपर उनके अपने-अपने अधिकारके अनुसार कृपा करनेके लिये। जिस प्रकार एक ही सूर्यका प्रकाश संसारके विभिन्न देशों, शहरों और गली-कूचोंमें छाया होनेपर भी उसकी विभिन्न किरणें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके घरोंकी खिड़कियोंमें प्रवेशकर अपने आलोकका विस्तार करती है, उसी प्रकार समष्टि गुरुरूपसे भगवान् स्वयं सभीके मूलगुरु होते हुए भी भिन्न-भिन्न भक्तावतारोंमें शक्तिरूपसे प्रकट होकर पृथक्-पृथक् जीवोंका अज्ञान-तिमिर नाश करते हैं। जिस प्रकार किसी पिपासार्त व्यक्तिकी पिपासा निवारण करनेके लिये, या उसे पवित्र करनेके लिये एक घण्टी या एक बाल्टी गङ्गाजल ही यथेष्ट है, उसके लिये समग्र कारण-समुद्र या उससे निकली गङ्गाकी समग्र धाराकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार किसी व्यक्ति-विशेषके अज्ञान-अन्धकारको दूरकर उसे कृष्ण-प्राप्ति करानेके लिये समष्टि-गुरुकी आवश्यकता नहीं होती, किसी विशेष भक्तमें अवतीर्ण मूलगुरुकी शक्ति ही यथेष्ट होती है। जैसे एक घण्टी गङ्गाजलका फल भी वही होता है, जो मूल गंगाकी धाराका होता है, वैसे ही मूलगुरुकी शक्ति-सम्पन्न व्यष्टि गुरु भी उसी प्रकार जीवपर कृपा करनेमें समर्थ होता है, जिस प्रकार मूल-गुरुरूप स्वयं भगवान् समर्थ होते हैं।

उपरोक्त शास्त्र-वाक्य, जिनमें गुरुको साक्षात् भगवत्स्वरूप कहा गया है, समष्टि-गुरुसे सम्बन्धित हैं, व्यष्टि गुरुसे नहीं। व्यष्टि गुरु तो स्वरूपतः

---

१. गोपाल सहस्रनाम ४।८।३५

२. भा. १२।३।४३

३. श्रीविष्णुसहस्रनाम स्तोत्र ३६

४. ब्रह्मसंहिता ५।३६

कृष्णदास होते हैं। उन्हें स्वयं भगवान् या विषय-विग्रह मानना भक्ति-शास्त्र और श्रीमन्महाप्रभु द्वारा अनुमोदित भक्ति-पथके विरुद्ध है। उन्हें भगवान्से अभिन्न इसलिये कहते हैं कि वे भगवान्के प्रिय होते हैं और उनमें भगवान्की शक्तिका प्रकाश होता है—

शुद्धभक्तास्वेके श्रीगुरोशिवश्च सह भगवता।
भेदत्वं तत्प्रियतमत्वे नैवमनन्यन्ते ॥[1]

शिष्यको शिक्षा-दीक्षादि देनेके समय भगवान् उनमें अपनी शक्ति संचारित करते हैं। गुरु और भगवान् स्वरूपतः एक नहीं हैं यह स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी उक्तिसे सिद्ध है। उन्होंने कहा है—"पहले गुरुदेवकी पूजा करके फिर मेरी पूजा करनी चाहिये। जो इस प्रकार करते हैं वे ही सिद्धि लाभ करते हैं।"[2] यदि गुरुदेव भगवान्से भिन्न न होते तो आगे-पीछे गुरु और भगवान्की पूजा करनेका कोई अर्थ न होता। श्रीमद्भागवतकी वैष्णव-तोषणी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने गुरु और भगवान्में भेदाभेदके सम्बन्धका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"गुरौ मदावेशेन साक्षान्मद्रूपत्वात् मद्भक्तवररूपत्वाच्चेति भावः"—अर्थात्(श्रीभगवान् कहते हैं) व्यष्टि गुरुमें मेरे आवेशके कारण साक्षात् मेरा स्वरूपत्व और मेरा भक्त श्रेष्ठत्व दोनों ही वर्तमान हैं, पर स्वयं भगवान् (आवेशके कारण भगवान् न होकर) स्वयंसिद्ध भगवत्स्वरूप हैं।[3] श्रीकृष्णके—"आचार्य मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्' वाक्यका अर्थ यही है कि श्रीगुरुमें भगवान्का आवेश या उनकी शक्तिका प्रकाश होनेके कारण वे भगवान्के ही समान पूजनीय हैं, यह नहीं कि वे स्वयं भगवान् हैं, अर्थात् शिष्यको चाहिये कि वह उनके प्रति वैसी ही श्रद्धा और भक्ति रखे, जैसी भगवान्के प्रति रखता है।[4] इस अर्थमें श्रीकविराजगोस्वामीकी निम्न उक्तिसे भी श्रीगुरुमें भगवत्-स्वरूपत्व और भगवत्दासत्व दोनों सिद्ध हैं—

---

१. भ. स. २१३

२. ह. भ. वि. ४।१३४

३. भा. १०।८०।३३

४. परन्तु यदि गुरु इस कारण अपनेको भगवान् मानकर शिष्यसे तद्रूप स्तव-स्तुति और तुलसी आदि भगवत्सेवोपकरणों द्वारा पूजा ग्रहण करे तो यह एक महान अनर्थकी बात होगी।

यद्यपि आमार गुरु चैतन्येर दास।
तथापि जानिये आमि तांहार प्रकाश ॥[१]

'श्रीगुरुदेव श्रीचैतन्यमहाप्रभुके दासरूपमें भगवान्‌के भक्त हैं और श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रकाशस्वरूपमें साक्षात् भगवत्‌स्वरूप हैं।'

श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीपादकी श्रीगुर्वष्टकमें भी श्रीगुरुके प्रति यही भाव व्यक्त किया गया है—

साक्षाद्धरित्वेन समस्त शास्त्रैरुक्तस्तथाभाव्यत एव सद्भिः।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य बन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ॥

श्रीजीवगोस्वामीने भक्ति-सन्दर्भमें तीन प्रकारके गुरुओंका वर्णन किया है—श्रवण-गुरु, शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु।[२]

श्रवण-गुरु

भगवत्तत्वादि जाननेके लिये श्रवण-गुरुकी आवश्यकता है। श्रवण-गुरु के लक्षण बताते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥[३]

अर्थात्, जो उत्तम श्रेयःकामी हैं, जो शब्द ब्रह्म-वेदमें पारदर्शी हैं, जिन्हें परब्रह्मका अपरोक्ष अनुभव है और जो उपशान्तचित्त हैं, उन्हें श्रवण-गुरुके रूपमें वरण करना चाहिये।

ऐसे तत्वज्ञ श्रवण-गुरुकी साधकको नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि जबतक वह उससे तत्वको जान नहीं लेता, जबतक वह यह नहीं समझ लेता कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, संसारका स्वरूप क्या है, भगवान् का स्वरूप क्या है और उसका कर्तव्य क्या है, उसके संसारसे पीठ मोड़कर भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। पर श्रवण-गुरु यदि केवल तत्वज्ञ ही है, यदि उसने केवल शास्त्रोंका अध्ययन करके ही तत्वको जाननेकी चेष्टा की है और उसे परब्रह्मका अपरोक्ष अनुभव नहीं है, तो

---

१. चै. च. १।१।२६

२. भ. सं., अनु. २०२-२०७

३. भा. ११।३।२१

उसका आश्रय लेनेसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि उसके उपदेशका जिज्ञासुपर कोई विशेष प्रभाव नहीं होने का।

ब्रह्मवैवर्त पुराणमें उपदेष्टा दो प्रकारके कहे गये हैं—सराग और नीराग। सराग वे हैं, जो लोभी और कामी हैं और केवल इस उद्देश्यसे उपदेश देते हैं कि श्रोतासे कुछ मिल जाय, बिना इस बातका विचार किये कि वह उस उपदेशका अधिकारी है या नहीं[1]। नीराग वे हैं, जिन्हें किसी प्रकारका लोभ नहीं और जो सरस और सारग्राही हैं। ऐसे नीराग उपदेष्टा को ही श्रवण-गुरु रूपमें वरण करना चाहिये, क्योंकि उनके उपदेशसे काम-क्रोधादियुक्त विषादग्रस्त व्यक्ति भी अवश्य लाभान्वित होते हैं। उन्हें श्रवण-गुरु रूपमें वरण करनेके लिये उनके कुल, शील, और आचारादिका विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं।[2]

श्रवण-गुरु एक ही हो ऐसी कोई बात नहीं। श्रीमद्भागवतमें आवश्यकतानुसार एकसे अधिक श्रवण-गुरुओंकी बात कही गयी है।[3]

शिक्षा गुरु

श्रवण-गुरुसे तत्व-कथा सुननेके बाद जीवमें भजन करनेकी इच्छा जाग सकती है। जिस व्यक्तिसे भजन सम्बन्धी शिक्षा ग्रहण की जाती है वह शिक्षा-गुरु होता है। श्रवण-गुरु भी शिक्षा-गुरु होसकता है, क्योंकि शिक्षा गुरुके भी साधारण लक्षण वही हैं, जो श्रवण-गुरुके हैं। श्रवण-गुरुके ही समान शिक्षा-गुरु भी अनेक हो सकते हैं। पर शिक्षा-गुरुका अपने भावके अनुकूल

---

१. वक्ता सरागो नीरागो द्विविधः परकीर्तितः।
सरागो लोलुपः कामी तदुक्तं हृन्न संस्पृशेत्।
उपदेशं करोत्येव न परीक्षां करोति च।
अपरीक्ष्योपदिष्टं यत् लोकनाशाय तद्भवेत्॥

२. कुलं शीलमाचारमविचार्य गुरुं गुरुम्।
भजते श्रवणाद्यर्थी सरसं सार-सागरम्॥
कामक्रोधादियुक्तोऽपि कृपणोऽपि विषादवान्।
श्रुत्वा विकाशमायाति स वक्ता परमोगुरुः॥ —ब्रह्मवैवर्त पुराण

३. भा. ११।५।२६

होना आवश्यक है। ऐसा नहीं होनेसे भजनमें लाभके बजाय हानि हो सकती है।

दीक्षा-गुरु

जो यथाविधि उपासनाका मन्त्र प्रदान करते हैं, उन्हें मन्त्र-गुरु कहते हैं। मन्त्र-गुरु शिष्यको मन्त्र दीक्षा द्वारा समस्त पापोंसे और संसार-बन्धनसे मुक्त कर उसे भगवत् स्वरूपका ज्ञान कराते हैं और भगवान्‌से उसका दास्य, सख्य, वात्सल्यादि सम्बन्ध स्थापित करते हैं। गुरु-मन्त्रकी इस शक्तिपर अविश्वास नहीं करना चाहिए। गुरु-परम्परा प्राप्त लौकिक मन्त्रोंकी अलौकिक शक्तिसे तो हम परिचित हैं ही। फिर भगवान् और नारदादि ऋषियों से परम्परागतरूपसे प्राप्त सिद्ध मन्त्रोंकी इस प्रकारकी अमोघ शक्तिमें अविश्वास करनेका क्या कारण है? श्रीविष्णुयामलके अनुसार श्रीगुरुके मन्त्र दान करनेसे शिष्यको दिव्य ज्ञान होता है और उसके पापोंका क्षय होता है, इसीलिये इसे दीक्षा कहते हैं।[1] श्रवण-गुरु और शिक्षा-गुरु एकसे अधिक हो सकते हैं, पर दीक्षा-गुरु एक ही हो सकता है—'मन्त्रगुरुस्त्वेक एवेत्याह'। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने श्रीमद्भागवतके 'मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत'[2] और 'तस्माद् गुरुं प्रपद्यते'[3] श्लोकोंके आधार पर प्रमाणित किया है कि मन्त्रोपदेष्टा गुरु एक ही हो सकता है।

दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् ही शिष्यको अर्चनादिका अधिकार प्राप्त होता है। श्रीहरिभक्ति-विलासमें श्रीविष्णु-रहस्यके एक श्लोक[4] के आधार पर लिखा है कि पूर्व-पूर्व महाजनोंद्वारा उपदिष्ट श्रीहरिकी पूजा-विधिके विषयमें जबतक श्रीगुरुसे विशेष रूपसे उपदेश न लिया जाय तबतक

---

१. दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्। तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्व कोविदैः। (दीक्षा: दी—दिव्यज्ञानदान एवं क्षा—पापका क्षालन)।

२. भा. ११।१०।५

३. भा. ११-३।२१

४. अविज्ञाय विधानोक्तां हरिपूजा विधिक्रियाम्।
कुर्वन् भक्त्या समाप्नोति शतभागत् विधानतः॥
—(ह. भ. वि. २।८ धृत श्रीविष्णुरहस्य-वाक्य)

विधिपूर्वक और भक्ति सहित अर्चन करनेसे भी पूजा-फल का सौवाँ हिस्सा ही प्राप्त होता है।

दीक्षा-गुरुके लक्षण

श्रीजीव गोस्वामीने श्रवणगुरु, शिक्षागुरु और दीक्षागुरुके लक्षणोंका अलग-अलग वर्णन नहीं किया है। उन्होंने केवल श्रवणगुरुके लक्षणोंका ही वर्णन किया है। उनका अभिप्राय है कि साधारणतया जो लक्षण श्रवणगुरुके हैं वही शिक्षागुरु और दीक्षागुरुके भी हैं। इसलिये जो श्रवणगुरु है, वही शिक्षागुरु और दीक्षागुरु भी होसकता है। पर दीक्षागुरु एकसे अधिक नहीं होसकते और जिसे दीक्षागुरुके रूपमें एकबार वरण कर लिया, उसे शास्त्रके अनुसार त्यागा भी नहीं जासकता। इसलिये आवश्यक है कि शिष्य दीक्षा ग्रहण करनेके पहले अच्छी तरह समझ ले कि दीक्षा देनेवालेके लक्षण किस प्रकार होने चाहिये। श्रीहरिभक्तिविलासमें मन्त्र-मुक्तावलीके आधारपर दीक्षागुरुके लक्षण इस प्रकार वर्णित हैं—

"सद्वंशजात, पातित्यादि दोषरहित, आचारवान्, आश्रमी, क्रोधहीन, वेदवित, सर्वशास्त्रज्ञ, श्रद्धावान्, अदोषदर्शी, प्रियवादी, प्रियदर्शन, शुचि, सुवेशधारी, भक्तितरुण, सर्वभूतोंके हितमें निरत, धीमान्, स्थिरमति, पूर्ण (आकाँक्षाहीन), अहिंसक, तत्वविचारक, वात्सल्यादि-गुणयुक्त, भगवत्-पूजामें कृतमति, कृतज्ञ, शिष्यवत्सल, निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ, होम-मन्त्र-परायण, तर्क-वितर्क प्रकारज्ञ, शुद्ध चित्त और कृपालु, इन सब लक्षणोंसे विशिष्ट गुरु ही गरिमाकी निधिस्वरूप हैं।"[1]

श्रीहरिभक्तिविलासमें ही गुरुके लक्षणके सम्बन्धमें विष्णु स्मृतिका निम्न प्रमाण उद्धृत किया है—

"जो निस्पृह, सर्वप्रकारसे सिद्ध, सर्वविद्या-विशारद, सब प्रकारके संशयोंका छेदन करनेमें समर्थ और निरलस हैं, वे ही गुरु-नामसे अभिहित होते हैं।"[2]

---

१. ह. भ. वि. १।३२-३३ धृत मन्त्रमुक्तावली प्रमाणका अनुवाद।

२. निस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः।
सर्व संशय संछेत्ताऽनलसो गुरुराहृतः॥
(ह. भ. वि. १।३५ धृत विष्णुस्मृति प्रमाण)

जाति और कुल

उपरोक्त उद्धरणसे ज्ञात होता है कि गुरुका सद्वंशजात होना आवश्यक है। परन्तु हम ब्रह्मवैवर्त पुराणके आधारपर पहले ही कह चुके हैं कि नीराग, ब्रह्मनिष्ट व्यक्तिको गुरु रूपमें वरण करनेके लिये उसके जाति-कुलादिके सम्बन्धमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय।
जेई कृष्ण तत्ववेत्ता सेई गुरु हय॥[1]

—जो कृष्ण-तत्ववेत्ता हैं वे ही गुरु होने योग्य हैं, वे चाहे ब्राह्मण हों, चाहे संन्यासी या शूद्र। मनुसंहितामें भी कहा गया है—

श्रद्धधान: शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परंधर्मं स्त्री रत्नं दुष्कुलादपि॥[2]

—श्रद्धायुक्त होकर दूसरे लोगोंसे भी श्रेयस्करी विद्या ग्रहणकर लेनी चाहिये। अति अन्त्यज और चण्डालादिसे भी परम धर्म लाभ करना चाहिये और स्त्री-रत्न यदि दुष्कुल जात हो, तो भी ग्रहणकर लेना चाहिये।

इन वाक्योंमें जो विरोध है उसका समाधान इस प्रकार है। साधारण विधि यही है कि जो कृष्णतत्ववेत्ता है, अर्थात् जिसे भगवान्‌का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त है और जिसमें गुरुके शास्त्रोक्त लक्षण वर्तमान हैं, वह गुरु होने योग्य है, चाहे वह किसी भी जाति या कुलका क्यों न हो। पर जिन लोगोंमें जाति-कुलका अभिमान है और जिन्हें अपनेसे निम्नवर्णके व्यक्तिको गुरुरूपमें ग्रहण करनेमें समाजसे लाँछित होनेका भय है, उनके लिये विशेष विधि यह है कि उन्हें अपनेसे निम्नवर्णके किसी व्यक्तिसे दीक्षा नहीं लेनी चाहिये, क्योंकि यदि समाजद्वारा तिरस्कृत होनेपर उन्हें गुरुके प्रति अश्रद्धा होगयी तो उनका इस लोक और परलोक दोनोंका नष्ट होजाना निश्चित है।

गौड़ीय-वैष्णव आचार्योंने इस बातमें सन्देहके लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा है कि वैष्णवी दीक्षाका महत्व विप्रत्वसे कहीं अधिक है। श्रीजीव-गोस्वामीके अनुसार "विप्र" का अर्थ है 'परम-विद्या-प्रवीण'। परम-विद्या है

---

१. चै. च. २।८।१००

२. २।२३८

भक्ति। इसलिये 'विप्रत्व' का अर्थ है 'भक्ति निपुणता'।[1] कहा जाता है "वेद पाठाद् भवेद् विप्रः"—वेदपाठी ही विप्र है। वेद-पाठका मुख्य फल है दिव्यज्ञान, जो वैष्णवी-दीक्षा प्राप्त करनेवाले व्यक्तिको दीक्षाके साथ ही हो जाता है, क्योंकि उसे दीक्षाके समय जो मन्त्र मिलता है, उससे उसे अपने भगवान्‌के साथ सम्बन्धका ज्ञान होजाता है। इसलिये दीक्षाके साथ-साथ सभी लोगोंको विप्रत्व प्राप्त होजाता है, चाहे वे ब्राह्मण हों या शूद्र, पुरुष हों या स्त्री।

कर्म-मार्गके अनुसार ब्राह्मण-पत्नियोंको वेद पाठादिका अधिकार नहीं है। इसलिये वे मन्त्रपाठ और यागादि कर्म नहीं कर सकतीं। परन्तु जीवगोस्वामीका मत है कि पाञ्चरात्रिक विष्णु-दीक्षाके उपरान्त ब्राह्मण-पत्नियोंको ही नहीं, चांडाल-पत्नी तकको दीक्षा-मन्त्रके साथ शालग्रामके अर्चनका अधिकार प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि विष्णु-दीक्षासे चांडाल और उनकी पत्नियों तकको विप्रत्व प्राप्त होजाता है,तो क्या उन्हें विप्रोंके समान उपनयन संस्कार और अन्यान्य कर्माधिकार भी प्राप्त होजाते हैं? इसके उत्तरमें श्रीजीवगोस्वामीका कहना है कि यदि श्वपच भी श्रीभगवन्नाम-श्रवण, कीर्तन या स्मरण, इनमेंसे कोई भी एकबार करले, तो उसे उसी क्षण सोम-यज्ञ करनेकी योग्यता प्राप्त होजाती है, जो ब्राह्मणकुमारको भी उपनयन संस्कार के पूर्व नहीं होती। सोमयज्ञकी योग्यतामें बाधक उसके पूर्वजन्मके पापकर्म ही तो हैं,जिनके फलस्वरूप नीच जातिमें उसका जन्म हुआ है। वे भगवन्नाम श्रवण-कीर्तनादिमें से किसी एकके प्रभावसे आनुषंगिकरूपसे ही नष्ट होजाते हैं। यदि श्वपचादि वैष्णवी-दीक्षा ग्रहण करनेके बाद कर्मकांडीय यज्ञोंकी योग्यता प्राप्त कर लेनेपर भी उनका याजन नहीं करते, तो उसका कारण है केवल प्रचलित शिष्टाचार, उनकी इस प्रकारके कर्मोंमें अपनी अरुचि और उनके लिये इनकी अनावश्यकता।[2]

वैष्णवी-दीक्षामें कर्मकांडीय संस्कारोंकी अनावश्यकता इससे सिद्ध है कि नारद मुनिने पाँच वर्षके राजकुमार ध्रुवको, जिसका क्षत्रियोचित

१. श्रीसंक्षेप-वैष्णवतोषणी १०।१६।२

२. क्रम सन्दर्भ ३।३३।५

उपनयन संस्कार अभी नहीं हुआ था, प्रणव संयुक्त श्रीनारायण मन्त्र प्रदान किया था और मन्त्रमूर्ति श्रीनारायणकी अर्चन विधिकी शिक्षा भी दी थी।

सात्वत-शास्त्रोंमें विष्णु-मन्त्रकी दीक्षा-प्राप्त व्यक्तिको "द्विजाधिक:—द्विजसे भी श्रेष्ठ" कहा है, क्योंकि साधारण विप्रको तो कर्मकाण्डका ही अधिकार होता है, जबकि विष्णु-दीक्षामें दीक्षित व्यक्ति श्रेष्ठ भागवत-धर्मका अधिकारी होता है।[1] प्रेम-विलास ग्रंथमें कायस्थकुलोद्भव श्रीनरोत्तमठाकुर के चरित्रमें एक घटनाके प्रसङ्गमें यही भाव व्यक्त करते हुए कहा है कि विष्णु-परायण व्यक्तिके अन्तरमें यज्ञोपवीत वर्तमान रहता है, अर्थात् वह बिना संस्कारके ही द्विजत्वको प्राप्त हुआ रहता है—

नरोत्तमे जे पापिष्ट शूद्र बलि कय।
सवंशे नरके जाय नाहिक संशय॥
विष्णुभक्ति-परायण जैई जन हय।
ताहार अन्तरे पैता[2] जानिह निश्चय॥[3]

चैतन्य-भागवतमें श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने कहा है कि जिस-किसी कुलमें भी वैष्णवका जन्म क्यों न हो वह सभी वर्णोंसे श्रेष्ठ है। इसके प्रमाण में उन्होंने यवन हरिदासका उदाहरण देते हुए कहा है कि उन्हें परब्रह्मके उस प्रकाशके दर्शन हुए, जो श्रेष्ठ वर्णके लोगोंकी कौन कहे, वर्णोंके सृष्टि-कर्ता ब्रह्माको भी दुर्लभ है—

जे ते कुले वैष्णवेर जन्म केने नहे।
तथापिह सर्वोत्तम सर्व शास्त्र कहे॥
एइ तार प्रमाण यवन हरिदास।
ब्रह्मादिर दुर्लभ देखिल प्रकाश॥[4]

श्रीजीवगोस्वामीने गरुण पुराणका प्रमाण देते हुए कहा है कि सहस्र ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक याज्ञिक ब्राह्मण श्रेष्ठ है, सहस्र याज्ञिक ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक शास्त्रज्ञ ब्राह्मण श्रेष्ठ है, सर्ववेदान्त शास्त्रवित् कोटि-कोटि

---

१. श्रीसुन्दरानन्द : वैष्णव सिद्धान्ते श्रीगुरुस्वरूप, पृष्ठ ४५

२. यज्ञोपवीत

३. प्रेमविलास, १९ विलास, पृष्ठ ३२५

४. चै. भा. २।१०।१००-१

ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक विष्णु-भक्त श्रेष्ठ है और सहस्र विष्णु-भक्तोंकी अपेक्षा एक एकान्तिक विष्णु-भक्त श्रेष्ठ है।[1]

गौड़ोय-वैष्णव आचार्योंने दीक्षा-गुरुके सम्बन्धमें जाति-कुलादिका विचार न करनेके सिद्धान्तकी पुष्टि अपने आचरणसे भी की है। श्रीनरोत्तम ठाकुर, श्रीनरहरि सरकार ठाकुर, श्रीमुकुन्द ठाकुर, श्रीकानु ठाकुर, श्री-श्यामानन्द प्रभु, श्रीरसिकानन्द प्रभु आदि आचार्योंने जो कायस्थ, वैद्य, गोप और करणादि जातिके थे, बहुतसे ब्राह्मणोंको दीक्षा दी है।

परम्परा

गुरु किसी भो वर्ण या जातिका हो, उसका वैष्णव होना आवश्यक है। इस सम्बन्धमें हरिभक्तिविलासमें पद्मपुराणका यह श्लोक उद्धृत किया है—

महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः।
सहस्र शाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः॥
गृहीत विष्णु-दीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः ॥

—हरिभक्तिविलास १।४०-४१ धृत पाद्मवचन

अर्थात्, महाकुलप्रसूत, सब यज्ञोंमें दीक्षित एवं सहस्र शाखाध्यायी ब्राह्मण भी यदि वह वैष्णव नहीं है, तो गुरु होने योग्य नहीं। वैष्णव वही है, जो विष्णु-मन्त्रमें विधिवत् दीक्षित और विष्णु-पूजा-परायण है। उसके अतिरिक्त और कोई वैष्णव नहीं है।

विष्णुमन्त्रमें विधिवत् दीक्षित होनेका अर्थ है कि गुरु सम्प्रदायी होना चाहिये, अर्थात् ऐसा होना चाहिये जिसने विशुद्ध और अविच्छिन्न गुरु-परम्परामें मन्त्रसिद्ध आचार्यसे विष्णुमन्त्र प्राप्त किया हो। श्रीगौतमीय तन्त्र में कहा है—"सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः"—जो मन्त्र आम्नाय परम्परासे, अर्थात् कृष्ण, ब्रह्मा, नारदादि ऋषियोंके माध्यमसे परम्पराक्रमसे प्राप्त नहीं हुआ होता, उसका फल नहीं होता।[2] पद्मपुराणमें भी कहा है कि सम्प्रदायी गुरु ही गुरु कहलाने योग्य है—

१. भक्तिसन्दर्भ १७६ संख्याधृत गरुड़-वाक्य।

२. गौतमीय तन्त्र २६।५

सद्धर्म-शासको नित्यं सदाचार नियोजकः ।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते ॥[1]

गीतामें श्रीकृष्णके 'एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयोविदुः' इत्यादि[2] वाक्यसे भी गुरु-परम्पराकी आवश्यकता सिद्ध है। असम्प्रदायो व्यक्ति, जिसने विधिवत् किसी वैष्णव आचार्यसे वैष्णवी-दोक्षा प्राप्त नहीं की, जब वैष्णव ही कहलाने योग्य नहीं, तो उससे वैष्णवी-दीक्षा प्राप्त करनेका कोई प्रश्न नहीं उठता। एक नया दीपक जलानेके लिये किसी दूसरे जलते हुए दीपकके संस्पर्शकी आवश्यकता होती है। वह न तो स्वयं जल सकता है, न किसी ऐसे दीपकका संस्पर्श उसे जलानेमें समर्थ हो सकता है, जो स्वयं अग्निका संस्पर्श न प्राप्त कर सकनेके कारण जल नहीं रहा है। जिस प्रकार दीपक स्वयं नहीं जल सकता, उसी प्रकार कोई व्यक्ति स्वयं-सिद्ध मन्त्राचार्य भी नहीं हो सकता। स्वयं श्रीकृष्णने श्रीसान्दीपनो मुनिका शिष्यत्व स्वीकार कर और जगद्गुरु श्रीमहादेवने अंगिरा ऋषिसे संकर्षणोपासनाका मन्त्र प्राप्त कर विधिवत् दीक्षा ग्रहण करनेका आदर्श उपस्थित किया है। ब्रह्माने आदि गुरु श्रीकृष्णसे दीक्षा लेकर ही दूसरोंको उपदेश दिया है।

यदि कोई विष्णुमन्त्रमें विधिवत् दोक्षित है, पर विष्णु-पूजा-परायण नहीं है, अर्थात् यदि वह कर्ममार्ग, या योगमार्गका साधक है, तो भी उसे भक्ति मार्गकी दीक्षा देनेका अधिकार नहीं है, क्योंकि इससे यह स्पष्ट है कि शुद्ध भक्ति-पथमें और भक्ति-पथके मुख्य साधन नाम-जपादिमें उसका विश्वास नहीं है, इसलिये वह अन्य मार्गोंका सहारा लेता है। जब उसकी अपनी ही शुद्ध भक्ति-पथमें पूरी आस्था नहीं है, तो वह दूसरोंको इस पथमें दीक्षा देने का अधिकारी कैसे हो सकता है? चैतन्यचरितामृतमें शुद्ध-भक्तिके लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

अन्य वाञ्छा अन्य पूजा छाड़ि ज्ञानकर्म।
आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन ॥
एइ शुद्ध भक्ति, इहा हैते प्रेमा हय।
पञ्चरात्रे, भागवते एइ लक्षण कय ॥[3]

---

१. पद्मपुराण, पातालखण्ड. ५१ अध्याय।

२. गीता ४।२

३. चै. च. २।१९।१४८-४९

पर यदि कोई विष्णु-मन्त्रमें विधिवत् दीक्षित व्यक्ति विष्णु-पूजा-परायण भी है तो उसे विष्णु-मन्त्रकी दीक्षा देनेका अधिकार तबतक नहीं जबतक वह परब्रह्मका अपरोक्ष अनुभव प्राप्त नहीं कर लेता, क्योंकि गुरु का मुख्य लक्षण यही है (और सब लक्षण आनुषंगिक हैं) और इसपर विशेषरूपसे बल देने वाला श्रीमद्भागवतका "तस्माद्गुरु प्रपद्येत" इत्यादि श्लोक ही है गुरुके लक्षणोंके सम्बन्धमें मूल प्रमाण। यदि परब्रह्मका अपरोक्ष अनुभव बिना प्राप्त किये ही कोई दीक्षा देता है, तो उसका और शिष्यका दोनोंका अकल्याण होता है।

गुरु-शिष्य-परीक्षा

हरिभक्तिविलासमें लिखा है कि दीक्षाके पूर्व यह आवश्यक है कि शिष्य एक वर्ष तक गुरुके साथ रहकर उसकी सेवा करे, जिससे गुरु और शिष्य दोनों एक-दूसरेकी परीक्षा कर सकें।[1] परीक्षाके लिये गुरुको शिष्यके और शिष्यको गुरुके लक्षण भली प्रकार जानने चाहिये। गुरुके लक्षणोंका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। शिष्यके लक्षण श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार दिये हैं—

"अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढ़सौहृदः।
असत्वरोऽर्थ जिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥[2]

—अभिमानहीन, मात्सर्यहीन, दक्ष (नरलस), निर्मम (ममताहीन), दृढ़ सौहार्दयुक्त, असत्वर (अव्यग्र), तत्व जिज्ञासु, असूयाहीन, अमोघवाक् (व्यर्थालापहीन) व्यक्ति ही शिष्यत्वके अधिकारी हैं।"

जो लोग लोभादिके वशीभूत होकर बिना परीक्षा किये अनधिकारी व्यक्तिको दीक्षा देते हैं, वे इस लोकमें देवताओंके आक्रोशके पात्र और पुत्र-कलत्र द्वारा वर्जित होते हैं और देहावसानके बाद नरक भोगकर तिर्यग्योनि को प्राप्त होते हैं।[3] परन्तु गुरु और शिष्यकी परीक्षाके सम्बन्धमें यह नियम एक साधारण नियम ही है। विशेष सामर्थ्यवान महाभागवत और विशेष योग्यता रखनेवाले शिष्यके लिये यह नियम नहीं है। हरिभक्तिविलासमें ही

१. ह. भ. वि. १।५०

२. भा. ११।१०।६

३. ह. भ. वि. १।४७ धृत अगस्त्य संहिता वाक्य।

एक और स्थान पर उल्लेख है कि सद्गुरुका दुर्लभ संग प्राप्त करते ही जब भी उनका आदेश प्राप्त हो, तभी दीक्षाका शुभ अवसर समझना चाहिये—

दुर्लभे सद्गुरुनाञ्च सकृत संग उपस्थिते।
तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महान्॥[1]

इसका एक सुन्दर उदाहरण है श्रीनिवासाचार्यप्रभु द्वारा श्रीरामचन्द्र कविराजकी दीक्षा। श्रीश्रीनिवासाचार्यप्रभु जब जाजिग्राममें प्रेम-भक्तिका प्रचार कर रहे थे, उन्होंने देखा कि एक अति सुन्दर युवक विवाहके पश्चात् विशेष प्रकारसे सजी हुई पालकीमें बैठा बारातके साथ घर लौट रहा है। उसे देखते ही उनके मनमें लोभ आया। उन्होंने सोचा—'यह अपूर्व कान्तिधारी युवक भगवद्-भजन करे तो इसका जीवन और यौवन सार्थक हों और दूसरे जीवोंका भी इसके द्वारा कल्याण हो।' युवक भी पालकीमें से श्रीश्रीनिवासाचार्यप्रभुको देखकर सहसा उनकी ओर आकृष्ट हुआ। उनकी कृपा दृष्टिने उसके हृदयमें एक अपूर्व आलोड़न उत्पन्न कर दिया। वह उनकी पूर्ण कृपा लाभ करनेके लिये व्याकुल हो उठा। नवविवाहिता पत्नीके संग-सुखके परिवर्तमें उसके प्राण आचार्यप्रभुका संग और उनकी कृपा लाभ करनेके लिये रो दिये। वह तत्काल पालकीसे उतरकर किसी ब्राह्मणके यहाँ ठहर गया और रात्रि पत्नीके साथ आमोद-प्रमोदमें व्यतीत करनेके बजाय आचार्य प्रभुके चरणोंकी चिन्तामें व्यतीत की। रात बीतते ही वह आचार्य प्रभुके सामने उपस्थित हुआ और उन्हें गुरुरूपमें वरणकर धन्य हुआ। यही नवविवाहित युवक परवर्तीकालमें श्रीरामचन्द्र कविराजके नामसे विख्यात हुआ और श्रीनरोत्तमदासठाकुरका अन्तरङ्ग बन्धु हुआ।

गुरु-शिष्यकी पारस्परिक परीक्षाका साधारण नियम भी दीक्षाके समय तक ही सीमित है। दीक्षाके बाद परीक्षासे अपराध और अकल्याण ही होता है।

योग्य गुरुकी समस्या

दीक्षा-गुरुके जिन लक्षणोंका ऊपर उल्लेख किया गया है, उन लक्षणों से युक्त गुरुका मिलना सहज नहीं है। पहले तो ऐसे महापुरुष है ही बहुत थोड़े। जो हैं भी उनका पहचानना कठिन है। पहिचान भी लिये जायें तो

---

१. ह. भ. वि. १।२।३१

उनमेंसे बहुतसे ऐसे हैं, जो दैन्यवश गुरु बनना पसन्द ही नहीं करते। ऐसी स्थितिमें यदि साधकको योग्य गुरु न मिले तो उसे क्या करना चाहिये ? यह एक समस्या है। कुछ लोगोंका मत है कि "शास्त्रीय लक्षणोंसे युक्त गुरु न मिले तो अदीक्षित रहनेकी अपेक्षा ऐसे व्यक्तिसे दीक्षा ले लेनी चाहिये, जिसे ब्रह्मकी अपरोक्ष अनुभूति न भी हो, तो वह कृष्णमन्त्रमें दीक्षा लेकर अकपट भावसे भजन कर रहा हो, जों वैष्णवाचार-परायण, विषयोंमें आसक्तिहीन, स्निग्ध-शान्त स्वभावका, निर्लोभ, निर्दम्भ, निर्मत्सर, हिंसा-द्वेषहीन, निरभिमानी, कृपालु, वैष्णवोंमें श्रद्धा रखनेवाला, और दीक्षाको या किसी (हरिकथादि) भजनाङ्गको अपने निर्वाहके उपायके रूपमें उपयोग न करनेवाला हो।"[१]

कुछ अन्य लोगोंका मत है कि यदि साधकको सद्‌गुरु प्राप्त करनेको सच्ची लालसा है और वह निरपराध है, तो उसे गुरुको प्राप्ति अवश्य हो जानी चाहिये। यदि उसे शास्त्रोक्त लक्षणोंसे युक्त सद्‌गुरुकी प्राप्ति नहीं होती, तो समझना चाहिये कि उसके इस जन्मके या पूर्वजन्मके निष्किंचन महत्पुरुषोंकी निन्दा या उनके आचरणमें संशय जैसे कुछ अपराध हैं, जिनके कारण सद्‌गुरुकी प्राप्ति नहीं हो रही है। ऐसी स्थितिमें उसे श्रीचैतन्यमुखोद्‌गीर्ण श्रीनामका एकान्त और अनन्य आश्रयी होना चाहिये। नामकी शक्तिसे पक्षान्तरमें उसके अपराध क्षय हो जायँगे और सद्‌गुरुकी प्राप्ति हो जायगी।

गुरु-दीक्षाको अनिवार्यता

श्रीलक्ष्मीधरकृत श्रीभगवन्नाम-कौमुदीमें लिखा है कि श्रीकृष्ण-नामात्मक मन्त्र-दीक्षा, दक्षिणा, पुरश्चर्या आदिकी अपेक्षा नहीं रखता। जिह्वासे स्पर्श होते ही वह अभीष्ट फल प्रदान करता है—

नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते।
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णात्मकः॥

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी कहा है—

---

१. गौ. वै. द. पृ. २२६८

एक कृष्ण नामे करे सर्व पाप क्षय।
नवविधा भक्तिपूर्ण नाम हैते हय॥
दीक्षा-पुरश्चर्या विधि अपेक्षा ना करे।
जिह्वा स्पर्शे आचण्डाले सबारे उद्धारे॥
अनुषङ्ग फले करे संसारेर क्षय।
चित्त आकर्षिया कराय कृष्णे प्रेमोदय॥[1]

अर्थात्, एक "कृष्ण" नामसे सारे पापोंका क्षय होता है। नामसे ही नवविधा भक्ति पूर्ण होती है। नाम दीक्षा-पुरश्चर्या आदि विधियोंकी अपेक्षा नहीं रखता, जिह्वासे स्पर्श होते ही चण्डाल तकका उद्धार करता है। यह साधकका चित्त बरबस आकर्षितकर कृष्णप्रेम प्रदान करता है। ससारका क्षय इसका आनुषङ्गिक फल है।

जब केवल "कृष्ण" नामकी इतनी शक्ति है कि बिना दीक्षाके कृष्ण प्रेमतक प्रदान कर सकता है, तो कृष्ण-नामात्मक मन्त्रको, जो कि 'नमः' शब्दादि द्वारा अलंकृत होनेके कारण और ऋषियों द्वारा उनमें विशेष शक्ति संचालित होनेके कारण और भी अधिक शक्तिशाली है, दीक्षादिकी अपेक्षा क्यों होनी चाहिये? श्रीहरिभक्तिविलासमें तो स्पष्ट उल्लेख है कि गोपाल-मन्त्र किसी प्रकारके संस्कारको अपेक्षा नहीं रखता, हृदयसे स्पर्श होते ही स्वतन्त्ररूपसे फल प्रदान करता है। इससे क्या दीक्षाकी अनावश्यकता सिद्ध नहीं होती?

श्रीमन्महाप्रभु और अन्य गौड़ीय-वैष्णव आचार्योंने नाम और नामात्मक मन्त्रोंको इस शक्तिको पूर्णरूपसे स्वीकार किया है। श्रीजीवगोस्वामीने मन्त्र-देव-प्रकाशिका, तन्त्र और सनत्कुमार-संहितादिसे प्रमाण उद्धृत करके सिद्ध किया है कि गोपालमन्त्र बिना दीक्षादिकी अपेक्षा रखते हुए सभी वर्णों और आश्रमोंके स्त्री और पुरुषोंको अभीष्ट फल प्रदान करता है।

फिर भी गौड़ीय-वैष्णव आचार्योंने मन्त्र-दीक्षाको अनिवार्य बतलाया है। श्रुतियोंमें भी मन्त्र-दीक्षाको अनिवार्य कहा है। छान्दोग्यमें कहा है कि जो आचार्यवान् हैं, अर्थात् जिन्होंने सद्गुरुको प्राप्त कर लिया है, वे ही ब्रह्मको जान सकते हैं—"आचार्यवान् पुरुषो वेदः।"[2] मण्डुकका कथन है

---

१. चै. च. २।१५।१०८-११०

२. छान्दोग्य ६।१४।२

कि तत्वज्ञान लाभ करनेके लिये गुरुकी शरण लेनी होती है—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।"[1] श्वेताश्वतरमें कहा है कि जिसकी गुरुमें वैसी ही पराभक्ति है जैसी परब्रह्ममें है, उसके हृदयमें ही श्रुतिकथित तत्व प्रकाशित होता है—

यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरो ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।[2]

श्रीजीवगोस्वामीने दीक्षाकी अनिवार्यताके सम्बन्धमें अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं। मन्त्र स्वरूपतः परम-शक्तिसम्पन्न होनेके कारण दीक्षाकी अपेक्षा नहीं रखता, परन्तु मायान्ध-जीवके लिये मन्त्र परम-शक्ति सम्पन्न होते हुए भी वैसा ही है, जैसे अन्धेके लिये सूर्य। परम-ज्योतिस्वरूप होते हुए भी सूर्य जन्मान्ध व्यक्तिके लिये ज्योतिहीन है। उसके ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं है। उसी प्रकार देहात्मबुद्धियुक्त, कदर्यशील (आत्मा, पुत्र, पत्नी, भृत्य, देवता, अतिथि और धर्मानुष्ठानको पीड़न करने वाले) व्यक्ति पर मन्त्रकी शक्तिका कोई प्रभाव नहीं होता। अग्निके सम्पर्कमें जो भी वस्तु आती है उसपर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, पर एसबेस्टास का कवच पहनकर कोई अग्निमें कूद पड़े, तो उसपर अग्निका वैसा प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार देहात्मबुद्धियुक्त जीवात्मा, जिसने सूक्ष्म और स्थूल शरीररूपी दो-दो मायाके कवच पहन रखे हैं, मन्त्रकी शक्तिसे उतना प्रभावित नहीं होता। मन्त्रमें इन कवचोंको भी भस्म कर देनेकी शक्ति अवश्य है। पर जबतक जीव इन्हें धारण किये हुए है, जबतक उसका चित्त देहादिके सम्बन्धके कारण कदर्यशील और विक्षिप्त है, तबतक वह मन्त्र या भगवन्नाम ग्रहण करेगा ही क्यों ? करेगा भी तो नामके बलपर कर्म करके कदर्यशीलताको और प्रश्रय ही देगा। दीक्षा-गुरु अपरोक्ष-अनुभूति सम्पन्न होनेके कारण विशेष शक्ति-सम्पन्न होता है। वह दीक्षाके समय शिष्यमें शक्तिका संचारकर उसे मन्त्र-जप और अर्चनादि करनेकी सामर्थ्य देता है। ऋषियोंने अर्चन-मार्गमें जिस मर्यादा और विधि-विधानकी संस्थापना की है, उसका पालन कराकर शिष्यके कदर्य स्वभाव और उसके चित्तकी विक्षिप्तताको क्रमशः दूर करता है। श्रीब्रह्मयामलमें शास्त्र-विधिका उल्लंघन कर

१. मण्डुक १।२।१२
२. श्वेताश्वतर ६।२३

एकान्तिकी हरिभक्ति करनेको उत्पात कहा है। भागवतमें कहा है कि ऐसे भक्ति-अनुष्ठान पुनः-पुनः अनुष्ठित होनेपर भी निष्फल होते हैं।[1] महोपनिषत् में कहा है कि गुरुकी करुणाके बिना जीवकी सहजावस्था, अर्थात् वह अवस्था, जिसमें कदर्यशीलता और चित्त-विक्षेपके दूर होजाने पर जीव अपने स्वरूपमें स्थित होजाता है, दुर्लभ है—

दुर्लभो विषय-त्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥[2]

परन्तु श्रीगुरुदेवकी कृपासे सारे अनर्थ सहज ही दूर हो जाते हैं। नारदजीने श्रीमद्भागवतमें इसका बड़े प्रभावशाली ढङ्गसे वर्णन किया है। उनके वचन इस प्रकार हैं—हे राजन्! संकल्पका त्याग करनेसे कामको, कामका त्याग करनेसे क्रोधको, अर्थमें अनर्थ-दृष्टि रखनेसे लोभ को, तत्व-विचार द्वारा भयको, अध्यात्म-विद्या द्वारा शोक और मोह को, महापुरुष की सेवा द्वारा दम्भको, मौन द्वारा योगके अन्तरायोंको, कामादि-चेष्टा-परित्याग द्वारा हिंसाको, जिन प्राणियोंसे दुःख मिलता हो उनके ऊपर कृपा-दृष्टि द्वारा उन सबसे मिल सकने वाले दुःखको, श्रीभगवान्में चित्तकी एकाग्रता द्वारा दैव-दुःखको, योगबल द्वारा आध्यात्मिक दुःखको, सत्वगुणकी सेवा द्वारा निद्राको, सत्व गुणके ही द्वारा रजोगुण और तमोगुणको और उपशम द्वारा सत्वगुणको जीता जाता है। परन्तु एकमात्र श्रीगुरुचरणोंमें भक्तिके द्वारा इन सबको अनायास जीत लिया जाता है।[3]

मन्त्रोपासना द्वारा अपनी स्वतन्त्र चेष्टासे जो व्यक्ति संसार-बन्धन से मुक्त होना चाहता है, वह उस यात्रीकी तरह है जो अपनी नावको अपने आप ही खेकर सागरके पार लेजाना चाहता है। वह नहीं जानता कि उसे ऐसे तूफानों और समुद्रके नीचे छिपी हुई ऐसी चट्टानोंका समाना करना पड़ सकता है, जिनके कारण उसकी नाव क्षणभरमें चकनाचूर हो जाय। श्रीगुरु के शरणापन्न हुआ व्यक्ति उस चतुर यात्रीके समान है? जो श्रीगुरुदेवके रूप में एक कुशल अनुभवी और शक्तिसम्पन्न नाविकको कर्णधारके रूपमें अंगीकार कर निर्भय और निश्चिन्त रहता है।

---

१. भा. ४।१८।३-५
२. महोपनिषत् ४।७७
३. भा. ७।१५।२२-२५

इसके प्रमाणमें श्रीजीवगोस्वामीने पद्मपुराणसे निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

मद्भक्तो यो मदर्चाञ्च करोति विधिवदृषे।
तस्यान्तरायाः स्वप्नेऽपि न भवन्त्यभयो हि सः॥

(श्रीनारायण नारदसे कहते हैं) 'हे ऋषे ! मेरेमें भक्तिमान् होकर जो शास्त्र-विधिके अनुसार मेरी अर्चना करते हैं, उन्हें स्वप्नमें भी कोई विघ्न नहीं होता, वे सदा निर्भय रहते हैं।'

हम पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि शास्त्र-विधि गुरुपद आश्रय ग्रहण करके अर्चना करनेकी ही है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि जो लोग संसार-सागरको पार करनेके लिये सुदृढ़ नौकाके समान दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर गुरुरूपी कर्णधारकी सहायतासे इसे पार नहीं कर लेते वे आत्म-घाती हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मायानुकूलेन नभस्वतेरितं, पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

आगममें कहा है कि गुरुके सान्निध्यमात्रसे उस फलकी प्राप्ति होती है, जो अनेक प्रकारके साधनोंसे भी आसानीसे नहीं होती। गुरुके सन्निधान में रहनेसे ही साधक विष्णुमय होजाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार सिद्धरस के स्पर्शसे ताँबा सोना हो जाता है—

यथा सिद्धरस स्पर्शात् ताम्रं भवति काञ्चनम्।
सन्निधानाद् गुरोरेवे शिष्यो विष्णुमयो भवेत्॥

बिना गुरुकी कृपाके माया-बन्धनसे मुक्ति पाना कितना कठिन है, यह भी भगवान्‌की अपनो ही उक्तिसे स्पष्ट है। उन्होंने कहा है—"मम माया दुरत्यया"। मायाने त्रिगुणात्मिका रज्जूसे बनाये अपने जालमें जीवको ऐसा फाँस रखा है कि वह अपनी स्वतन्त्र चेष्टासे जितना भी उसमेंसे निकलनेका प्रयत्न करता है, उतना और उसमें उलझ जाता है। प्रभुके शरणागत हुए बिना उसमेंसे निकलनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मे तां तरन्ति ते।

प्रभुके शरणागत होनेका अर्थ ही है श्रीगुरुके शरणागत होना, क्योंकि भगवान् ही श्रीगुरुके रूपमें आविर्भूत होते हैं जीवोंके कल्याणके लिये। यदि कोई गुरुकी उपेक्षाकर सीधे भगवान्‌के शरणापन्न होता है, तो वह गुरुके रूप में भगवान्‌के अपने बढ़ाये हुए हाथकी उपेक्षा करता है।

उद्धवसे भगवान्‌ने कहा था—

आचार्यं मां विजानीयान्नवमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥[1]

—आचार्यको मुझे ही जानना, कभी उनकी अवमानना न करना। उन्हें साधारण मनुष्य जान कभी उनके प्रति असूया प्रकाश न करना। गुरु सर्वदेवमय हैं, ऐसा जानना।

श्रीजीवगोस्वामीने वामनकल्पमें ब्रह्माकी निम्नोक्ति उद्धृत कर बताया है कि भगवान्‌का अनुग्रह लाभ करनेका मूल श्रीगुरुकृपा ही है, क्योंकि गुरु ही मन्त्र हैं, गुरु ही हरि हैं; जिसके प्रति गुरु प्रसन्न होते हैं उसके प्रति भगवान् भी प्रसन्न होते हैं—

यो मन्त्रः स गुरुः साक्षात् यो गुरुः स हरिः स्वयम्।
गुरुर्यस्य भवेत्तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम् ॥

भगवान्‌ने कहा है कि मैं जितना गुरु सेवासे सन्तुष्ट होता हूँ उतना ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास धर्मोंके समूचे पालनसे भी नहीं होता—

नाहमिज्या प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥[2]

उन्होंने यह भी कहा है कि जो पहले गुरुपूजा करके मेरी अर्चना करते हैं, वे ही सिद्धि लाभ करते हैं; जो ऐसा नहीं करते उनकी सेवा-पूजा निष्फल है—

प्रथमन्तु गुरुं पूज्य ततश्चैव ममार्चनम्।
कुर्वन् सिद्धिमवाप्नोति ह्यन्यथा निष्फलं भवेत् ॥

इससे स्पष्ट है कि साधकके लिये गुरु-कृपाका महत्व भगवत्-कृपासे भी कहीं अधिक है। सनातन गोस्वामीने तो यहाँ तक कहा है कि कृष्ण यदि साधकसे रुष्ट भी हों तो गुरु उसकी रक्षा कर सकते हैं, पर गुरु रुष्ट हों तो कृष्ण रक्षा नहीं कर सकते—

---

१. भा. ११।१७।२७

२. भा. १०।८०।३४

कृष्ण रुष्ट हले गुरु राखिवारे पारे।
गुरु रुष्ट हले कृष्ण रखिवारे नारे॥

श्रीरूपगोस्वामीने साधन-भक्तिके चौंसठ अङ्गोंमें से जिन प्रथम बीस अङ्गोंको भक्तिका द्वार कहा है, उनमें गुरुपदाश्रय, दीक्षा और गुरु-सेवाको प्रधान बताया है—"एयं प्रधानमेवोक्तं गुरु पादाश्रयादिकम्।"[1] भक्तिरानी के महलमें प्रवेश करनेके लिये पहले गुरु-दीक्षारूपी द्वारमें प्रवेश करना अनिवार्य है।

कुछ लोग अजामिलका उदाहरण देकर कहते हैं कि उसने गुरुपदाश्रय नहीं किया, पर हरिनामके प्रभावसे दुराचारी होते हुए भी अनायास भव-सागरसे उत्तीर्ण होगया, फिर हमें गुरुकरणकी आवश्यकता क्यों होनी चाहिये? इसके उत्तरमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका कहना है कि जो लोग जन्मभर गो-गर्दभादिकी तरह अपनी इन्द्रियोंको विषय-क्षेत्रमें चराते रहते हैं, और जिन्होंने स्वप्नमें भी नहीं जाना कि गुरु, गोविन्द और भक्ति आदि क्या हैं, उनका नामाभासादिकी रीतिसे अजामिलकी तरह निरपराध नाम उच्चारण करनेसे बिना गुरुपद आश्रय किये ही उद्धार हो सकता है, अर्थात् वे मुक्तिपदको प्राप्त कर सकते हैं। पर जो जानते हैं कि हरिको प्राप्त करना हो मनुष्य जीवनका उद्देश्य है, भजन द्वारा ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है, गुरु ही भजनके उपदेष्टा हैं और पूर्वकालमें गुरुके आश्रित भक्तोंने ही हरि को प्राप्त किया है, वे यदि केवल इस विचारसे गुरुपदाश्रय नहीं करते कि श्रीकृष्णनाम-महामन्त्र दीक्षादिकी अपेक्षा नहीं रखता, तो वे गुरुरूप भगवान्के चरणोंमें अपराधी होनेके कारण तबतक भगवान्को प्राप्त नहीं करते, जबतक इस जन्ममें या जन्मान्तरमें उस अपराधके क्षय होनेपर श्रीगुरु-चरणाश्रित हो भजन नहीं कर लेते।[2]

आजकल कुछ लोग स्वप्नमें गुरुमन्त्र प्राप्त करनेकी बात कहकर गुरुकरणकी अपरिहार्यता सम्बन्धी शास्त्राज्ञाकी अवहेलना करते हैं। परन्तु स्वप्नमें मन्त्र दीक्षा लाभ करनेपर भी फिरसे महान्त सद्गुरुसे मन्त्र श्रवण करनेकी शास्त्र-विधि है। इसके बिना स्वप्नप्राप्त मन्त्र निष्फल होता है।[3]

---

१. भ. र. सि. १।२।४३

२. सारार्थ-दर्शनी ६।२।११

३. वैष्णव सिद्धान्ते श्रीगुरुर स्वरूप, पृ. १३३

कुछ लोग यह कहकर दीक्षाकी अनिवार्यताका खण्डन करते हैं कि राधारानी व्रजगोपियों और सुबलादि सखाओंने, जो राग मार्गके भजनके आदर्श हैं, किसीसे गुरु-दीक्षा नहीं ली थी। उन लोगोंका मत अशास्त्रीय है और श्रीजीवगोस्वामी आदिने उसका पूर्णरूपसे खण्डन किया है। उनका कहना है कि रागानुगतजनोंके लिये भी गुरुकरण अत्यन्त आवश्यक है। उनका तो भजन ही आनुगत्यमय है। मानसी सेवामें सिद्धदेहसे श्रीकृष्णके प्रियजनोंके आनुगत्यमें राधा-कृष्णकी प्रेम-सेवा ही रागानुगा भजनका लक्ष्य है। नित्य-सिद्ध सुबलादि सखाओं और व्रजगोपियोंका अनुकरण करनेसे नरकगामी होना पड़ता है।[1]

कुछ लोग योग्य गुरुके दुर्लभ होनेके बहाने श्रीकृष्ण या श्रीराधाको मन ही मन गुरुरूपमें वरण करके सिद्धि लाभ करनेकी चेष्टा करते हैं। उनका मार्ग भी शास्त्रानुमोदित नहीं है। राधा और कृष्ण साक्षात् रूपसे किसीको दीक्षा नहीं देते। वे अपने प्रियजनोंके माध्यमसे ही जीवोंपर कृपा करते हैं—

कृष्ण यदि कृपा करे कोन भाग्यवाने।
गुरु-अन्तर्यामि रूपे शिखाये आपने॥
(चै. च. २।२२।४७)

श्रीरूपसनातन आदिने रागात्मिक-जन होते हुए भी महान्त-गुरु स्वीकार करनेका आदर्श प्रदर्शित किया है।

ऊपर की गई आलोचनासे स्पष्ट है कि यद्यपि हरिनाम और हरिनामात्मक मन्त्र दीक्षादिकी अपेक्षा नहीं रखते, शास्त्रोंने गुरु-दीक्षाकी अनिवार्यतापर पूरा बल दिया है, क्योंकि बिना गुरु-दीक्षाके भगवत्-प्राप्ति नितान्त असम्भव नहीं, तो असम्भव जैसी और अनेकों विघ्न-बाधाओंसे परिपूर्ण अवश्य है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि 'जिन योगियोंने अपनी इन्द्रियों और प्राणोंको वशमें कर लिया है, वे भी जब गुरुदेवके चरणोंकी शरण न लेकर अत्यन्त चंचल मन-तरंगोंको अपने वशमें कर लेनेका यत्न करते हैं, तब सफल नहीं होते। उन्हें सैकड़ों विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है। केवल श्रम और दुःख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है, जो समुद्रमें बिना कर्णधारकी नावपर यात्रा करनेवाले

---

१. भ. र. सि. १।२।८६; रागवर्त्म चन्द्रिका १।१५

व्यापारीकी होती है। भा. १०।८७।३३ ॥ इसके अतिरिक्त जिस प्रकारकी भगवत्-प्राप्ति गुरुपदाश्रयके बिना सम्भव है, वह रागानुगा-मार्गके भक्तोंको अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्तिके साथ वैकुण्ठमें पार्षदत्व प्राप्त किया जा सकता है। अजामिलको नामाभासके फलस्वरूप वैकुण्ठ पार्षदत्व ही प्राप्त हुआ था। पर वैकुण्ठ-पार्षदत्वमें व्रजकी प्रेम-सेवा जैसा रस नहीं है, जिसकी रागानुगा-मार्गके भक्त वाञ्छा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जो साधक मुक्त होकर वैकुण्ठ-पार्षदत्व लाभ करते हैं, वे भी प्रेम प्राप्त करके ही मुक्त होते हैं। परन्तु उनका प्रेम ऐश्वर्य-ज्ञान-प्रधान होता है। वह शान्त-भावके भक्तोंका प्रेम है, जिसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें से किसी एक प्रकारका प्रभुसे सम्बन्ध स्थापित करके और उनमें ममत्व बुद्धि रखके उनकी प्रेम-सेवा करनेकी सम्भावना नहीं है। यह व्रजकी प्रेम-सेवामें ही सम्भव है, जो साधक देहमें मन्त्रदाता श्रीगुरुदेवके आनुगत्यमें भजन करके ही प्राप्त होती है और प्राप्त होनेपर सिद्ध देहसे गुरुके आनुगत्यमें ही की जाती है। साधक जिस भावका भक्त होता है, उसी भावके गुरुसे मन्त्र प्राप्त करता है। मन्त्रके द्वारा ही उसका अपने भावके अनुरूप प्रभुसे सम्बन्ध जुड़ता है। इसलिये व्रजकी प्रेम-सेवाकी आकांक्षा रखनेवाले साधकके लिये गुरुसे मन्त्र लेना अनिवार्य है।

पर व्रजकी प्रेम-सेवाका मार्ग भी उन लोगोंके लिये सदाके लिये बन्द नहीं है, जो बिना गुरु-दीक्षाके नाम-संकीर्तनका आश्रय लेते हैं, क्योंकि नाम-संकीर्तनके विषयमें महाप्रभुने कहा है—

संकीर्तन हैते पाप-संसार-नाशन।
चित्त-शुद्धि, सर्वभक्ति-साधन-उद्गम॥
कृष्ण प्रेमोद्गम, प्रेमामृत-आस्वादन।
कृष्ण-प्राप्ति, सेवामृत-समुद्रे मज्जन॥[1]

उनकी इस उक्तिके अनुसार संकीर्तनसे पापराशिका नाश होता है और चित्तकी शुद्धि होती है। उसके पश्चात् होता है—"सर्वभक्ति-साधन-उद्गम।" इसका अर्थ यह है कि जब साधकका चित्त शुद्ध होजाता है, तब नाम-संकीर्तनके प्रभावसे उसमें साधनके उन सभी अंगोंकी स्फूर्ति होती है जो भक्ति-मार्गमें आवश्यक हैं। उस समय यदि उसके चित्तमें व्रजकी

---

१. चै. च. ३।२०।१०-११

प्रेम-सेवाकी अभिलाषा जागती है, तो नाम संकीर्तन स्वयं ही दीक्षा ग्रहण करनेकी लालसा उसमें पैदा कर देता है। इतना ही नहीं, वह उपयुक्त गुरु का साक्षात्कार कराके उनसे दीक्षा ग्रहण करनेकी व्यवस्था भी कर देता है।

गुरु-त्याग

साधारण विधि यह है कि श्रीगुरु कभी भी त्याज्य नहीं है। इस सम्बन्धमें ब्रह्मवैवर्त पुराणका श्लोक है—

"बोधः कलुषितस्तेन दौरात्म्यं प्रकटीकृतम्।
गुरुर्येन परित्यक्तस्तेन त्यक्तः पुरा हरिः॥

—जिस व्यक्तिने गुरुका त्याग किया उसने श्रीहरिका पहले ही त्याग कर दिया। उसकी बुद्धि कलुषित है। गुरु-त्याग द्वारा वह अपने दौरात्म्य का ही परिचय देता है"[1]

हरिभक्तिविलासमें कहा है कि जो वेद-विहित गुरुका त्याग करता है, उसके मृत देहको मांसभक्षी राक्षस या पशु-पक्षी भी अस्पृश्य जानकर नहीं खाते।[2]

यदि कोई व्यक्ति पूर्व गुरुसे परितुष्ट न होनेके कारण एक और गुरु करले, तो वह भी गुरु-त्यागके ही समान है, क्योंकि दीक्षा-गुरु एकसे अधिक नहीं हो सकते।[3]

परन्तु साधारण विधि इस प्रकारकी होनेपर भी विशेष विधि यह है कि यदि किसीने किसी कारण अवैष्णवसे दीक्षा ली है, तो उस अवैष्णव-गुरु का त्याग अवश्य कर देना चाहिये और उसे त्यागकर वैष्णव गुरुसे फिरसे दीक्षा लेनी चाहिये—

अवैष्णवोपदिष्ठेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत।
पुनश्च विधिना सम्यक् ग्राहयेद् वैष्णवाद् गुरोः॥[4]

---

१. भ. सं. २०७ अनु.

२. ह. भ. वि. ४।३६३

३. भ. सं. २३८ अनु.

४. भ. सं. २०७ अनु. धृत नारद पंचरात्र-वचन

श्रीजीव गोस्वामी का कथन है कि जो गुरु वेदतात्पर्य में निपुण नहीं है, जिसे परब्रह्म का अनुभव नहीं है, जो शिष्य से अपनी ही सेवा कराता है और महाभागवतगण की सेवा करने के लिये उसे प्रेरणा या अनुमति नहीं देता, जो न्याय-रहित उपदेश करता है, ऐसे गुरु के निकट न जाकर उसका दूरसे ही सम्मान करना चाहिये और यदि वह वैष्णवद्वेषी या वैष्णव-निन्दक हो तो उसे निश्चय ही परित्याग कर देना चाहिये।[1] ऐसे गुरु के त्याग में कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह वास्तव गुरु है ही नहीं। इसी प्रकार श्रीनरहरि सरकार ने श्रीकृष्ण-भजनामृत में कहा है—'श्रीगुरु का आश्रय ग्रहण किया जाता है कृष्ण-प्राप्ति के लोभ से, पर यदि आश्रय लेने के पश्चात् गुरु में असुर भाव प्रकाशित हो, तो क्या करे ? तो असुर गुरु को त्यागकर श्रीकृष्ण में भक्तिमान अन्य गुरु का आश्रय ले। यही परम कर्तव्य है।'[2]

व्यावहारिक गुरु को भी त्याग देना परम कर्तव्य है, यदि उसका उपदेश पारमार्थिक गुरु के उपदेश के अनुकूल नहीं है, या वह किसी भी प्रकार से पारमार्थिक गुरु के बताये पथमें बाधक है। माता, पिता, मातामह, पितामह, ज्येष्ठ भ्राता नृपति, श्वसुर, मामा, पितृव्य, वेदाध्यापक आदि व्यावहारिक गुरु हैं और भगवन्मन्त्रदाता गुरु पारमार्थिक गुरु हैं।[3] उपनयनदाता या वेदाध्यापक गुरु भी व्यावहारिक गुरु की श्रेणी में आते हैं, क्योंकि कर्मकाण्डके उपदेष्टा होनेके कारण वे शिष्यको प्रवृत्ति मार्गकी ओर लेजानेवाले होते हैं। श्रीमन्महाप्रभुने कहा है कि जीवका सच्चाबन्धु माता-पिता व गुरु वही है जो उसे श्रीकृष्णके चरणोंमें भक्तिका देनेवाला है। माता-पिता तो प्रत्येकको प्रत्येक जन्ममें प्राप्त होते हैं, पर श्रीकृष्णसे मिलानेवाला गुरु प्रत्येक जन्ममें नहीं मिलता—

सेइ से परमबन्धु, सेइ माता - पिता।
श्रीकृष्ण - चरणे जेइ प्रेम - भक्तिदाता॥
सकल जनमें माता - पिता सभे पाय।
कृष्ण - गुरु नाहिं मिले बुझह हियाय॥[4]

---

१. भ. सं. २३८ अनु.

२. श्रीकृष्ण भजनामृत, १८ अनु.

३. ह. भ. वि. ४।३६१ श्लोककी श्रीसनातन गोस्वामीकी दिग्दर्शनी टीका

४. श्रीचैतन्यमङ्गल २।११।१६५, २०४

इसलिये प्रह्लादने अपने व्यावहारिक शास्त्र-गुरु शुक्राचार्यके पुत्र षण्ड और अमर्क तथा पिता हिरण्यकशिपुके व्यावहारिक उपदेशका परित्यागकर नारदके पारमार्थिक उपदेश का पालन किया था।

यदि किसीने पहले दास्य सख्यादि किसी एक भावका मन्त्र ग्रहण किया हो और पीछे किसी महत्के संगके प्रभावसे उसके भावमें परिवर्तन होगया हो, तो भी नये भावके अनुकूल अन्यत्र मन्त्र ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं है। ऐसा करनेमें पूर्व गुरुका त्याग या असम्मान नहीं होता, क्योंकि दोनों गुरु तत्वतः अभिन्न होते हैं और दोनों इस बातके इच्छुक होते हैं कि शिष्य अपनी भावानुकूल उपासनामें अग्रसर हो। श्रीचैतन्यचरितामृतमें उल्लेख है कि श्रीवल्लभ भट्टने बालगोपाल-मन्त्रकी दीक्षा ले रखी थी। नीलाचलमें श्रीगदाधर पण्डितके सम्पर्कमें आनेपर उन्हें किशोर-गोपालकी मधुर भावसे उपासना करनेका तीव्र लोभ जागा। तब उन्होंने श्रीमन्महाप्रभु के आदेशसे श्रीगदाधर पण्डितसे किशोर-गोपाल मन्त्रकी दीक्षा ली।

आजकल देखनेमें आता है कि कुछ लोग पूर्व गुरुसे प्राप्त मन्त्रको उज्जीवित करनेके छलसे शिष्य-संग्रह करते हैं। यह शास्त्र-विरुद्ध है। श्रीगदाधर पण्डित प्रभुने एकबार इस छलसे कि उनके इष्टमन्त्रकी ठीकसे स्फूर्ति नहीं होती, श्रीमन्महाप्रभुके मुखसे उसी मन्त्रको श्रवण करनेकी इच्छा प्रकट की थी, तब महाप्रभुने उन्हें पूर्व उपदेष्टाके रहते दूसरेके मुखसे मन्त्र-श्रवण करनेके अपराधसे सावधान किया था—

प्रभु बले तोमार जे उपदेष्टा आछे।
सावधान तथा अपराधी हअ पाछे॥
मन्त्रेर की दाय प्राणो आमार तोमार।
उपदेष्टा थाकिते ना हय व्यवहार॥[1]

• • •

---

[1] चै. भा. ३।११।२५-२६

श्रीमूर्ति-सेवा

श्रीगोविन्ददेवके श्रीविग्रह, जो आजकल जयपुरमें हैं, पहले वृन्दावनमें केशीघाटके निकट विराजते थे। रूपगोस्वामीने उनके दर्शनके सम्बन्धमें यह चेतावनी दे रखी थी—

"स्मेरां भङ्गीत्रय परिचितां साचि विस्तीर्ण दृष्टि
वंशीन्यस्ताधर किशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे बन्धुसंगेऽस्ति रंगः॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

—हे सखे ! यदि तुम्हारी स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धवोंके साथ रंग करने की इच्छा हो, तो केशी-तीर्थके समीप श्रीगोविन्द-नामक उस हरितनु (अर्थात् साक्षात् हरिके देहसे अभिन्न श्रीमूर्ति) के दर्शन न करना, जो मयूर-पुच्छसे अलंकृत मन्द-मन्द मुसकाते त्रिभङ्ग मुद्रामें वहाँ खड़े हैं, जिनके बंकिम विशाल नेत्र हैं और जिनके अधरों पर मधुर मुरली शोभायमान है (क्योंकि उन्हें एकबार भी देख लोगे, तो संसारकी सुध-बुध खो बैठोगे)।"

आज भी सहस्र-सहस्र लोग नित्य गोविन्ददेवके दर्शन करते हैं। पर कितने ऐसे हैं, जो उनके दर्शनकर अपने बन्धु-बान्धवोंको भूल जाते हैं ? वे नित्य उनके दर्शन करते हैं और नित्य घर लौटकर लिपट जाते हैं सांसारिक कार्योंमें और बन्धु-बान्धवोंके साथ आमोद-प्रमोद में।

श्रीमूर्ति और श्रीभगवान्का अभिन्नत्व

तो क्या श्रीरूपगोस्वामीने गोविन्ददेवके श्रीविग्रहके जिस अलौकिक स्वरूप और प्रभावका इंगित किया है, वह यथार्थ नहीं है ? क्या उनका विग्रह साक्षात् 'हरितनुः' नहीं है ? नहीं, रूपगोस्वामीका वर्णन यथार्थ है। उसमें कोई अत्योक्ति नहीं है। दोष उन लोगोंकी दृष्टिका है, जो गोविन्ददेवके

विग्रहके दर्शन करके भी उनके चिन्मय स्वरूपके दर्शनसे वंचित रहते हैं। गोविन्ददेवका विग्रह ही नहीं,भगवान्‌की सभी मूर्तियाँ उनके साक्षात् चिन्मय देह से अभिन्न, साक्षात् भगवान् ही हैं। चिन्मय वस्तुको ग्रहण करनेके लिये चिन्मय इन्द्रियोंका होना आवश्यक है। जब तक हमारी दृष्टि दूषित है, जब तक हमारे भीतर चिदानन्द वस्तुको ग्रहण करने योग्य चिन्मय इन्द्रियोंका विकास नहीं होता, तब तक हमें भगवान्‌के श्रीविग्रहके चिन्मय स्वरूपके दर्शन होना सम्भव नहीं, तब तक हमें श्रीमूर्तिके साधारण दारु-शिलादिकी प्रतिमाके रूपमें दर्शन होना स्वाभाविक है। पर अपने इस दृष्टि-दोषके कारण श्रीमूर्तिको दारु-शिलादिकी प्रतिमा मानना अपराध है। श्रीचैतन्य-चरितामृत में श्रीमूर्तिके सम्बन्धमें कहा है—

साक्षात् व्रजेन्द्रसुत इथे नाहि आन।
जे अज्ञ करये तारे प्रतिमा हेन ज्ञान॥
सेइ अपराधे तार ना हय निस्तार।
घोर नरके ते पड़े कि बलिब आर॥[1]

श्रीमूर्तिको साधारण शिला मानना अपराध है, यह अन्ध मुनिके उपाख्यानसे स्पष्ट है। महाराज दशरथ जब अन्ध मुनिके पुत्रका मृगके भ्रमसे बधकर उसके मृत देहको उनके पास ले आये थे, तब उन्होंने विलाप करते हुए कहा था—"शिलाबुद्धिः कृता किम्बा प्रतिमायां हरेर्मया—क्या मैंने कभी श्रीहरिकी प्रतिमामें शिलाबुद्धि की थी, जिसके कारण मुझे पुत्र शोक हुआ है?"

श्रीभगवान् और श्रीमूर्तिमें कोई भेद नहीं है, यह भगवान् कृष्णकी अपनी उक्तिसे भी स्पष्ट है—

"वस्त्रोपवीताभरण - पत्र - स्रग्गन्धलेपनैः।
अलंकुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम्॥[2]

—मेरे भक्त प्रीतिपूर्वक मुझे वस्त्र, उपवीत, आभरण, पत्र, माल्य, गन्ध, चन्दनादिसे यथोचित रीतिसे सुशोभित करते हैं।" यहाँ उन्होंने अपनी श्रीमूर्तिको "मां" कहा है, जिससे स्पष्ट है कि उनमें और उनकी मूर्तिमें कोई भेद नहीं है।

---

१. चै. च. १।५।२००-२०१

२. भा. ११।२७।३२

कोई कह सकता है कि भगवान् की स्वयं-प्रकाश मूर्ति तो भगवान्से अभिन्न हो सकती है, पर अधिकांश मूर्तियाँ ऐसी होती हैं, जिनका शिल्पकार से निर्माण करवाया जाता है, फिर उनकी प्रतिष्ठा करवाई जाती है। प्रतिष्ठा के पश्चात् भगवान्का उनमें अधिष्ठान होता है। अधिष्ठाता और अधिष्ठानरूप में भगवान और श्रीमूर्तिमें भेद रहता है। श्रीमूर्तिमें भगवान्का अधिष्ठान होता है, पर मूर्ति भगवान् नहीं होती।

इस सम्बन्धमें हम पाठकोंका ध्यान भगवान्के अद्वय-स्वरूपकी ओर आकर्षित करेंगे, जिस पर पहले विचार किया जा चुका है। भगवान् अद्वय-ज्ञान-तत्व हैं। वे सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद रहित हैं। जितना भी भेद है भगवान्की शक्तियोंको लेकर है, भगवान्को लेकर नहीं; शक्ति-पदार्थोंको लेकर है, शक्तिमत्को लेकर नहीं। शक्तिमत् केवल भगवान् हैं; बाकी जितने भी पदार्थ है भगवान्की विभिन्न शक्तियोंके परिणाम हैं। उन सब पदार्थोंमें अंश-अंशी, नाम-नामी, देह-देही, अधिष्ठाता-अधिष्ठेय आदिका भेद स्वाभाविक है। पर अद्वय-ज्ञान-तत्व भगवान्में इस प्रकारका कोई भेद सम्भव ही नहीं है। यदि होता तो उनका अद्वयत्व और पूर्णत्व सुरक्षित न रह सकता। उनमें जो अंश है वही अंशी है, जो नाम है वह नामी है, जो देह है वही देही है, जो अधिष्ठाता है वही अधिष्ठेय है। इसलिये अधिष्ठाता रूप भगवान् और अधिष्ठेय रूप मूर्तिमें कोई भेद नहीं है। मूर्तिमें भगवान्का अधिष्ठान होनेके साथ ही भगवान् और मूर्तिका भेद जाता रहता है।

एक और प्रकारसे भी भगवान् और श्रीमूर्तिका अभिन्नत्व सिद्ध है। अजामिलने मरते समय अपने पुत्र नारायणका नाम उच्चारण किया, पर "नारायण" नाम और स्वयं नारायणमें अभिन्नत्वके कारण उसे नामाभास का फल मुक्ति मिला। इसी प्रकार शास्त्रमें उल्लेख है कि जिस किसीने मूर्तिके स्वरूपको बिना जाने धोखेसे भी किसी प्रकार मरते समय उसकी सेवा करली उसे मूर्तिके भगवान्से अभिन्न होनेके कारण भगवत्-सेवा-आभासका फल मिला और उसकी मुक्ति हो गयी। भक्तिसन्दर्भ में श्रीजीवगोस्वामीने इस सम्बन्धमें वृहन्नारदीयोक्त कपोतकी कथाका उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक कपोत जब व्याधके शरसे बिद्ध होकर भाग रहा था, उसे कुत्तेने पकड़ लिया। कुत्ता उसे अपने मुँहमें लेकर एक मन्दिर के चारों ओर घूमता हुआ गया। कपोत द्वारा श्रीविग्रहकी परिक्रमाका

आभास होनेके कारण उसकी मुक्ति होगयी।[1] इसी प्रकार 'विष्णुधर्म' में उल्लेख है कि किसी भगवत्-मन्दिरमें एक चूहा मन्दिरके बुझते हुए दीपक का तेल पीने लगा। तेलमें मुँह डालनेसे तेल अपनी सतहसे कुछ ऊपर उठकर बत्तीके मुँह तक पहुँच गया और बत्ती प्रज्ज्वलित हो उठी। प्रज्ज्वलित बत्तीके स्पर्शसे चूहा जलकर मर गया। पर उसे श्रीमूर्तिके समीप दीपदानके आभासका फल मिला और उसकी मुक्ति होगयी। यदि श्रीमूर्ति और भगवान्‌में अभेद न होता, तो कपोत और चूहेको इस प्रकार भगवत्-सेवा-आभासका फल न मिलता।

श्रीमूर्तिके भगवत्-स्वरूपसे अभिन्न होनेका सबसे अच्छा प्रमाण है कालनाके गौरीदास पण्डित द्वारा सेवित श्रीचैतन्यमहाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभुके श्रीविग्रहोंके आविर्भावका वृतान्त। महाप्रभु और नित्यानन्द प्रभु एक बार कालनामें गौरीदास पण्डितके घर गये। वहाँ नृत्य-कीर्तनके साथ बड़ा महोत्सव हुआ। महोत्सवके पश्चात् गौरीदास पण्डित दोनों भाइयोंके चरणों में लोटकर अश्रुगदगद-कण्ठसे अनुनय-विनय करते हुए बोले—"प्रभु! मुझे लगता है कि आपके यहाँसे चले जानेपर मैं एकपल भी आपके बिना जीवित न रह सकूँगा। मेरी प्रार्थना है कि अब आप मुझे छोड़कर कहीं न जायें। यहीं रहकर मुझे चिरकाल अपनी सेवाका सुख प्रदान करें।" महाप्रभुके बहुत समझानेपर भी जब गौरीदास पण्डित किसी प्रकार उन्हें छोड़नेको तैयार न हुए, तब भक्तवत्सल गौरहरिने कहा—"अच्छा तुम हम दोनोंकी श्रीमूर्तियाँ रखकर सेवा करो। हम तुम्हारी सेवा उसी प्रकार अंगीकार करेंगे जिस प्रकार तुम चाहते हो। इसपर भी गौरीदास पण्डित पूर्णरूपसे आश्वस्त न हुए। पर महाप्रभुकी आज्ञासे उन्होंने उनकी और नित्यानन्दप्रभु की मूर्तियाँ तैयार करवाकर महाप्रभु और नित्यानन्दप्रभुके साथ उन्हें भोजन करवाया। चारोंको एक साथ भोजन करते देख वे परमानन्दित हुए। भोजन के पश्चात् पुष्पमाला पहराने और सर्वांगमें चन्दन लेपन करनेके छलसे चारोंकी परीक्षाकर पूर्णरूपसे आश्वस्त हुए। तब महाप्रभुने और नित्यानन्द प्रभुने कहा—"हमारी जौन सी भी जोड़ी चाहो रखलो और दूसरीको जाने दो।" गौरीदासने जो जोड़ी बोल रही थी उसीसे रह जानेको कहा। वह मूर्तिरूपमें रह गयी, दूसरो उठकर जाने लगी। गोरीदासको सन्देह हुआ। उन्होंने जानेको प्रस्तुत महाप्रभु और नित्यानन्द प्रभुसे कहा—"नहीं, नहीं!

१. भ. स. १५२

आप दोनों रहिये" और दूसरी जोड़ीकी ओर संकेत करते हुए कहा—"इनको जाने दीजिये।" तब वे दोनों मूर्तिरूपमें रह गये और दूसरे जाने लगे। इस प्रकार कई बार हुआ। तब निरूपाय हो गौरीदासने श्रीविग्रह रूपमें एक जोड़ीको रख लिया। आज भी वही श्रीविग्रह कालनामें विराजमान हैं।[1]

भगवान् मूर्तिरूपमें अवतीर्ण क्यों होते हैं ?

श्रीमूर्ति जीवोंके प्रति भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका प्रतीक है। सांसारिक जीव भगवान्‌की सेवा-पूजाकर भवसागरसे पार हो सकें, इसलिये भगवान् स्वयं मूर्तिरूपमें प्रकट होकर उनकी सेवा ग्रहण करते हैं, पर मौन धारण किये रहते हैं भक्तकी परीक्षा करनेके लिये और उसकी उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये। जब सेवा करते-करते उसका दृष्टि-दोष दूर होजाता है, अन्तःकरण शुद्ध और विश्वास दृढ़ होजाता है, तो कभी स्वप्नमें, कभी प्रत्यक्ष रूपसे अपने चिन्मय स्वरूपका परिचय देते हैं। तब यदि भक्तके हृदय में कदाचित् उनके चिन्मय स्वरूपके सम्बन्धमें सन्देहका कुछ अंश रह भी जाता है, तो उसे अधिकार होता है परीक्षा द्वारा उसे दूरकर लेने का।

वृन्दावनमें लालाबाबू द्वारा प्रतिष्ठित राधाकृष्णका विशाल मन्दिर है। लालाबाबू एक धनी व्यक्ति थे और राधाकृष्णके अनन्य भक्त। बहुत धन व्ययकर उन्होंने इस मन्दिरमें बड़े आकारकी राधाकृष्णकी अति सुन्दर दो मूर्तियोंकी विधिवत् प्रतिष्ठा करवाई। प्रतिष्ठा हो चुकनेपर उनके मनमें सन्देह जागा। तब उन्होंने यह जाननेके लिये कि सचमुच मूर्तियोंमें प्राण हैं या नहीं एकबार शीतकालमें श्रीकृष्णके सिरपर मक्खनकी टिक्की रखकर और एकबार नाकमें रुई लगाकर उनकी परीक्षा की। मक्खन सिरके तापसे पिघल गया और रुई श्वासके साथ बाहर आगयी।

वृन्दावनमें ही बनखण्डीमें पिसी माँका मन्दिर है, जिसमें श्रीचैतन्य-महाप्रभुके परिकर मुरारीगुप्त द्वारा सेवित गौर-निताइके प्राचीन श्रीविग्रह हैं। पिसी माँ वात्सल्य भावसे इनकी सेवा करते हुए सिद्ध होगयी थीं। उनकी आयु जब सौ वर्षसे ऊपर होगयी और वे सेवा करनेमें अपनेको असमर्थ बोध करने लगीं, तब उन्होंने श्रीगोपीश्वरगोस्वामी प्रभुको योग्य पात्र जान

---

१. अमिय निमाई चरित : शिशिर कुमार घोष, खण्ड ५, पृ. २२-२४

सेवा सौंप दी। जाड़ेके दिनोंमें जब कड़ाकेकी सर्दी पड़ रही थी एकदिन गोस्वामीजीने श्रीविग्रहोंको ठण्डे जलसे स्नान करा दिया। निताइ-गौर दोनों को ठण्ड लगी और ज्वर हो आया। पिसी माँको अब आँखोंसे दीखता न था। फिर भी उन्हें पता चल गया कि उनके सर्वस्व-धन निताइ-गौरको ज्वर होगया है। वे अपने कमरेसे उतरकर नीचे मन्दिरके पास आयीं और गोपीश्वर प्रभुसे बोलीं—"तूने क्या किया ? बालकोंको ठण्डे जलसे नहला दिया ! देख कितनी सर्दी होगयी है इन्हें !" इतना कह उन्होंने भौंचक्केसे खड़े देखते हुए गोपीश्वर प्रभुको विश्वास दिलानेके लिये निताई-गौरसे नाक सिनकनेको कहा। उनकी नाकसे श्लेष्मा निकल पड़ी।

भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही मूर्तिरूपमें प्रकट नहीं होते। इसमें उनकी अपनी गरज भी होती है। वे इसके बिना अपूर्णता और अतृप्ति का बोध करते हैं। वे प्रेम-स्वरूप हैं। प्रेमका स्वरूप है अतृप्ति। प्रेम जितना अधिक होता है उतनी ही उसकी प्यास और अधिक होती है, उतना ही उसे अपना अन्तर और खाली लगता है। उसे और अधिक प्रेमसे भरनेके लिये वह व्याकुल होता है। अनन्त भगवान्का प्रेम अनन्त है। इसलिये उनकी प्यास भी अनन्त है। अनन्त प्यासको बुझानेके लिये उनका प्रयास अनन्त है। मूर्तिरूपमें प्रकट होकर अनन्त भक्तोंकी प्रेम-सेवा अंगीकार करना और भाँति-भाँतिसे उनकी मनोवृत्तिके अनुकूल व्यवहारकर उन्हें सुखी करना और स्वयं सुखी होना उस अनन्त प्यासका ही स्वाभाविक परिणाम है।

प्रेममें कोई किसीपर अहसान नहीं करता। न भक्त भगवान्पर अहसान करता है, न भगवान् भक्त पर। दोनों एक दूसरेसे प्रेम करते हैं केवल प्रेमके लिये। भक्त भगवान्से प्रेम किये बिना नहीं रह सकता, भगवान् भक्तसे प्रेम किये बिना नहीं रह सकते। भक्त अपना सब कुछ भगवान्को समर्पण कर देता है और भगवान् अपना सब कुछ भक्तको समर्पण कर देते हैं। मूर्ति रूपमें भगवान्का प्रकट होना भक्तके प्रति उनका आत्म-समर्पण है। वह अपने अनन्त ऐश्वर्य और स्वातन्त्र्यको त्यागकर भक्तके हाथ की कठपुतली बन जाते हैं। भक्त जैसे रखता है वैसे रहते हैं, जो खिलाता है खाते हैं, जो पहनाता है पहनते हैं, जब सुलाता है सोते हैं, जब जगाता है जागते हैं, यहाँ तक कि भक्तकी इच्छानुसार ही वे उठते और बैठते हैं।

श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी वृन्दावनमें शालग्राम रूपमें उपविष्ट श्रीराधा-रमणकी सेवा करते थे। एकबार कोई धनी व्यक्ति वृन्दावनके सभी मन्दिरों

के ठाकुरोंके लिये बहुमूल्य वस्त्राभूषण दे गया। उस समय गोपालभट्टके मनमें वासना जागी कि यदि उनके ठाकुर के हाथ-पैर, नाक-कानादि होते तो वे भी अन्य ठाकुरोंके सेवकों की भाँति उन्हें वस्त्राभूषणादि पहनाकर और भाँति-भाँतिसे उनका शृङ्गार कर सुखी होते। उसी रात शालग्राम रूपमें बैठे श्रीराधारमण हस्तपदादि सहित अति मनोहर त्रिभंग मुद्रामें उठ खड़े हुए। भक्तगण आज भी उनके इसी रूपमें दर्शन करते हैं। श्रीधामपुरीके टोटा गोपीनाथजी की विशाल मूर्ति, जिसकी सेवा श्रीचैतन्य-महाप्रभुके अभिन्न परिकर श्रीगदाधर पण्डित किया करते थे, खड़ी थी। जब गदाधर बहुत वृद्ध होगये और उन्हें उस विशाल मूर्तिकी खडे-खड़े सेवा करना कष्टकर प्रतीत होने लगा, तब वे भक्तका कष्ट देख खड़ेसे बैठ गये। आज भी वे बैठे ही दीखते हैं।

मूर्तिरूपमें प्रकट भगवान् अपने भक्तको सुखी करनेके लिये क्या नहीं करते ? पुरीके निकट साक्षीगोपालका मन्दिर है। उनकी सेविका रानीके पास एक बहुमूल्य मुक्ता था। वे सोचने लगीं कि यदि वह मुक्त बुलाकरूपमें साक्षीगोपाल धारण करते, तो वे बुलाकके साथ उनकी मनोहर रूप-माधुरीके दर्शन कर कितना सुखी होतीं। पर साक्षीगोपालकी नाक तो छिदी नहीं थी जो वह बुलाक धारण करते। रानी हृदय मसोसकर रह गयी। उसी रात साक्षीगोपालने स्वप्नमें उससे कहा—'दुखी क्यों होती हो? देखो न मेरी नाक छिदी हुई है। माँने छोटेपनमें छिदवा दी थी।' दूसरे दिन देखा तो सचमुच उनकी नाकमें छेद था। भक्तके लिये उन्हें अपनी नाक छेद लेनी पड़ी थी।

मूर्तिरूपमें भगवान भक्तकी सेवा ग्रहण ही नहीं करते, सेवा करते भी हैं, और सेवा करके जितना सुखी होते हैं उतना सेवा ग्रहण करके सुखी नहीं होते। माध्वेन्द्रपुरीजीको गोवर्धनके कुंजमें छिपी गोपालमूर्तिने गोपवेशमें दूध ले जाकर दिया था और कहा था—'मैं इसी गाँवमें रहता हूँ! तुम्हारे जैसे अयाचक वृत्तिपर रहनेवाले महात्माओंके लिये आहार जुटाकर उनकी सेवा करता हूँ।' माध्वेन्द्रपुरीके लिये ही रेमुनाके गोपीनाथजीने खीरकी चोरीकी थी। तभी उनका नाम पड़ा था 'खीरचोरा गोपीनाथ'। वृन्दावनकी गोपालमूर्ति अपने भक्तके लिये उसके साथ पैदल चलकर उस स्थानपर गयी थी, जहाँ उसे उसके पक्षमें साक्षी भरनी थी। तभी उसका नाम पड़ा था साक्षीगोपाल। जगन्नाथपुरीके जगन्नाथजी ने तो संग्रहणीसे आक्रान्त अपने

भक्त माधवदास को असहाय देख उनके शौचके लिये बार-बार जल लाकर उनके मल-मूत्रसे सने देहको अपने करकमलोंसे धोया तक था और ऐसा कर अपने-आपको कृतार्थ माना था।

श्रीमूर्तिकी सेवा-विधि

मूर्तियाँ आठ प्रकारकी होती हैं—शिलामयी, दारुमयी (काष्ठसे निर्मित), लौही (सुवर्णादि धातुमयी), लेप्या (मृत्तिका-चन्दनादिसे बनी हुई) लेख्या (चित्रपटादि), सैकती (बालुकामयी), मनोमयी और मणिमयी।[१] इनमें जो सचल मूर्तियाँ होती हैं उनका आवाहन और विसर्जन होता है, जो अचल होती हैं उनका केवल प्रतिष्ठाके समय आवाहन होता है। उसके पश्चात् आवाहन या विसर्जन नहीं होता।[२] शालग्राम शिलाकी न प्रतिष्ठा होती है न उसका आवाहन होता है, क्योंकि उसमें भगवान्‌का अधिष्ठान स्वाभाविकरूपसे रहता है—'शालिग्रामशिला यत्र तत्र सन्निहितो हरिः'।[३]

श्रीमूर्तिकी सेवामें अदीक्षित व्यक्तियोंका अधिकार नहीं है। दीक्षित व्यक्तियोंके लिये श्रीमूर्ति-सेवा अत्यन्त आवश्यक है। आगमशास्त्रके प्रमाणानुसार मन्त्र लाभ करनेके पश्चात् जो लोग मन्त्र-देवताकी अर्चना नहीं करते, उनके सभी कर्म निष्फल होते हैं, उनका मन्त्र-देवता अनिष्ठ करते हैं।[४] श्रीजीव गोस्वामीने लिखा है कि यद्यपि श्रीमद्‌भागवतके मतसे अर्चन अत्यावश्यक नहीं है और शरणापत्ति आदि नवधा-भक्तिके किसी एक अंगके साधनसे अभीष्ट सिद्धि होसकती है, तथापि श्रीनारदादिके मतानुसार जो लोग भगवान्‌से सम्बन्ध स्थापित करनेके उद्देश्यसे गुरुदेवसे दीक्षा ग्रहण करते हैं, उनके लिये दीक्षाके पश्चात् अर्चन अत्यन्त आवश्यक है।[५] उन्होंने यह भी लिखा है कि सम्पत्तिमान गृहस्थके लिये अर्चन मार्ग ही मुख्य है। स्कन्दपुराणमें प्रह्लादकी उक्ति है कि जिस गृहस्थके घर भगवान्‌का श्रीविग्रह नहीं है, उसके घरका अन्न भोक्तव्य नहीं है, वह अभक्ष्यके समान है—

---

१. भा. ११।२७।१२

२. भा. ११।२७।१३

३. ह.भ.वि. ५।१२५ धृत स्कन्द-पुराण, कार्तिक-माहात्म्यमें लिखित प्रमाण।

४. ह.भ.वि. ३।३ धृत आगम प्रमाण।

५. भ. स. २८३

केशवार्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते ।
तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्ष्येण समं स्मृतम् ।।

बहुतसे धनी व्यक्ति घरमें श्रीविग्रह तो रखते हैं, पर उनकी सेवा किसी और से कराते हैं। यह उत्तम भक्ति नहीं है। यह आलस्य और श्रद्धाकी कमीका परिचायक है। अर्चन अपने भजनका प्रमुख अंग है। इसलिये इसे प्रीति-पूर्वक अपने-आप ही करना चाहिये। विष्णुधर्ममें लिखा है कि श्रीमूर्तिमें चित्तका सम्यक् आवेश रखते हुए उसे उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते सब समय अपने आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, अगल-बगल और सर्वत्र उपस्थित जानकर उसका चिंतन करनेसे उसकी हृदयमें स्फूर्ति होती है—

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जंस्तामेवाग्रे च पृष्ठतः।
उपर्यधस्तथा पार्श्वे चिन्तयंस्तामथात्मनः ।।

अर्चनके समय भी बाह्य पूजाके साथ मानसिक पूजाकी विधि है। मानसिक पूजामें मन ही मन उसी प्रकार और उन्हीं उपचारोंसे पूजाकी जाती है, जिस प्रकार और जिन उपचारोंसे बाह्य पूजाकी जाती है। यदि कोई अशक्त हो और बाह्य पूजा न कर सके तो उसके लिये केवल मानसिक पूजाका विधान है। श्रीजीव गोस्वामीने अग्निपुराणका प्रमाण देते हुए लिखा है कि अशक्तावस्थामें पूजाके समय (जब पूजाकी जारही हो) श्रीहरिका दर्शन करने से भी वही फल मिलता है, जो पूजा करने से मिलता है।[1]

अर्चनकी विधिके सम्बन्धमें श्रीजीव गोस्वामीने लिखा है कि अर्चनके उद्देश्यके अनुसार उसकी विधि भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। हरिभक्तिविलासमें पूजाविधि-प्रकरणमें अंगन्यास, करन्यासादि विविध न्यासों और आवाहन-विसर्जन आदिका उल्लेख है। परन्तु न्यास और आवाहन-विसर्जन उन्हीं लोगोंके लिये है, जो किसी कामनाकी सिद्धिके लिये पूजा करते हैं। भगवद्-भक्तिपरायण व्यक्तियोंके लिये उनकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे श्रीमूर्ति में साक्षात् भगवद्‌बुद्धि रखते हैं। भक्तिमार्गके साधकके लिये वैष्णव-सम्प्रदाय-सम्मत विधि ही अनुसरणीय है।[2]

भक्तके अपने घरमें श्रीमूर्तिकी पूजाकी विधि और देवालयोंमें पूजाकी विधि एक जैसी नहीं है; देवालयोंमें सेवादिके नियमोंकी रक्षा करना

---

१. भ. स. २८३
२. वही

नितान्त आवश्यक है। घरमें स्वच्छन्द भावसे सेवाकी जासकती है। केवल साधकके व्रतकी रक्षा होती रहनी चाहिये।[१] देवालयोंमें जिस प्रकार जिस-जिस समय स्तव-स्तुति आदिका नियम है, उसका अविचलित भावसे पालन होना चाहिये। भोगके समय और परिमाणादिके नियमका भी सदा पालन होना चाहिये। सभी सेवापराधोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। परन्तु घर में इन सब नियमोंका पालन करना नितान्त आवश्यक नहीं है। उतना ही आवश्यक है जितना संभव है। संभव होनेपर भी न करने में दोष है।

भोगके सम्बन्धमें भगवान्‌का वचन है—"जो-जो द्रव्य समाजमें अत्युत्कृष्ट माने जाते हैं, जो मुझे और साधक दोनोंको प्रिय हैं, उन्हींको मुझे निवेदन करनेसे अनन्त फल लाभ होता है।"[२] सनातन गोस्वामीने इसका अर्थ यह किया है कि लौकिक बन्धुके समान ही भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये। लौकिक व्यवहारमें हम अपने बन्धुको वही द्रव्य खिलाते हैं, जो उसे भी प्रिय हों और अपनेको भी। मुख्य बात यह है कि भगवान्‌को जो भी निवेदन किया जाय प्रीतिपूर्वक करना चाहिये। भगवान् प्रीतिके ही भूखे हैं, द्रव्यके नहीं। प्रीतिपूर्वक जो भी उन्हें अर्पण किया जाता है उसका वे प्रेमसे आस्वादन करते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥[३]

श्रीमूर्तिकी पूजामें जाति-वर्णादिका विचार नहीं है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-शूद्र-स्त्री आदि सभी इसके अधिकारी हैं।[४] स्कन्द-पुराणके "ब्राह्मणस्यैव पूज्योऽहम्" वाक्यमें जो यह कहा गया है कि स्त्रियों और शूद्रोंको शालग्राम शिलाके स्पर्शका भी अधिकार नहीं है, उसका यह अर्थ समझना चाहिये कि अदीक्षित या अवैष्णव स्त्री-शूद्रादिकोंका शालग्राम-अर्चनका अधिकार नहीं है, नहीं तो स्कन्द-पुराणके ही अन्य वाक्योंसे इसका मेल नहीं बैठेगा, जिनमें उनके इस प्रकारके अधिकारका समर्थन किया गया है। श्रीहरि-भक्ति-विलास ५।२२४ श्लोकमें इसका समाधान इसी प्रकार किया गया है।

---

१. ह. भ. वि. ८।२२६-२७

२. भ. ११।११।४१

३. गीता ९।२६

४. ह. भ. वि. ५।२२३ धृत स्कन्द पुराण वचन।

श्रीसनातन गोस्वामीने इस श्लोककी टीकामें लिखा है—'शूद्र और अन्त्यजों में भी जो वैष्णव हैं, उन्हें शूद्रादि नहीं कहा जाता।' नारदीय पुराणमें कहा है—'हे महीपाल ! विष्णु-भक्त श्वपच भी ब्राह्मणसे श्रेष्ठ हैं।' इतिहास समुच्चयमें कहा है—'भगवद्‌भक्त शूद्र, निषाद व श्वपचमें जो व्यक्ति सामान्य जाति-बुद्धि रखता है, उसे निश्चय ही नरक भोगना होता है।' पद्मपुराण में भी कहा है—'भगवद्‌भक्त शूद्र भी शूद्र नहीं हैं, वे भी भागवत ही हैं। जो भगवद्‌भक्त नहीं हैं, वे ही शूद्र हैं, चाहे वे किसी वर्णके क्यों न हों।' इन सभी उक्तियोंका अर्थ है कि जिस प्रकार रस विधान द्वारा काँसा भी सोना होजाता है, उसी प्रकार भगवद्दीक्षाके प्रभावसे शूद्रादिकोंका भी द्विज-साम्य सिद्ध होजाता है।'

• • •

श्रीनाम-कीर्तन

नाम और नामीका अभिन्नत्व

सांसारिक किसी वस्तुका नाम उस वस्तुसे भिन्न है। नाम उसका संकेत करता है, निर्देश करता है, पर उसकी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं करता। "जल"कहनेसे जलका संकेत होता है,प्यास नहीं बुझती। "मिसरी" कहनेसे मिसरीका संकेत होता है, मुँह मीठा नहीं होता। पर भगवान्‌का नाम भगवान्‌से भिन्न नहीं है। भगवान्‌का नाम ही भगवान् हैं। जो भगवान् के धर्म और गुण हैं, वही उनके नामके धर्म और गुण हैं। भगवान् अप्राकृत और सच्चिदानन्द हैं; उनका नाम भी अप्राकृत और सच्चिदानन्द है—

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द।
कृष्णेर स्वरूपसम सब चिदानन्द ॥[1]

भगवान् पूर्ण, शुद्ध, नित्यमुक्त और रसस्वरूप हैं; उनका नाम भी पूर्ण, शुद्ध, नित्यमुक्त और रसस्वरूप है—

नाम चिन्तामणिः कृष्ण चैतन्यरस विग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नाम-नामिनोः॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु १।२।१०८ धृत पाद्म-वचन)

भगवान् मधुरातिमधुर, परममंगलमय और निगम-कल्पतरुके सत्-फलस्वरूप हैं; उनका नाम भी मधुरातिमधुर, परममंगलमय और निगम-कल्प-लताका सत्-फलस्वरूप है—

मधुर मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्ली-सत्फलं चितस्वरूपम्।
(ह. भ. वि. ११।२३९ धृत प्रभासखड्ड वचन)

---

१. चै. च. २।१७।१३०

भगवान् सबसे बड़े हैं, उनसे बड़ा और कोई नहीं है। उन्हें किसीका भय नहीं है, स्वयं भय भी उनसे भयभीत है।[1] भगवान्‌का नाम भी सबसे बड़ा है, उससे बड़ा और कुछ नहीं है। उसे भी किसीका भय नहीं है, उससे भी भय भयभीत है—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशोगृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥[2]

भगवान् सविशेष होते हुए निर्विशेष हैं। श्रीकृष्ण उनका श्रेष्ठतम सविशेष रूप है, ब्रह्म उनका निर्विशेष रूप है। भगवन्नाम भी सविशेष होते हुए निर्विशेष है। श्रीकृष्ण-नाम भगवान्‌का सर्वश्रेष्ठ सविशेष नाम है, प्रणव या 'ॐ' कार उनका निर्विशेष नाम है। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-नाम जिस प्रकार अभिन्न हैं, उसी प्रकार प्रणव और ब्रह्म अभिन्न हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्‌में कहा है—"ॐ मिति ब्रह्म", अर्थात् "ॐ" ब्रह्म है। गीता और कठोपनिषद्‌में और भी स्पष्ट रूपसे कहा है "ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म", "एतद्ध्येवाक्षरः ब्रह्म", अर्थात् "ॐ", यह एक अक्षर ही ब्रह्म है।

सविशेष कृष्ण, जिस प्रकार निर्विशेष ब्रह्मका आश्रय हैं ("ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्")[3], उसी प्रकार सविशेष कृष्ण-नाम निर्विशेष प्रणवका आश्रय है। दूरका जन-कोलाहल निर्विशेष ध्वनिके रूपमें सुनाई पड़ता है। जैसे-जैसे हम उसके निकट पहुँचते हैं, उसका सुस्पष्ट-सविशेष वर्णात्मक शब्दरूपमें अनुभव होता है। उसी प्रकार निर्विशेष प्रणव-ध्वनिका अतिक्रमण कर जैसे-जैसे हम रसमय नामतत्वके परिपूर्ण स्वरूपके निकट पहुँचते हैं, वैसे-वैसे सविशेष-सुस्पष्ट-सुमिष्ट राम, नृसिंह, नारायण आदि भगवन्नामोंका अनुभव होता है। सबसे अन्तमें उन्हीं सब नामोंका मधुरादपि सुमधुर एक परिपूर्ण कृष्णनाममें पर्यवसान होता है। जिस प्रकार सविशेष-सुस्पष्ट शब्दोंका अवलम्बन कर निर्विशेष जन-कोलाहलकी अभिव्यक्ति होती है, निर्विशेष जन-कोलाहलका अवलम्बनकर सविशेष-सुस्पष्ट शब्दोंकी अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार सविशेष कृष्ण-नामसे ही प्रणवकी अभिव्यक्ति है, प्रणवसे कृष्ण-नामकी अभिव्यक्ति नहीं है; कृष्ण-नाम ही प्रणवका आश्रय है, प्रणव कृष्ण-नामका आश्रय नहीं है।

---

१. भा. ११८।३१

२. भा. १।१।१४

३. गीता १४।२७

भगवान्‌के अनन्त रूप हैं, जो उत्तरोत्तर एक-दूसरेसे श्रेष्ठ हें, क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर एक-दूसरेकी अपेक्षा उनकी शक्तिका अधिक प्रकाश है। निर्विशेष ब्रह्ममें उनकी शक्तिका निम्नतम प्रकाश है। आंशिक सविशेष परमात्मामें उनकी शक्तिका उससे अधिक प्रकाश है। नारायण, राम, नृसिंहादिमें उनकी शक्ति और माधुर्यादिका और भी अधिक प्रकाश है और कृष्णमें उनकी शक्ति और माधुर्यादिका पूर्णतम प्रकाश है। इसी प्रकार भगवान्‌के नामके भी अनन्त प्रकाश हैं। प्रणव, जो निर्विशेष ब्रह्मका अभिन्न स्वरूप है, उसका निम्नतम प्रकाश है; परमात्माका नाम, जो परमात्माका अभिन्न स्वरूप है, उसका उच्चतर प्रकाश है; नारायण, राम, नृसिंह आदि भगवान्‌के सविशेष रूपोंके नाम, जो उन-उन रूपोंके अभिन्न स्वरूप हैं, उसका और भी उच्चतर प्रकाश हैं और श्रीकृष्ण-नाम, जो श्रीकृष्णका अभिन्न स्वरूप है, उसका पूर्णतम प्रकाश है।

शास्त्रोंमें भगवान्‌के विभिन्न स्वरूपोंकी शक्तिके तारतम्यके अनुसार उनके विभिन्न नामोंकी शक्तिके तारतम्यका भी स्पष्ट उल्लेख है। पद्मपुराण उत्तरखण्ड, वृहद्‌विष्णु सहस्रनाम-स्तोत्रमें महादेवने भगवतीसे राम-नामको अन्य नामोंसे श्रेष्ठ बताते हुए कहा है—

"राम रामेति रमे रामे मनोनरमे।
सहस्रनामभिस्तुल्यं राम नाम वरानने॥

—हे वरानने! रामनाम विष्णु-सहस्रनामके तुल्य है, अर्थात् विष्णु-सहस्रनामकी एकबार आवृत्ति करनेसे जो फल होता है, वह केवल राम-नाम की एकबार आवृत्ति करनेसे होता है। इसलिये मैं सदा राम-नामका उच्चारणकर मनोरम रामचन्द्रमें रमण करता हूँ।"

हरिभक्ति विलासमें ब्रह्माण्ड-पुराण-वचन उद्‌धृतकर राम-नामसे भी श्रीकृष्ण-नामको श्रेष्ठ बताते हुए कहा है—

"सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्यातु यत फलम्।
एकावृत्या तु कृष्णस्य नामेकं तं प्रयच्छति॥
(ह. भ. वि. ११।२५८)

—पवित्र विष्णु-सहस्रनामकी तीन बार आवृत्ति करनेका जो फल होता है, वह श्रीकृष्णके एक नामकी एकबार आवृत्ति करनेका होता है।"

पद्म-पुराण पाताल-खण्डमें राम-नामको तारक और कृष्ण-नामको पारक कहा है। तारक राम-नामके जपका फल है मुक्ति, पारक कृष्ण-नाम के जपका फल है प्रेम—

मुक्ति हेतुक 'तारक' हय राम-नाम।
कृष्ण-नाम 'पारक' हये-करे प्रेमदान॥[1]

जिस प्रकार प्राकृत-अप्राकृत सभी शक्ति-पदार्थ परब्रह्म श्रीकृष्णकी शक्तिका विकास हैं, उसी प्रकार प्राकृत-अप्राकृत सभी शक्ति-पदार्थोंके नाम शब्द-ब्रह्म श्रीकृष्ण-नामकी शक्तिका विकास हैं। परब्रह्म जिस प्रकार सभी शक्ति-पदार्थोंका मूल कारण होनेके कारण शक्तिमत् तत्व है शक्ति नहीं, उसी प्रकार परब्रह्मका वाचक शब्द-ब्रह्म सभी शब्दोंका मूलकारण होनेके कारण शक्तिमत् तत्व है, शक्ति नहीं।

सचमुच शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म दोनों भगवान्के नित्य शरीर हैं, ऐसी भगवान्की अपनी उक्ति है—

"शब्दब्रह्म परंब्रह्म मामोभे शाश्वती तनू।"[2]

भगवान्के शरीर और स्वरूपमें अभेद होनेके कारण उनकी इस उक्ति का स्पष्ट अर्थ यही है कि शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म एक ही शक्तिमत् तत्व हैं, दो नहीं।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि भगवान्के दो प्रकारके नाम हैं—आजानिक और आधुनिक। केवल आजानिक नाम ही भगवान्से अभिन्न हैं। आजानिक नाम वे हैं, जो भगवान्की ही तरह अनादि-सिद्ध हैं, जिनका वेदादि शास्त्रोंमें व्यवहार किया गया है, जो परमेश्वर द्वारा रचित नित्य शब्द-संकेत हैं। आधुनिक नाम वे हैं, जिनकी विभिन्न देशोंमें विभिन्न भाषाओंमें परमेश्वर-निर्देशक शब्द-संकेतके रूपमें मनुष्यों द्वारा सामायिक रूपसे रचना की गयी है, जो पहले नहीं थे और पीछे भी नहीं रहेंगे, जैसे "अल्लाह", "God" इत्यादि। भगवान्के आधुनिक नामोंसे भी जीवोंका मंगल होता है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु इनसे मंगल इसलिये नहीं होता कि इनमें भगवान् जैसा गुण और शक्ति है, वरन् इसलिये कि ये परमात्माके निर्देशक-शब्द होनेके कारण परमात्माका मनमें उदय कराते हैं।

---

१. चै. च. ३।३।२२४

२. भा. ६।१६।५१

शंका की जा सकती है कि सम्भवतः भगवान्‌के आजानिक नाम भी आधुनिक नामोंकी तरह चित्तमें भगवान्‌का स्मरण करा सकनेके कारण ही जीवोंका मंगल करते हैं, न कि अपनी शब्द-शक्तिके कारण। इस शंकाका समाधान यह है कि यदि ऐसा होता तो नामाभासका भी वही फल न होता जो नामका होता है। शास्त्रोंमें इस बातका स्पष्ट संकेत है कि जब भगवान्‌का नाम भगवान्‌के उद्‌देश्यसे नहीं लिया जाता, किसी व्यक्ति विशेषके उद्‌देश्यसे या किसी प्राकृत या मायिक वस्तुके उद्‌देश्य से लिया जाता है, तो भी उससे जीवका पारमार्थिक मंगल सिद्ध होता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि यदि कोई भगवान्‌के नामका उच्चारण करे बिना यह जाने हुए भी कि यह भगवान्‌का नाम है, तो भगवन्नाम उसके समस्त पापोंको उसी प्रकार दग्ध कर देता है,जिस प्रकार अग्नि ईंधनको ध्वंस कर देती है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमः श्लोक नाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥[1]

अजामिलने मरते समय अपने पुत्रके उद्‌देश्यसे "नारायण" नामका उच्चारण किया था, तो भी उसकी मुक्ति होगई थी। हरिभक्ति-विलासमें शास्त्र-प्रमाण सहित उल्लेख है कि कोई परिहासमें भगवान्‌का नाम ले, जैसे कोई कहे—"भक्तराज ! तुम तो हरिनाम लोगे और अच्छे हो जाओगे, तुम्हें दवा-दारू से क्या ?", या कोई हरिनामके प्रति अवज्ञा सहित कहे—"हरिनाम सुनने का हमारे पास समय नहीं", या कोई अकस्मात विस्मय या घृणाके उद्रेकसे कहे—"राम, राम !", या किसीके मुखसे उबासी लेते समय, या पर फिसल कर गिर जानेपर, या दण्डित होनेपर अपने-आप अर्थशून्यरूपसे निकल जाय "हा राम"!, तो भी हरिनाम पूर्ण शक्तिसे अपने प्रभावका विस्तार करता है, जैसे अग्निमें कोई जान-बूझकर हाथ डाले या धोखेसे, अग्नि दोनों ही अवस्थाओंमें अपना प्रभाव प्रदर्शित करती है—

सांकेत्यं पारिहास्यम्वा स्तोभं हेलन मेव वा।
वैकुन्ठनाम ग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥[2]

कुछ लोग भगवन्नामके अप्राकृत और चिन्मय होनेके सम्बन्धमें शंका करते हैं। उनका कहना है कि जो नाम हमारी प्राकृत जिह्वासे उच्चारित

---

१. भा. ६।२।१८

२. ह. भ. वि. ११।१५२

होते हैं, वे सब प्राकृत ही हैं। प्राकृत जिह्वासे उच्चारित होना ही उनके प्राकृतत्वका प्रमाण है। प्राकृत जिह्वासे अप्राकृत नामका उच्चारण कैसे सम्भव है? यह बात ठीक है कि प्राकृत इन्द्रियसे अप्राकृत वस्तु नहीं ग्रहण की जा सकती—

"अप्राकृत वस्तु नहे प्राकृतेन्द्रिय गोचर।"[1]

फिर भगवन्नाम भगवान्की ही तरह परम स्वतन्त्र भी तो है। प्राकृत जिह्वा या उसके द्वारा नाम लेने वाले व्यक्तिकी शक्ति कहाँ जो परम स्वतन्त्र भगवन्नामको अपनी इच्छानुसार प्रकट कराये। सच बात यह है कि नाम लेनेवाला व्यक्ति अपनी इच्छासे भगवन्नामको प्रकट नहीं करता; जब वह नाम लेनेकी इच्छा करता है उसकी जिह्वापर स्वप्रकाश भगवन्नाम स्वयं ही कृपापूर्वक आविर्भूत होता है—

अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥[2]

प्राकृत जिह्वाका स्पर्श नामको प्राकृत नहीं बना देता, जिह्वा ही नाम लेते-लेते अप्राकृत होजाती है, उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्यका आलोक अन्धकारमें प्रवेश करनेसे अन्धकारमें परिणत नहीं होजाता, अन्धकारको ही आलोकमें परिणत कर देता है।

परन्तु यदि भगवन्नाम अप्राकृत, चिन्मय और भगवान्से अभिन्न है, तो सर्वसाधारणको भगवन्नाम लेते समय उसके चिन्मय स्वरूप और अलौकिक प्रभावका अनुभव क्यों नहीं होता? इसलिये कि साधारण व्यक्ति उसके अधिकारी नहीं हैं। जिस प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापक होते हुए भी ब्रह्मदर्शी व्यक्तियोंको छोड़ और किसीके द्वारा अनुभूत नहीं है, और परमात्मा सर्वान्तर्यामी होते हुए भी योगियोंको छोड़ और किसीके द्वारा अनुभूत नहीं है, उसी प्रकार चिन्मय भगवन्नाम और भगवान् भक्तोंको छोड़ और किसी के द्वारा अनुभूत नहीं हैं। जिनका अन्त:करण भक्तिसे परिप्लुत, स्वच्छ और अपराधशून्य है उन्हींको भगवन्नामके चिन्मय स्वरूप और उसके अलौकिक प्रभावकी अनुभूति होती है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें कहा है कि यदि

१. चै. च २।६।१७९

२. भ. र. सिं. १।२।१०९ धृत पाद्मवचन

निरपराध व्यक्ति एकबार कृष्णनाम उच्चारण करे, तो उसे कृष्ण, कृष्ण-प्रेम, अश्रु-कम्प-पुलकादि सात्त्विक भाव और मुक्तिकी अनायास एकसाथ उपलब्धि होती है। यदि बहुत बार कृष्णनाम लेनेपर भी इस फलको प्राप्ति न हो, तो समझ लेना चाहिये कि नाम उच्चारण करनेवालेका हृदय पूर्वसंचित अनेकों अपराधोंसे परिपूर्ण है—

एक कृष्णनामे करे सर्व पाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद, कम्प, पुलकाश्रु, गद्‌गदाश्रु धार॥
अनायासे भवक्षय, कृष्णेर सेवन।
एक कृष्ण नामेर फले पाइ एत धन॥
हेन कृष्णनाम यदि लय बहु बार।
तबे यदि प्रेम नहें, नहें अश्रु धार॥
तबे जानि अपराध ताहाते प्रचुर।
कृष्णनाम-बीज ताहे ना हय अंकुर॥[1]

जिस प्रकार भगवान्‌का श्रीविग्रह अप्राकृत होते हुए भी उन लोगोंको प्राकृत जैसा ही प्रतीत होता है, जिनका अन्तःकरण शुद्ध और अपराध-शून्य नहीं है, उसी प्रकार भगवान्‌का नाम भी उन्हें प्राकृत नामों जैसा ही प्रतीत होता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भगवद्-विग्रह और भगवन्नाम वास्तवमें प्राकृत ही हैं। शुद्ध अन्तःकरणवाले भगवद्भक्तोंका अनुभव यही है कि भगवन्नाम अप्राकृत है और अपने धर्म और गुणोंमें भगवानके समान होनेके कारण अनन्त-शक्ति-सम्पन्न मधुरातिमधुर और परम मंगलमय है। श्रीरूपगोस्वामीके 'विदग्धमाधव' नाटकमें देवी पूर्णमासीकी उक्ति है—

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीं लब्धये।
कर्णक्रोड़कड़म्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्॥
चेतःप्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं।
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेतिवर्णद्वयी॥

अर्थात्, न जाने किस प्रकारके अमृतसे गठित हैं "कृष्ण" नामके यह दो अक्षर! जब यह नाम (नटीके समान) रसनापर नृत्य करता है, तब मनमें

१. चै. च. १।८।२२-२६

बहुत सी रसनाओंकी अभिलाषा होती है, जब कर्णकुहरमें प्रवेश करता है तब अगणित कर्णोंकी स्पृहा जागती है, जब चित्तरूपी प्राङ्गणमें संगिनी रूप में उदय होता है, तब सभी इन्द्रियाँ पराभूत होकर अपना-अपना कार्य छोड़ बैठती हैं।

स्वयं श्रीमन्महाप्रभुकी उक्ति है—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्नि निर्वापणं
श्रेयः कैरवचन्द्रिका वितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तनम्॥

अर्थात्, श्रीकृष्णनाम चित्तरूपी दर्पणको मार्जनकर स्वच्छ कर देता है, संसार तापरूपी महादावानलको शान्त कर देता है और मंगलरूपी कुमुदकी ज्योत्सना वितरण करता है। वह विद्यारूपी वधूका प्राणस्वरूप और आनन्द-समुद्रका वर्धन करनेवाला है। उसके प्रत्येक पदमें पूर्णामृतका आस्वादन होता है। वह सम्पूर्ण आत्माकी तृप्ति करता है; देह, मन और इन्द्रियोंके रन्ध्रमें, प्रत्येक अणु-परमाणुमें प्रवेशकर उन्हें एक अनिर्वचनीय आनन्दरससे अभिषिक्त करता है और इस प्रकार विशेष रूपसे विजययुक्त होता है।

श्रीमती राधिकाने जब कृष्णको नहीं देखा था और वे जानती भी न थीं कि इस नामका कोई व्यक्ति है, तब भी कृष्ण-नाम सुनते ही भावाविष्ट अवस्थामें उन्होंने नामाक्षरोंमें से श्रीकृष्णके श्रीविग्रहको उदित होते देखा था। कविकर्णपूरके 'अलङ्कार-कौस्तुभ' में इस विषयका इस प्रकार वर्णन है—

तमालनीलं किमपि त्वदुक्ता
द्विम्बोष्टि कृष्णेति पदादुदीर्णम्।
अन्तः प्रविश्य श्रुतिवर्त्मना मे
न वेद्मि तद्धाम किमातनोति॥

अर्थात्, कृष्ण-नाम श्रवणकर श्रीराधिका किसी सखीसे कहती हैं—"अरी बिम्बाधरे! तेरे "कृष्ण" नामके उच्चारण करते ही उस नाममें से उदित तमाल-नीलकान्तिवाली एक अपूर्व वस्तुने कर्ण-पथसे मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्टकर जिस अनिर्वचनीय भावका विस्तार किया है, उसे मैं कुछ भी समझ नहीं पा रही हूँ।

श्रीरूपगोस्वामीने श्रीमती राधिकासे सम्बन्धित इस प्रकारकी एक मनोहर घटनाका विदग्धमाधव नाटकमें सुन्दर वर्णन किया है, जिससे श्रीकृष्णके स्वरूप, नाम और श्रीविग्रहकी अभिन्नता प्रमाणित होती है। श्रीराधिकाने श्रीकृष्णके दर्शनके पूर्व ही एकदिन किसीके मुखसे "कृष्ण" नाम सुना था। एक और दिन सुदूर कदम्ब-काननसे आती हुई श्रीकृष्णको मधुर बंशी-ध्वनिने उनके कर्ण-कुहरमें प्रवेश किया था। उसके पश्चात् जब एकदिन विशाखाने उन्हें श्रीकृष्णके नव-जलधरके समान स्निग्ध-द्युतिमान् चित्रपटका दर्शन कराया था, तब वे अत्यन्त विमना और विषादग्रस्ता हो गयी थीं। ललितादि सखियोंने उनकी मनोवेदनाका कारण जाननेके लिये अतिशय उत्कण्ठा व्यक्त की थी, तब उन्होंने नतमस्तक हो सजल नयन और सलज्जभावसे कहा था—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
एष स्निग्धनद्युतिर्मनसि मे लग्नः पटे वीक्षणात्
कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी॥

अर्थात्, किसी एक व्यक्तिके "कृष्ण" इन दो नामाक्षरोंने कर्ण-द्वारसे प्रवेशकर मेरी मतिको हर लिया है; किसी दूसरे व्यक्तिकी वंशी-ध्वनि मुझे निरन्तर उन्मादित किये रहती है; किसी और व्यक्तिका चित्रपट देख उसकी छबि मेरे हृदयमें बस गयी है। हा कष्ट ! मुझे धिक्कार है ! एक कुलबाला के लिये तीन पुरुषोंकी रति एक साथ हृदयमें वहन करनेकी अपेक्षा उसका मरण ही मंगलमय है।

भगवन्नामको भगवान्से भिन्न माननेके साधारण भ्रमका कारण यही है कि लोग उसे अन्य पदार्थोंके नामके समान ही एक नाम मान लेते हैं। इस भ्रमको दूर करनेका सहज उपाय है उन्हें यह समझा देना कि भगवन्नाम अन्य पदार्थोंके नामसे सर्वथा भिन्न है। हम पहले कह चुके हैं कि भगवन्नाम है शक्तिमत्-पदार्थका नाम, अन्य नाम है प्राकृत-अप्राकृत शक्ति-पदार्थोंके नाम, क्योंकि भगवान् ही हैं एकमात्र शक्तिमत्-पदार्थ, अन्य सब पदार्थ हैं शक्ति-पदार्थ, अर्थात् भगवान्की शक्तियोंके विभिन्न प्रकाश। शक्तिमत्-पदार्थका नाम है शक्तिमत्-नाम या शब्द-ब्रह्म, शक्ति पदार्थोंके नाम हैं शक्ति-नाम, या शब्द-शक्ति, या साधारण भाषामें 'शब्द'। शक्तिमत् पदार्थ है अद्वय-ज्ञान-तत्व। वह स्वजातीय, विजातीय और स्वगत-भेद रहित

है। स्वगत भेद रहित होनेके कारण उसमें नाम-नामी, वाचक-वाच्य, गुण-गुणी, कर्ता-कर्म, अंग-अंगी, अंश-अंशी आदिका भेद नहीं है, अर्थात् उसमें जो नाम है वही नामी है, जो गुण है वही गुणी है, जो कर्म है वही कर्ता है, जो अंग है वही अंगी है,जो अंश है वही अंशी है। शक्ति पदार्थोंमें स्वजातीय, विजातीय और स्वगत-भेद है। स्वगत-भेद होनेके कारण उनमें नाम-नामी, गुण-गुणी, अंश-अंशी आदिका भेद है।

शक्तिमत्-पदार्थ है सभी पदार्थोंका आदि-कारण, उनका बीज स्वरूप। अन्य सब पदार्थ हैं उसका कार्य, शाखा-पल्लव-स्वरूप। कार्य-स्वरूप शाखा-पल्लवादिमें परस्पर भेद होता है, पर कारण-स्वरूप बीजमें शाखा-पल्लवादिका भेद नहीं होता। उसी प्रकार शक्तिमत् पदार्थके कार्य-स्वरूप जागतिक पदार्थोंमें नाम और नामी, वाचक और वाच्यका भेद है, पर कारण-स्वरूप शक्तिमत् पदार्थमें नाम-नामी या वाचक-वाच्यका भेद नहीं है।

नाम-कीर्तनकी श्रेष्ठता और अन्य-निरपेक्षता

भगवन्नाम भगवान्‌से अभिन्न होनेके कारण भगवान्‌के समान सर्वाभीष्टदायक है। भगवन्नामसे वह सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है, जो भगवान्‌से प्राप्त किया जा सकता है। भगवन्नाम सब साधनोंका राजा है। श्रीजीवगोस्वामीने कहा है कि यदि अन्य साधनोंमें निद्रा और इन्द्रियोंको जीतकर रात और दिन पूर्ण तन्मयताके साथ जुटे रहनेपर भी किसीकी भगवान्‌के चरणोंमें रति न जन्मे, तो उसे लज्जाहीन होकर श्रीहरिनामका कीर्तन करना चाहिये।[1]

भक्तिके जितने भी अंग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि—सब नाम-कीर्तनके अधीन हैं। नाम-कीर्तन अंगी है, श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि उसके अंग हैं। नाम-कीर्तनसे ही सब प्रकारके शुभों और सब प्रकारके भजनाङ्गों का उद्‌गम है।[2] नाम-कीर्तन अन्य-निरपेक्ष है। नाम-कीर्तनपर अन्य साधन निर्भर करते हैं, नाम-कीर्तन किसी अन्य साधनपर निर्भर नहीं करता। नाम अन्य सभी साधनोंकी पूर्णता विधान करता है। श्रीमद्भागवतके

---

१. भ. स. २६३

२. चै. च. ३।२०।९-१०

अनुसार मन्त्र-जपमें स्वरभ्रंशादिके कारण, तन्त्रमें क्रम-विपर्ययादिके कारण या देश, काल, पात्र और वस्तुओंको अशुद्धि आदिके कारण जो दोष होते हैं वे सब नाम-कीर्तन द्वारा दूर हो जाते हैं—'मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्ह-वस्तुतः। सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम संकीर्तनं तव ॥ भा. ८।२३।१६ ॥' स्कन्दपुराणमें भी लिखा है कि तपस्या, यज्ञ एवं अन्यान्य क्रियाओंकी पूर्ति भगवान्के स्मरण और नामोच्चारणसे ही होती है—'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञ-क्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतामेति सद्यो बन्दे तमच्युतम् ॥ ह. भ. वि. ११।१८१ धृत स्कान्द वचन ॥' नवविधा भक्ति भी नाम-संकीर्तन से ही पूर्ण होती है—'नवविधा भक्तिपूर्ण नाम हैते हय। चै.च. २।१५।१०८।'

नाम देश-काल-पात्र-दशादिकी भी अपेक्षा नहीं रखता। जो कोई व्यक्ति. जिस किसी स्थानपर, जिस किसी समय, जिस किसी अवस्थामें नाम-कीर्तन द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकता है। विषयभोगी, परपीड़क, ज्ञान-वैराग्य-वर्जित, ब्रह्मचर्यशून्य, सर्वधर्मत्यागी व्यक्ति भी नाम-कीर्तन द्वारा अनायास वह गति प्राप्तकर सकता है, जो धर्मात्मा व्यक्तियोंके लिये भी दुर्लभ है—'अनन्यगतयोमर्त्या भोगिनोऽपि परन्तपाः। ज्ञानवैराग्य रहिता ब्रह्मचर्यादिवर्जिताः ॥ सर्वधर्मोज्झिता विष्णोर्नाममात्रैक जल्पकाः। सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः ॥ ह. भ. वि. ११।२०१ धृत पद्मवचन ॥'

अशौच अवस्थामें भी नाम-कीर्तनमें कोई बाधा नहीं है। नाम परम-पावन है, सब प्रकारकी अशुचिको शुचिमें, अपवित्रताको पवित्रतामें परिणत करता है—'चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्। ना शौचं कीतने तस्य स पवित्र करो यतः ॥ ह. भ. वि. ११।२०३ धृत स्कान्द-पाद्मविष्णुधर्मोत्तर प्रमाण ॥'

नाम परम स्वतन्त्र होनेके कारण किसी प्रकारके विधि-निषेधके अधीन नहीं है ॥ ह. भ. वि. ११।२०४ ॥ नाम दीक्षा-पुरश्चर्यादिकी भी अपेक्षा नहीं रखता—

दीक्षा-पुरश्चर्या विधि अपेक्षा ना करे।
जिह्वा स्पर्शे आचंडाले सभारे उद्धारे ॥
(चै. च. २।१५।१०९)

साधनके जितने भी पथ हैं सब पर नाम-कीर्तनकी व्याप्ति है। श्री-मद्भागवतमें कहा है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृपं निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥
(भा. १।२।११)

—फलाकाँक्षी सकाम व्यक्तियोंकी अभीष्ट प्राप्ति, निर्वेद-भावापन्न मुमुक्षुगणोंकी मोक्ष-प्राप्ति, योगियोंकी परमात्मा-प्राप्ति और कर्मी-ज्ञानी-योगी लोगों की अपने-अपने अभीष्ट फलकी प्राप्तिके लिये श्रीहरिनाम-कीर्तन ही है एकमात्र विघ्नादिकी आशंका-शून्य निरापद पंथ ।'

परन्तु इस लोक और परलोकके सुख भोग और पंचविधा-मुक्ति नाम के मुख्यफल नहीं हैं । मुख्यफल है श्रीकृष्णको वशमें कर लेनेवाले प्रेमकी प्राप्ति । आदि-पुराणमें श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

गीत्वा चमम नामानि नर्त्येन्ममसन्निधौ ।
इदं ब्रवीभि ते सतं क्रीतोऽहं तेन चार्जुन ॥
गीत्वा च मम नामानि रुदन्ति मम सन्निधौ ।
तेषामहं परिक्रीतो नान्यक्रीतो जनार्दनः ॥
(ह. भ. वि. ११/२३१ धृत प्रमाण)

—हे अर्जुन मेरा नाम गा-गा कर जो मेरे सामने नृत्य करते हैं, मैं सच कहता हूँ, मैं उनके हाथ बिक जाता हूँ । जो मेरे नामका गान कर मेरे सामने रोदन करते हैं, मैं सभी प्रकारसे उनके द्वारा क्रीत, उनके वशीभूत, होजाता हूँ; और किसीके भी द्वारा मैं क्रीत नहीं होता ।'

द्रौपदीने भीषण संकटकी अवस्थामें जब आर्तकण्ठसे उच्चस्वरमें 'गोविन्द, गोविन्द' कहकर श्रीकृष्णको पुकारा था, उस समय वे बहुत दूर द्वारकामें थे, फिर भी उन्होंने वह पुकार सुनली थी और उसे सुनकर कहा था—

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥
(ह. भ. वि. धृत महाभारत-वचन)

अर्थात्, मुझ दूरवासीको द्रौपदीने आर्तकण्ठसे उच्चस्वरसे पुकार कर चिरकालके लिये अपरिशोध्य ऋण द्वारा आबद्ध कर लिया है । उसके प्रति मेरी प्रेम-वश्यता क्रमशः बढ़ती जारही है ।

श्रीसनातनगोस्वामीने कहा है—"नाम-कीर्तन मन्त्रवत् भगवदाकर्षक है। सरल भावसे व्याकुल हृदयसे नाम-कीर्तन करनेसे श्रीभगवान् भक्तके अह्वानपर उसके सम्मुख ही आविर्भूत होते हैं, सिद्ध मन्त्रके समान नाम-कीर्तन दुर्लभतर वस्तुको दूरसे आकर्षित करलेनेकी शक्ति रखता है! श्रीमद्भागवतमें उल्लेख है कि श्रीकवि योगेन्द्रने निमी राजासे कहा—'हे राजन्! स्वप्रिय हरिनाम-कीर्तन द्वारा जात प्रेमसे श्लथहृदय हो भक्तगण कभी-कभी उन्मत्तके समान उच्च हास्य करते हैं, अर्थात् भगवान् नाम-कीर्तनकारी भक्त द्वारा कभी-कभी पराजयको प्राप्त होते हैं और भक्त अपने नाम-कीर्तनकी इस प्रकारकी महिमाका अनुभवकर कभी उच्च हास्य करते हैं, कभी उत्कण्ठाके कारण चीत्कार करते हैं, कभी आनन्दपूर्वक गान और कभी नृत्य करते हैं।' इसलिये स्वप्रिय नाम-कीर्तन हो परम अन्तरंग और बलिष्ठ साधन है।" वृ. भा. २।३।१६४ टीका ॥

नामकी शक्तिका संकेत मिलता है 'नाम' शब्दके मुख्य अर्थसे। नाम-शब्द निष्पन्न है नम् धातु से। नम्-धातुका अर्थ है नमन करना, झुकना। जो नमन कराता है, झुकाता है, वही नाम है। झुकाता किसको है? भक्त और भगवान् दोनों को। नाम अपने अलौकिक प्रभावसे भक्तको देहावेश-जनित अभिमानरूप उत्तुङ्ग पर्वत-शिखरसे नमाकर उसे भगवत्-कृपाका अधिकारी बनाता है और भगवान्के चित्तमें कृपा उद्बुद्धकर उन्हें भक्तके निकट खींच लाता है।

नाम-कीर्तन और ध्यान

श्रीचैतन्य-महाप्रभुने नाम-कीर्तनको अभीष्ट-सिद्धिका 'परम उपाय' कहा है।[1] परन्तु कुछ लोगोंका मत है कि सर्वश्रेष्ठ साधन है ध्यान या स्मरण। उनका कहना है कि कीर्तनात्मका-भक्तिसे केवल एक ही जड़ेन्द्रिय-को वृत्ति वाग्रूपसे स्फुरित होती है और अनायास-सिद्ध हानेके कारण किंचित् फल ही प्रदान करनेमे समर्थ होती है। परन्तु स्मरण है सभी इन्द्रियोंके अधिपति मनकी वृत्ति। मनको जयकर लेनेसे फिर अन्य इन्द्रियों को जय करनेके लिये पृथक् प्रयासकी आवश्यकता नहीं रहती। जो लोग मनको वशीभूत कर लेते हैं, वे जितेन्द्रिय होनेके कारण समग्र संसारको वशीभूत कर सकते हैं। मनः संयम ही है यम, नियम, दान, स्वधर्म,

१. चै. च. २।२०।७

बेदाध्ययन और सब प्रकारके कर्मों और सद्व्रतोंका चरम फल। इसलिये मनका दमन ही है परम-योग। जिनका मन वशीभूत है, उन्हें यम, नियम, दान-धर्मादिका कोई प्रयोजन ही नहीं।

संकोर्तन और ध्यानके सम्बन्धमें अपना मत व्यक्त करते हुए श्री-सनातन गोस्वामीने कहा है—'संकीर्तनसे ध्यान सुख वर्धित होता है और ध्यानसे संकीर्तन-माधुरी-सुख सम्वर्धित होता है। इसलिये हमारे मतसे ध्यान और संकोतन दोनों ही युगपत सेव्य हैं, दोनों वास्तवमें एक ही हैं, क्योंकि कार्य और कारण अभेदात्मक होते हैं। वृ. भा. २।३।१५३ टीका॥ जिस भक्तिमें व्रजलीलाका ध्यान और गान प्रधान रूपसे विद्यमान रहते हैं और जो प्रियतम नाम-कीर्तन द्वारा उज्ज्वलीकृत है,उसी भक्तिसे व्रजजातीय प्रेमकी प्राप्ति होती है। वृ. भा. २।५।२१८॥'

पर ध्यान और संकीर्तनको युगपत् सेव्य मानते हुए भी उन्होंने संकीर्तनको ही अधिक महत्व दिया है और उसे प्रेमका 'अन्तरङ्गतम'[1] साधन कहा है। संकीर्तनके भी कई प्रकार हैं, जैसे वेद-पुराणादि-पाठ, कथा, गीत और स्तुति इत्यादि। इन सबमें उन्होंने नाम-संकीर्तनको ही मुख्य माना है, क्योंकि नाम-संकीर्तन द्वारा ही श्रीकृष्ण-प्रेम-सम्पत्तिका अविलम्ब आवि-र्भाव होता है। नाम-संकीर्तन स्वयं अन्य-निरपेक्ष भावसे इसका उत्पादन करनेमें समर्थ है। इसलिये उन्होंने नाम-कीर्तनको ही ध्यानादि भक्तिके अङ्गोंमें श्रेष्ठतम साधन कहा है। वृ. भा. २।३।१५८ टीका॥

ध्यानकी अपेक्षा नाम-कीर्तनको श्रेष्ठ माननेके और भी कई कारणों का सनातन गोस्वामीने उल्लेख किया है। मूल कारण यह है कि कीर्तनके बिना ध्यान सम्भव हो नहीं, क्योंकि मन बहुत चंचल है और कीर्तन ही चंचल मनको वशीभूत करनेमें समर्थ है—'मनसश्चञ्चलस्वभावापनयनेन वशीकरणानुपपत्तो: स्मरणमपि न सम्यक् सिध्यतीति गूढ़ोऽभिप्राय:।' कीर्तन वागिन्द्रियमें स्फूर्ति प्राप्त करता है, या नृत्य करता है और मनमें भी विहार करता है, अर्थात् कीर्तन स्वयं मानसयुक्त होजाता है। परिशेषमें कीर्तन श्रवणेन्द्रिय और अन्यान्य इन्द्रियोंको सेवकवत् अपने अधीन कर लेता है, क्योंकि मन ही सूक्ष्मरूपसे सब इन्द्रियोंका विषय ग्रहण करता है और मनके बिना किसी भी प्रकारका विषय-ज्ञान सम्भव नहीं है। वृ. भा. २।३।१४८

१. वृ. भा. २।५।२१८ टीका

नामामृतरस एक वागिन्द्रियमें प्रादुर्भूत होकर अपने मधुररसमें समस्त इन्द्रियोंको प्लावित कर देता है। वृ. भा. २।३।१६२ ॥

शास्त्र कहते हैं कि सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतायुगमें यज्ञसे, और द्वापरमें अर्चनसे जिन फलोंकी प्राप्ति होतो है, कलियुगमें उन समस्त फलोंकी प्राप्ति केवल नामादिके कीर्तनसे होजाती है। इस प्रकार कलियुगमें ध्यानादिका फल भी कीर्तनके ही अन्तर्भूत है। वृ. भा. २।३।१४८ ॥

ध्यान केवल निर्जनमें अकेले रहकर ही सम्भव है। पर कीर्तन निर्जन में भी सम्भव है और जन-कोलाहलमें भी, अकेले भी और सामूहिक रूपमें भी। वृ. भा. २।३।१५७ ॥

ध्यानसे केवल ध्यान करने वाले व्यक्तिका उपकार होता है, पर कीर्तनसे उसका अपना उपकार तो होता ही है, दूसरोंका भी उपकार होता है। वृ. भा. २।३।१६३ ॥

नाम-संकीर्तन केवल सर्वश्रेष्ठ साधन ही नहीं है,साध्य भी है। यद्यपि सब प्रकारकी साधन-भक्तिका फल प्रेम कहा गया है, भक्ति-रसिकगण नाम-संकीर्तनको ही भक्तिका फल मानते हैं, क्योंकि नाम-संकीर्तनसे प्रेमकी निश्चित रूपसे प्राप्ति होती है और इस नियमका कभी भी व्यभिचार नहीं होता। वृ. भा. २।३।१६५ टीका ॥

रसज्ञगण नाम-संकीर्तनको ही प्रेमका स्वरूप मानते हैं। उनका कहना है कि नाम-संकीर्तन ही है श्रीकृष्ण-प्रेमका उत्कृष्ट लक्षण, क्योंकि परिस्फुट आर्ति और व्याकुल प्राणसे अपने इष्टनामका संकीर्तन करनेसे प्रेम-विह्वल भावकी स्फूर्ति होती है। इस प्रकार संकीर्तनसे प्रेम आविर्भूत होता है और प्रेमसे संकीर्तन सिद्ध होता है। इसलिये नाम संकीर्तन और प्रेम अनन्यसिद्ध हैं। दोनों एक-दूसरेके कार्य और कारण होनेके कारण अभिन्न हैं—'नाम-संकीर्तन-प्रेमणोऽन्योऽन्यं कार्यकारणता सिद्धा। ततोऽभेदोऽपि सिद्ध इति दिक्।' वृ. भा. २।३।१६६ टीका ॥

नाम-कोर्तन और कर्म-फल

कुछ लोगोंका मत है कि भगवन्नामके प्रभावसे और सभी कुछ होता है, पर प्रारब्ध कर्मोंका क्षय नहीं होता! पर श्रीमन्महाप्रभुने भगवन्नाम-स्मरणके सम्बन्धमें कहा है—

जैछे-तैछे जोई-कोई करये स्मरण ।
चारि विध पाप तार करये संहरण ।।[1]

अर्थात्, हरिनामका जो कोई जिस किसो भावसे उच्चारण करे,उसके प्रारब्ध (फलोन्मुख), अप्रारब्ध, बीज (वासनामय) और कूट (प्रारब्ध भावोन्मुख) चारों प्रकारके पाप या कर्मफलोंका नाश होजाता है ।

श्रीसनातनगोस्वामीने श्रीमद्भागवतके ६।२।४६ और १२।३।४४ श्लोकों में "कर्म-निबन्धन" और "कर्मार्गल" और ह. भ. वि. ११।१७४ धृत बृहन्नारदीय-वाक्यमें "सर्वपाप विनिर्मुक्तः" शब्दोंके प्रयोगसे सिद्ध किया है कि हरिनामके प्रभावसे प्रारब्ध कर्मोंका भी क्षय अवश्यम्भावी है। श्रीजीवगोस्वामीने भी श्रीमद्भागवतके ३।३३।६-७ श्लोकों द्वारा यह सिद्ध किया है ।[2]

परन्तु प्रारब्ध-कर्म शेष होनेपर जीवकी मृत्यु होजाती है । हम देखते हैं कि बहुत समय तक नाम-कीर्तन करते रहने पर भो बहुतसे मनुष्य जीवित रहते हैं । इससे क्या यह नहीं सिद्ध होता कि प्रारब्ध-नाश नाम-संकीर्तनका फल नहीं है ? इसके उत्तरमें पहले तो हमें यह ध्यानमें रखना चाहिये कि नाम-कीर्तनके फलसे उन्हीं लोगोंके प्रारब्धका मूलतः नाश होता है, जिनके नामापराधादि नहीं होते । जिनके नामापराधादि होते हैं उनके प्रारब्धका सम्यक् नाश नहीं होता । दूसरी बात यह कि जिनके नामापराधादि नहीं होते उनके प्रारब्धका नाम-कीर्तनसे सम्यक् नाश अवश्य होजाता है, पर उनका शरीर-पात इसलिये नहीं होता कि वे स्वयं भजनके लोभसे जीवित रहना चाहते हैं और भगवन्नाम उनकी इच्छा जानकर अपनी अचिन्त्य शक्तिसे प्रारब्ध शेष होनेपर भी उन्हें जीवित रखते हैं ।

श्रीसनातन गोस्वामीने हरिभक्ति-विलास ११।१७६-७७ में उद्धृत श्रीमद्भागतके ७।२।४६ और १२।३।४४ श्लोकोंकी टीकामें लिखा है कि नाम-संकीर्तनके प्रभावसे प्रारब्ध क्षय होजानेपर साधकको भजनोपयोगी दूसरा देह प्राप्त होता है, या पहलेका देह ही भजनोपयोगी गुण विशेष लाभकर एक नये देहके समान होजाता है, जो देखनेमें बाहरसे पूर्व देह जैसा ही लगता है ।

---

१. चै. च. २।२४।४५
२. भ. स. १२८

एक और प्रश्न यह है कि प्रारब्ध शेष होजाने पर सुख-दुख और रोगादिका होना सम्भव नहीं है, पर हम देखते हैं कि नाम-कीर्तनरत लोगों में भी सुख-दुःख और रोगादि होते हैं, इसका कारण क्या है ? इसका उत्तर सनातनगोस्वामीने उपरोक्त टीकामें यह दिया है कि भजन परायण साधकमें सुख-दुःखादि बाहरका आवरण मात्र होते हैं, साधकको उनसे किसी प्रकार के कष्टका अनुभव नहीं होता। भगवान् स्वयं कृपाकर साधककी लाभ-पूजा-प्रतिष्ठासे रक्षा करनेके लिये उसे यह आवरण प्रदान करते हैं।

नाम-जप और उसके प्रकार

"जप" शब्दका अर्थ है मन्त्र-उच्चारण। जप तीन प्रकारका है—वाचिक, उपांशु और मानसिक। वाचिक जपका अर्थ है स्पष्टरूपसे मन्त्रका उच्चारण, अर्थात् उच्च कीर्तन।[1] उपांशु जपका अर्थ है मन्त्रका धीरे-धीरे उच्चारण, जिसमें ओष्ट किंचित् हिलते हैं और मन्त्र केवल अपनेको ही सुनाई पड़ता है।[2] मानस जपका अर्थ है मन्त्रके अक्षर और उसके अर्थका चिन्तन या स्मरण।[3]

नाम-स्मरणसे नाम-कीर्तनकी महिमा अधिक है। नाम-स्मरणको शुद्ध अन्तःकरणकी अपेक्षा रहती है, इसलिये वह सबके लिये सम्भव नहीं है। नाम-कीर्तन सभी लोग कर सकते हैं। गोपी प्रेमामृतके एकादश पटलमें उल्लेख है—

हरिनाम्नो जपात् सिद्धिर्जपाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानद् गानं भवेच्छ्रे यः गानत् परतरं न हि॥

अर्थात् हरिनाम-जपसे सिद्धि लाभ होती है। जपकी अपेक्षा ध्यानका विशेषत्व है, ध्यानकी अपेक्षा गान का। गानसे उत्कृष्ट और कुछ नहीं है। गान है उच्च-कीर्तन।

हम पहले कह चुके हैं कि जीवके चंचल चित्तमें सम्यक्‌रूपसे भगवत्-स्मृति होना सम्भव नहीं है। इसलिये चित्तको संयत करना आवश्यक है। चित्तको संयत करनेके लिये वागिन्द्रयको संयत करना आवश्यक है, क्योंकि

---

१. ह. भ. वि. १७।१३
२. वही १४
३. वही १५

वागिन्द्रिय ही है समस्त बाह्य और अन्तर इन्द्रियोंकी चालक और वागिन्द्रियको संयत करनेके लिये नाम कीर्तनको आवश्यकता है।[1]

योग-साधनमें भी जप द्वारा वागिन्द्रियको संयत करनेपर बल दिया गया है। जप ही है प्राणाग्निका पुष्टिकर आहार। जप द्वारा प्राणाग्नि आहुति प्राप्तकर वीर्यशाली होती है। प्राणाग्निके पुष्ट होनेसे वागिन्द्रिय पुष्ट और संयत होती हैं। इस प्रकार वागिन्द्रियके संयत होनेसे सब इन्द्रियाँ संयत होकर चित्तको भगवत्-स्मृतिकी योग्यता प्रदान करती हैं।

तभी श्रीमन्महाप्रभु उच्च स्वरसे नाम-कीर्तन करते थे।[2] नामाचार्य श्रीहरिदास ठाकुर भी उच्च स्वरसे नाम-कीतन करते थे। उन्होंने उच्च स्वरसे नाम-कीर्तनकी महिमाके सम्बन्धमें कहा है कि इससे स्थावर-जंगम सभीका उद्धार होता है। पशु-पक्षी आदि जंगम जीवोंका नाम-ध्वनिके श्रवणसे और वृक्ष-लतादि स्थावर प्राणियोंका नाम-ध्वनिके स्पर्शसे उद्धार होता है। स्थावर प्राणियोंको जब नाम-ध्वनि स्पर्श करती है तब उनके देह से उसकी प्रतिध्वनि होती है। वह प्रतिध्वनि नहीं स्थावर प्राणियों द्वारा नाम-कीर्तन ही है।[3]

ठाकुर हरिदासकी यह उक्ति आधुनिक विज्ञान द्वारा समर्थित है। विज्ञानके अनुसार शब्द है शब्दायमान वस्तुके स्पन्दनका परिणाम। साधारण ज्ञान यह है कि जब हम घण्टेपर चोट मारते हैं तो उससे शब्द निकलता है। पर विज्ञानके अनुसार घण्टेसे शब्द नहीं निकलता। घण्टेमें केवल स्पन्दन होता है। स्पन्दन घण्टेसे वायुमें संचरित होता है, वायुसे हमारे कान के परदे में। कानके परदेमें स्पन्दन होनेसे शब्दकी सृष्टि होती है। इसी प्रकार जब हम शब्द उच्चारण करते हैं तो हमारे मुखसे शब्द नहीं निकलता। हमारे ओष्ठादिमें स्पन्दन होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप शब्द सुनाई पड़ता है। जिस प्रकार शब्द हमारे ओष्ठादिके स्पन्दनका परिणाम है, उसी प्रकार नामकी प्रतिध्वनि स्थावर प्राणियोंके देहके स्पन्दनका परिणाम अर्थात् उनके द्वारा नाम-कीर्तन है।

---

१. बृहद्भागवतामृत २।३।१४६-४९

२. "हरेकृष्णेत्युच्चैः स्फुरितरसन" इत्यादि। स्तवमाला, श्रीश्रीचैतन्यदेवस्य प्रथमाष्टकम्॥

३. चै. च. ३।३।६३-६६

कुछ लोगोंका कहना है कि उच्च-स्वरसे नाम-संकीर्तन करनेमें लोक-शङ्का, लोकपूजा और शरीर-दौर्बल्यादि बहुतसे विघ्नोंका भय है, इसलिये उच्चकीर्तन न करना ही ठीक है। इसके उत्तरमें सनातन गोस्वामीपादने कहा है—संकीर्तन-माधुरी नवविधा भक्तिके अन्य साधनोंके समान भगवत् प्रसादलब्ध है। साधकके अपने पौरुषबलसे इसकी सिद्धि नहीं होती। भगवत् प्रसादलब्ध वस्तुमें विघ्नदोषादिका होना सम्भव नहीं है। वृ. भा. २।३।१६८ टीका ॥

बत्तीसाक्षरात्मक तारक-ब्रह्म-नाम

श्रीमद्भागवतमें जो चार युगोंके चार पृथक्-पृथक् धर्मोंका उल्लेख है, उनमें नाम-कीर्तनको कलियुगका धर्म कहा गया है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥[1]

कलिमें हरिनाम-कीर्तनके सिवा दूसरा कोई जीवके उद्धारका साधन ही नहीं है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥[2]

कीर्तनीय नामोंमें सोलह-नाम-बत्तीसाक्षरात्मक तारक-ब्रह्म नामका विशेष महत्व है। कलिसन्तरणोपनिषत्में ब्रह्माने नारदसे कहा है—

"इति षोड़शकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्।
नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृष्यते ॥

—सोलह नामवाला यह तारक-ब्रह्म-नाम ही है कलिकल्मषनाशक। समस्त वेदमें इससे उत्कृष्ट साधन और कोई नहीं है।" इसीको महामन्त्र कहते हैं।[3] ब्रह्माण्ड पुराणमें इसका रूप इस प्रकार दिया है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥[4]

---

१. भा. १२।३।५२
२. वृहन्नारदीय ३८।२२६
३. चै. भा. १।१०।१४०
४. ब्रह्माण्ड पुराण, उत्तरखण्ड ६।५५

परन्तु कलिसन्तरणोपनिषत्‌में इसका रूप इस प्रकार है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने ब्रह्माण्ड पुराणोक्त महामन्त्रको ही अंगीकार किया है। पर दोनोंमें भेद कुछ भी नहीं है, सिवा इसके कि एकमें जिस पद को पहले कहा गया है, उसे दूसरेमें बादमें कहा गया है। दोनोंमें जो सोलह नाम हैं वह एक जैसे हैं। वस्तुतः नाम तीन हैं—हरिः, कृष्णः और रामः। सम्बोधनमें उनका रूप होजाता है—हरे, कृष्ण और राम। यह तीनों नाम एक ही परतत्वके निर्देशक हैं। कलिसन्तरणोपनिषत्‌में इन्हें भगवान् आदि-पुरुष नारायणका नाम कहा गया है। आदि पुरुष नारायण हैं स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण। श्रीकृष्णको ही सर्वचित्तहर होनेके कारण कहा जाता है 'हरि', सर्वचित्ताकर्षक होनेके कारण कहा जाता है 'कृष्ण', और सर्वचित्त-रमण होनेके कारण कहा जाता है 'राम'। इसलिये कौन सा नाम या पद मन्त्रमें पहले कहा जाय कौन सा पीछे, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। विशेष रूपसे महामन्त्रका लगातार कीर्तन करनेमें पदोंके आगे-पीछेका कोई भेद नहीं रहता।

कुछ लोगोंका मत है कि मन्त्र मात्र गोपनीय है। उसका संख्या-रक्षणपूर्वक इस प्रकार जप करनेकी विधि है, जिससे दूसरोंको सुनाई न पड़े। इसलिये महामन्त्रका उच्च स्वरसे या बिना संख्या रखे जप नहीं करना चाहिये। जहाँ तक महामन्त्रके उच्च स्वरसे कीर्तनका प्रश्न है, महाप्रभुने इसका निशेध नहीं किया है, महाप्रभु स्वयं इसका उच्च स्वरसे कीर्तन करते थे, जैसा कि श्रीरूप गोस्वामीकी स्तवमालामें श्रीचैतन्यदेवके प्रथमाष्टकमें "हरेकृष्णेत्युच्चैः स्फुरितरसनः" इत्यादि वाक्यसे प्रमाणित है। ठाकुर हरिदास जो महामन्त्रका तीन लाख जप नित्य करते थे, उसमें एक लाख उच्च स्वरसे किया करते थे। संख्या-रक्षणके सम्बन्धमें महाप्रभुका क्या अभिमत है, इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है। श्रीजीवगोस्वामी आदिने भी अपने ग्रन्थोंमें इस सम्बन्धमें स्पष्ट कुछ नहीं लिखा है। परन्तु हरिभक्ति विलासमें श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने वासस्मृतिसे निम्न प्रमाण उद्धृत किया है, जिसके अनुसार संख्याहीन जप निष्फल है—

"असंख्यातञ्च यज्जपुं तं सर्वं निष्फलं भवेत्।"[1]

---

१. ह. भ. वि. १७।६०

महाप्रभु स्वयं संख्यारक्षण पूर्वक महामन्त्रका जप करते थे, यह श्रीवल्लभभट्ट के प्रति उनकी इस उक्तिसे स्पष्ट है—

कृष्णनाम बसिमात्र करिये ग्रहणे।
संख्यानाम पूर्ण मोर नहे रात्रि दिने ॥[1]

वैसे तो नाम-कीर्तन परम स्वतन्त्र और निरपेक्ष है। परन्तु नाममें तत्परता सम्पादन करनेके लिये उसे व्रतरूपमें ग्रहण करना आवश्यक है। व्रतरूपमें ग्रहण करनेके लिये जप-माला या अंगुलीके पोरुओंके सहयोगसे उसकी संख्या रखना आवश्यक है। संख्या न रखनेसे नाम जप करते-करते साधकका चंचल मन नाम-स्मरणको छोड़ कब कौन सी सांसारिक वस्तुका चिन्तन करने लगता है, उसका उसे पता भी नहीं चलता। संख्या रखनेसे जब भी ऐसा होता है नाम-स्मरणके साथ-साथ अंगुलीकी गति भी रुक जाती है और साधकको उसका पता चल जाता है। संख्या रखनेसे मन इधर-उधर जाता भी कम है। संख्या-रक्षणको मनरूपी रेलकी पटरी समझना चाहिये। जिस प्रकार पटरीपर रेलगाड़ी निर्बाधरूपसे आगे चलती चली जाती है, और पटरीसे उतर जानेपर रुक जाती है, उसी प्रकार जप-मालाके सहारे मन नाम-स्मरणमें लगा रहता है और उसके इधर-उधर भटकनेकी सम्भावना अपेक्षाकृत कम रहती है।

विशेष बात यह है कि नाम-कीर्तन या किसी भी भक्तिके अंगका फल प्राप्त करनेके लिये चित्तका अपराधशून्य होना आवश्यक है। नाम-कीर्तन का तत्काल-फल हमें इसीलिये नहीं मिलता कि हमसे अनवधानता वशत: नामापराध होजाते हैं। नामापराध और भगवत् अपराधोंको खण्डन करनेके लिये एकमात्र नामके ही शरणापन्न होकर अविश्रान्त भावसे नाम-कीर्तन करना परम आवश्यक है—

जाते नामापराधोऽपि प्रमादेन कथञ्चन।
सदा सङ्कीर्त्तयन्नाम तदेकशरणो भवेत् ॥
नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्त प्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥[2]

---

१. चै. च. ३।७।६८
२. ह. भ. वि. ११।२८७ धृत पाद्मवचन

एकमात्र नामकी शरण लेकर अविश्रान्त भावसे नाम-कीर्तन करनेका अर्थ ही है व्रतरूपसे संख्या-रक्षणपूर्वक नाम करना।

संख्या-रक्षणके अतिरिक्त नाम-कीर्तनमें देश-काल, शुचि-अशुचि आदि सम्बन्धी और किसी नियमका पालन करनेकी आवश्यकता नहीं है। महा-मन्त्र-जपके सम्बन्धमें महाप्रभुने कहा है—

"कहिलाउं एई महामन्त्र।
इहा गिया जप सभे करिया निर्बन्ध॥
इहा हइते सर्वसिद्धि हइव सभार।
सर्वक्षण बोल, इथे विधि नाहि आर॥"[1]

—यह जो महामन्त्र तुम्हें बताया, इसका सब लोग घर जाकर निर्बन्धपूर्वक अर्थात् संख्या-रक्षणके साथ सब समय जप करो। संख्या-रक्षणके अतिरिक्त इसकी और कोई विधि नहीं है।"

• • •

---

१. चै. भा. २।२३।७६-७७

श्रीहरिकथा

हरिकथा क्यों सुननी चाहिये ?

हरिकथा भव-बन्धनसे मुक्त करती है ।

मैत्रेयजीने विदुरजीसे हरिकथाके सम्बन्धमें कहा था—"हरिकथा मनुष्योंके मृत्युपाशको छेदन करनेवाली है । देखो, उत्तानपादका पुत्र ध्रुव बालकपनमें श्रीनारदजीसे सुनी हुई हरिकथाके प्रभावसे मृत्युके सिरपर पैर रखकर भगवान्‌के परमपदपर आरूढ़ होगया था ।" अर्थात् विष्णु पदपर आरोढ़नके निमित्त जब विष्णुपार्षदगण विमान लाये तब उसके देह-त्यागका समय होनेपर भी, उसे देह नहीं त्यागना पड़ा; वह जैसे मृत्युके मस्तकपर पैर रखकर सशरीर विष्णुलोक चला गया ।[१]

श्रीमद्भागवत्‌में उल्लेख है कि हरिकथा-श्रवण-कीर्तनके अतिरिक्त संसार-बन्धनसे मुक्ति पानेका दूसरा कोई उपाय नहीं है—

संसार सिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो—
नान्य: प्लवो भगवत: पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेषणमन्तरेण
पुंसो भवेद् विविध दु:खदवार्दितस्य ।।[२]

अर्थात्, जो लोग अनेकों प्रकारके दु:ख-दावानलसे दग्ध हो रहे हैं, या जो अत्यन्त दूस्तर संसार-सागरसे पार होना चाहते हैं, उनके लिये पुरुषोत्तम भगवान्‌की लीला-कथारूप रसके सेवन करनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ।

---

१. भा. ३।१४।४-५

२. भा. १२।४।४०

जो भगवान्के लीला-कथारसका प्रेमपूर्वक पान करते हैं, वे संसारमें रहते हुए भी संसारके बन्धनसे मुक्त रहते हैं। गृहस्थाश्रम भी उनके बन्धन का कारण नहीं बनता। प्रमाण है प्रचेतागणके प्रति भगवान्का उपदेश। प्रचेतागणको जब भगवत्-साक्षात्कार हुआ तब भगवान्ने उन्हें गृहाश्रमी होनेका आदेश किया। उन्होंने दुःखी होकर भगवान्से निवेदन किया—"भगवन्! गृहस्थाश्रम तो संसार-बन्धनका कारण है। आप यह जानते हुए भी हमें बन्धनमें क्यों डालते हैं?" भगवान्ने उत्तर दिया—"हे वत्सगण! गृहस्थाश्रम बन्धनका कारण है, यह सत्य है। परन्तु गृहस्थाश्रमी यदि मेरे कथा-प्रसङ्गमें समय अतिवाहित करे तो गृहस्थाश्रम कभी भी बन्धनका कारण नहीं बनता।[1]

कथा-प्रेमी भक्तोंके लिये विषय-भोग भी बन्धनका कारण नहीं होते। इसीलिये नृसिंह भगवान्ने प्रह्लादजीको एक मन्वन्तर तक दैत्याधिपतियोंके समस्त भोग स्वीकार कर लेनेको कहा था। वे जानते थे कि प्रह्लादको उनकी लीला-कथाएँ कितनी प्रिय हैं। विषयोंको भोगते रहनेपर भी वे उसे उनके बन्धनसे सदा मुक्त रखेंगी।[2]

भगवत्-कथाओंके श्रवण-कीर्तनकी इस अलौकिक शक्तिका कारण बताते हुए कपिल भगवान्ने कहा है—

"मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृणवन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मद्गतचेतसः॥[3]

—जो मेरी विशुद्ध कथाओंका निरन्तर श्रवण-कीर्तन करते रहते हैं, उन्हें सांसारिक तापत्रय नहीं व्यापते, क्योंकि उनका चित्त मुझमें लगा रहता है।"

संसाररूपी चक्कीमें भगवान्के चरणारविन्द उस कीलके समान हैं जिससे लगकर रहनेसे जीवरूपी गेहूँ नहीं पिसते। भगवत्-कथाओंके माध्यम से ही यह सम्भव है कि जीवका चित्त भगवान्के चरणोंमें लगा रहे। भगवान् में चित्त लगा रहनेसे जिस प्रकार सांसारिक ताप भक्तको नहीं व्यापते, उसी प्रकार सांसारिक विषय-भोग उसे नहीं बाँधते। विषय-भोग बाँधते तभी हैं

---

१. भा. ४।३०।२९
२. भा. ११।१०।११-१२
३. भा. ३।२५।२३

जब विषयोंमें आसक्ति होती है। भगवान्‌में चित्त लगा रहनेसे विषयासक्ति नहीं रहती।

भगवत्-कथा श्रवण और कीर्तन ही संसार-बन्धनसे मुक्ति पानेका सरल और सुलभ उपाय है, इस बातकी एक और तरहसे भी पुष्टि होती है। श्रीमद्भागवतमें उल्लेख है कि भगवान्‌ने भूलोकमें अपनी दिव्य लीलाओंको प्रकट किया ही इसलिये कि लोग उनका गान, श्रवण और कीर्तनकर सुगमतापूर्वक संसार-समुद्र पार कर सकें—

आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यागात् स्वं पदमीश्वरः॥[1]

यह भी उल्लेख है कि विशेषरूपसे कलियुगके जीवोंपर अनुग्रह करके उन्होंने अपनी पवित्र लीलाओंका विस्तार किया (क्योंकि कलियुगके अल्पायु और अल्पशक्तिसम्पन्न जीवोंके लिये संसार-सागर पार करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं था)—

कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम्।
अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद् यशः॥[2]

हरिकथा भगवत्-प्राप्तिका सबसे सहज उपाय है।

हरिकथा-श्रवण-कीर्तन भगवत्-प्राप्तिका भी सबसे सहज और सुनिश्चित उपाय है, क्योंकि भगवत्-प्राप्ति बिना प्रेमके सम्भव नहीं है और श्रवण-कीर्तन है प्रेम-प्राप्तिका परम साधन—

प्रभु कहे शास्त्र कहे श्रवण-कीर्तन।
कृष्ण-प्रेम प्राप्तिर परम साधन॥[3]

श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा था—

"ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि॥[4]

---

१. भा. ११।१।७

२. भा. ९।२४।६१

३. चै. च. २।९

४. भा. ११।२६।२९

—जो लोग आदर और श्रद्धापूर्वक मेरी लीला-कथाओंका श्रवण, गान और अनुमोदन करते हैं, वे मेरे परायण होजाते हैं और मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं।''

श्रीजीवगोस्वामीने "संसार सिन्धुमति" इत्यादि (भा. १२।४।३६) श्लोककी टीकामें लिखा है कि जिन लोगोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका अनादर करके पंचम पुरुषार्थ प्रेम-भक्तिको ही यथार्थ पुरुषार्थके रूपमें स्वीकार किया है, उन्हें भगवान्‌की ऐश्वर्य-माधुर्यमयी लीला-कथा अवश्य सुननी चाहिये। इसके बिना भक्तिरूपी पुरुषार्थकी कभी प्राप्ति नहीं होती।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने गीताके १२।११ श्लोककी टीकामें लिखा है—साधन-भक्ति ही भगवत्-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। भक्तियोग दो प्रकारका है—भगवन्निष्ठ अन्तःकरण व्यापार और बाह्येन्द्रिय व्यापार। भगवन्निष्ठ अन्तःकरण व्यापार तीन प्रकारका है—स्मरणात्मक, मननात्मक और अखण्ड तैलधारावत् निरवच्छिन्न स्मरणका अभ्यासात्मक। अन्तःकरण का इन तीनों प्रकारोंका साधन केवल विशुद्ध हृदय वाले निरपराधी व्यक्तियोंके लिये सुगम है, अन्य व्यक्तियोंके लिये दुर्गम है। परन्तु श्रवण-कीर्तनरूप बाह्येन्द्रिय व्यापार सभीके लिये सुगम है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
नातिदीर्घेण कालेन भगवान् विशते हृदि॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥[1]

अर्थात्, श्रीकृष्ण अपनी लीला-कथाका श्रवण-कीर्तन करनेवाले व्यक्ति के भावमय हृदय-कमलमें कर्णरन्ध्र द्वारा अविलम्ब प्रवेशकर जाते हैं और उसके हृदयके सब प्रकारके मालिन्यका हरणकर उसे शरत् ऋतुके जलाशय की तरह स्वच्छ और निर्मल कर देते हैं।[2]

---

१. भा. २।८।४-५

२. इस श्लोककी टीकामें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने लिखा है—"श्रवण-कीर्तनाधीनमेव स्मरणमिति ज्ञापितम्।" अर्थात्, इस श्लोकसे ज्ञात होता है कि स्मरण श्रवण-कीर्तनके अधीन है।

टीकाकारोंने इस श्लोकका भाव व्यक्त करते हुए लिखा है कि स्मरणादिमें श्रीकृष्णमें मनोनिवेश करनेके लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है, परन्तु कथा-श्रवण-कीर्तन करनेवाले श्रद्धालु भक्तोंका मनोनिवेश बिना प्रयत्नके ही होजाता है, क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं ही उनके मनमें प्रवेश कर जाते हैं। अन्य साधनोंमें मनको श्रीकृष्णमें लगाना पड़ता है; पर श्रवण-कीर्तन स्वयं ही मनको लग जाते हैं। अन्य साधनोंमें श्रीकृष्णको हृदयमें धारण करनेके लिये हृदयको शुद्ध करना होता है, जो साधकके लिये बहुत कठिन होता है; पर श्रवण-कीर्तनमें श्रीकृष्ण स्वयं ही हृदयकी समस्त अशुभ वासनाओंको नष्टकर और सब प्रकारसे उसे झाड़-पोंछकर अपने बैठनेके लिये उपयुक्त बना लेते हैं।

श्रीकृष्ण ऐसा करनेके लिये विवश होते हैं, क्योंकि वे अपनी लीला-कथासे प्रेम रखनेवाले लोगोंके सदा सुहृद हैं। श्रीसूतजीने शौनकादिक ऋषियोंसे हरिकथाका माहात्म्य वर्णन करते हुए कहा था—

"शृण्वतां स्वकथां कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन: ।
हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सहृत्सताम् ॥[1]

—भगवान् श्रीकृष्णके यशका श्रवण और कीर्तन दोनों पवित्र करने वाले हैं। वे अपनी कथा सुनने वालोंके हृदयमें आकर स्थित होजाते हैं और उनकी अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं, क्योंकि वे उनके सुहृद हैं।"

इतना ही नहीं, जो लोग श्रद्धापूर्वक उनकी लीला-कथाओंका श्रवण-कीर्तन करते हैं, उनके बस इतना करनेसे ही वे उनके हाथ ऐसे बिक जाते हैं कि उनके गुण-दोषोंपर दृष्टि डालनेका उनके लिये प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये दुर्वासनाओंसे युक्त होनेपर भी उन लोगोंको जैसा उनका अनुग्रह प्राप्त होता है, वैसा उन योगियों और ज्ञानियोंको भी नहीं होता, जो कठोर वैराग्यमय जीवन व्यतीत कर अपने अन्त:करणको दुर्वासनाओंसे मुक्त कर चुके होते हैं, पर जिन्हें उनकी लीला-कथाओंसे प्रेम नहीं होता। ब्रह्माजीने उनकी स्तुति करते हुए कहा है—

"ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।

---

१. भा. १।२।१७

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये
प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥[1]

—प्रभो, जो लोग ज्ञानके लिये प्रयत्न न करके अपने स्थानमें स्थित होकर, बिना इधर-उधर भटकते हुए, आपके प्रेमी सन्त पुरुषों द्वारा गायी गयी लीला-कथा विनयवान होकर ऐसे सुनते हैं जैसे वही उनका जीवन सर्वस्व हो, वे आपको, जो तीनों लोकोंमें अजित हैं, जीत लेते हैं, अर्थात् आप उन्हें केवल प्राप्त ही नहीं होते, पूरी तरह उनके अधीन होजाते हैं।"

इसका सुन्दर प्रमाण हैं व्रजकी गोपियाँ। रास-पूर्णिमाकी रात्रिमें श्रीकृष्ण उनके साथ आमोद-प्रमोद और नाना प्रकारकी प्रेममयी क्रीड़ाएँ करते-करते सहसा अन्तर्धान होगये। उन्हें न देखकर गोपियाँ सर्वस्व-हारा-सी, मतवाली-सी, प्रलाप करती हुईं, वन-वनमें घूमती हुईं, लता-पताओं, पेड़-पौधों और पशु-पक्षियोंसे श्रीकृष्णका पता पूछते हुए, उनका अन्वेषण करने लगीं। जब वे उन्हें ढूँढ़कर हार गयीं, तब जमुना-पुलिनमें जा बैठीं। वहाँ स्थित होकर, बिना भटका-भटकी किये, मृदु-मधुर स्वरसे इस प्रकार तन्मय होकर उनकी लीलाओंका गान करने लगीं, जैसे उनकी प्राण-रक्षाका वही एक उपाय हो। तब श्रीकृष्णसे न रहा गया। वे उनके बीच प्रकट हो गये। गोपियोंने विह्वल हो अपने वक्षःस्थलपर लगी कुंकुम-केसरसे सनी ओढ़नीको उनके बैठनेके लिये बिछा दिया, और वे उसपर बैठ गये। बड़े-बड़े योगेश्वर योगसाधनसे पवित्र किये हुए अपने हृदयासन पर जिन्हें बिठानेकी बहुत चेष्टा करनेपर भी नहीं बिठा पाते, वे भगवान् श्रीकृष्ण उनकी सनी हुई ओढ़नीपर इस प्रकार बैठ गये, जैसे उन्होंने उसे पूर्णतया अपने वशमें कर लिया हो।[2]

साधनरूपमें लीला-कथा-श्रवणकी श्रेष्ठता इस बातसे भी सिद्ध है कि अन्य सभी साधन इसकी अपेक्षा रखते हैं। श्रीजीवगोस्वामीने "संसार सिन्धुमिति" इत्यादि भा. १४।३।३९ श्लोककी टीकामें लिखा है कि जितने भी प्रकारके साधन हैं सब श्रवणांग-भक्तिपर अवलम्बित हैं। यही उनमें प्रवृत्ति जन्माती है, यही उनकी सफलताका कारण होती है। इसके अभावमें किसी प्रकारका साधन यथायथरूपसे अनुष्ठित नहीं होता। इसीलिये इस

---

१. भा. १०।१४।३

२. भा. १०।३२।१४

श्लोकमें कहा गया है कि श्रवण-कीर्तनके अतिरिक्त संसार-सिन्धु पार करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।

मोक्षार्थी भी भगवान्‌की लीला-कथाकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि भक्तिरहित ज्ञान-कर्मादिसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती—

"भक्ति-मुख निरीक्षक कर्म, योग, ज्ञान।[1]

—और लीला-कथा श्रवण-कीर्तनके बिना भक्ति नहीं होती।

शास्त्रोंमें विषयासक्तिको दूर करने और भगवत्-चरणारविन्द प्राप्त करनेके उपायस्वरूप सत्संगकी महिमाका जहाँ-तहाँ वर्णन है। पर साधुसंग भी अपने आपमें उतना फलप्रद नहीं है, जितना साधुसंगमें हरि-कथा-कीर्तन और श्रवण। श्रीजीवगोस्वामीने भा. ११।२६।२६ श्लोककी टीकामें लिखा है कि केवल बाह्यिक असत्संग त्याग या साधुसंग से कुछ नहीं होता; साधु-संगमें हरि-कथा सुननेसे ही विरुद्धासक्तिका क्षय होता है और भगवदासक्ति उत्पन्न होती है।

हरिकथा स्वयं ही परम-पुरुषार्थ है।

हरिकथा सर्वश्रेष्ठ साधन तो है ही, सब साधनोंका सर्वश्रेष्ठ फल भी है। यह स्वयं ऐसा अमृत है,जो स्वर्गामृत और मोक्षामृतसे भी श्रेष्ठ है। भक्त-गण इस परमामृत समुद्रमें महानन्दपूर्वक निरवच्छिन्नरूपसे विहार करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पदार्थोंको तृणवत् समझकर उनका तिरस्कार करते हैं—

त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्ग-तृणोपमम्॥[2]

उद्धवजीने श्रीकृष्णसे कहा है—

"तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममंगलम्।
कर्ण पीयूषमास्वाद्यत्यजत्यन्यस्पृहां जनः॥[3]

—हे कृष्ण! आपका लीलामृत मनुष्योंके लिये परम मंगल स्वरूप है। श्रवण द्वारा इसका पान कर वे अन्य स्पृहा त्याग देते हैं, अर्थात् उन्हें इस लोक और परलोकके किसी फलकी चाह नहीं रहती।"

---

१. चै. च. २।२२

२. भ. र. सि. १।१।४०

३. भा. ११।६।४४

श्रीनृसिंहदेवके प्रति प्रह्लादजीकी उक्ति है—

"नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या—
स्तवद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ॥[१] इत्यादि

—हे सर्वोत्तम ! भववैतरणीकी मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं, क्योंकि आपका चरित-कीर्तन,जो महामृत तुल्य है, उसमें मैं सदा निमग्न रहता हूँ।"

परीक्षित महाराजने हरिकथामृतकी मादकता और मधुरताका स्वयं अनुभव करके श्रीशुकदेवजीसे इस प्रकार वर्णन किया है—

"नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥

—हे भगवन् ! मैंने जल तकका परित्याग कर दिया है; पर मुझे भूख-प्यास तनिक भी नहीं सता रही है, क्योंकि मैं आपके मुख-कमलसे झरते हुये भगवान्‌के लीला-कथामृतका पान कर रहा हूँ।"[२]

इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि वे लोग भी हरिकथासे आकर्षित हुए बिना न रह सकते हों, जो मुक्तावस्थाको प्राप्त कर चुके हैं, जो आत्माराम हैं, और जिनके हृदयमें किसी प्रकारकी प्रवृत्ति जागनेका कोई प्रश्न ही नहीं होता। श्रीशुकदेवजी अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न थे। अखण्ड, अद्वैत स्थितिसे उनकी भेद-दृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी श्यामसुन्दर की मङ्गलमयी, मनोहारिणी लीलाओंने उनकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया।[३]

इससे स्पष्ट है कि सभी धर्मानुष्ठानोंका फल हरिकथामें अनुराग है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि यदि धर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेपर भी मनुष्यके हृदयमें भगवान्‌की लीला-कथाओंके प्रति अनुराग उदय न हो, तो वह निरा श्रम ही श्रम है।[४] बृहद्भागवतामृत २।७।१८७ श्लोककी टीकामें श्रीसनातन गोस्वामीने लिखा है कि यदि कृष्ण-कथामें अनुराग न जन्मे तो ब्रह्मजन्म भी किसी कामका नहीं, क्योंकि विरक्ति, मुक्ति और भक्ति सबका

१. भा. ११।६।४४
२. भा. १०।१।१३
३. भा. १२।१२।६८
४. भा. १।२।८

कृष्ण-कथानुराग ही फल है। इसके अभावमें न विरक्त विरक्त है, न मुक्त मुक्त है और न भक्त भक्त है।

हरिकथाके परमामृतस्वरूपा और परमपुरुषार्थरूपा होनेके सम्बन्धमें उन सभी लोगोंको शंका होना स्वाभाविक है, जिनके मन और बुद्धि स्वस्थ नहीं हैं। परन्तु यदि यह परमपुरुषार्थ न होती, तो पृथु महाराज भगवत्-साक्षात्कार प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी भगवत्-लीला-कथा सुननेके लिये लालसान्वित होकर भगवान्से दस सहस्र कर्ण प्राप्तिकी प्रार्थना क्यों करते ?[1] वैकुण्ठमें पार्षदगण निरन्तर भगवत्-कथा-कीर्तन क्यों करते ?[2] अनन्तदेव अपने सहस्र मुखोंसे सनकादि भगवत्-भक्तोंके बीच कृष्ण-लीला-गुण-कीर्तन करनेमें मत्त क्यों रहते ? क्यों स्वयं श्रीकृष्ण गोलोकमें सपरिकर अपनी लीला-कथा-रसका निरन्तर पान किया करते ?[3] क्यों वे इससे भी तृप्त न होकर अपने ही कहे—

"नाहं बसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥"

श्लोकानुसार जहाँ-जहाँ भी उनके भक्त उनकी लीला-कथाका गान करते हैं, वहाँ भागकर जाते और उस कीर्तन-रसका आस्वादन करनेके लिये निर्लज्ज भिक्षुककी तरह अपने कर्णपात्रको आगे कर बैठ जाते ?

हाँ, निर्लज्जकी तरह ! यदि रोहिणी या यशोदा माँ एकान्तमें स्त्रियोंके बीच उनकी गोपनीय कथाओंका वर्णन करती हों, तो भी निर्लज्जकी तरह छिपकर उसे सुननेके लिये वे नितान्त विवश रहते हैं। यदि विश्वास न हो तो सुनिये जगन्नाथजीके प्राकट्यकी कहानी जो उनकी कथा-रस-लोलुपताका ज्वलंत उदाहरण है। द्वारकामें एकदिन रातमें श्रीकृष्ण स्वप्नावस्थामें "हा राधे ! हा राधे !" कहकर रोने लगे। रोना न बन्द होते देख रुक्मिणीदेवीने प्राणवल्लभको चरण पकड़कर जगाया। श्रीकृष्णने निद्रा भङ्ग होनेपर बड़ी सावधानीसे भाव संगोपन किया। पटरानियोंके रोनेका कारण पूछनेपर वे बोले—"मुझे कुछ भी पता नहीं" और सो गये। पटरानियाँ रहस्य जाननेके लिये व्यग्र हो पड़ीं। आपसमें कहने लगीं, "देखो,

---

१. भा. १३।१।१३
२. भा. ३।१५।१७
३. द्रष्टव्य 'श्रीगोपालचम्पू'

हम सोलह हजार महिषी हैं। कुल, शील, रूप और गुणमें हममेंसे कोई कम नहीं। फिर भी हमारे प्राणवल्लभ अन्य रमणीके लिये व्याकुल रहते हैं, यह कैसे विस्मयकी बात है। हाय! स्वप्नमें भी जिसके लिये वे इतना व्याकुल होते हैं, वह रमणी न जाने कैसी रूपवती और गुणवती होगी! तब रुक्मिणी देवी बोलीं, "सुना है कि वृन्दावनमें 'राधा' नामकी एक गोप-कन्या है, जिसके प्रति प्रभु बहुत आकर्षित थे। उसे अभी तक भूल नहीं सके हैं।" सत्यभामाने कहा, "जो भी हो गोप-कन्या ही तो है वह। उसपर इतनी आसक्ति क्यों? मेरी समझमें इस रहस्यके बारेमें रोहिणी माँसे पूछना चाहिये। वे वृन्दावनमें थीं, उस समयकी सब लीलाएँ जानती हैं।" इस प्रस्तावसे सब सहमत हुईं। दूसरे दिन जब श्रीकृष्ण उद्धवादि सखावृन्दके साथ भोजनकर राजसभामें चले गये, पटरानियोंने रोहिणी माँको रातकी घटना सुनाई और व्रजका सारा वृतान्त जाननेकी उत्सुकता प्रकट की। रोहिणी माँ कहने लगीं, "बेटियों, मैं व्रजकी सब लीलायें जानती हूँ। पर माँ होकर बेटेकी गुप्त लीलाओंका रहस्य कैसे कहूँ? यदि राम (बलराम) और कृष्णमें से किसीने सुन लिया, तो कितनी लज्जाकी बात होगी?" पटरानियाँ कहने लगीं, "माँ जैसे भी हो, व्रज-लीलाकी कथा तो सुनानी ही होगी।" तब रोहिणी माँ बोलीं, "अच्छा, एक उपाय करो, सुभद्रा द्वारपर खड़ी रहे, किसीको भीतर न आने दे, तब मैं बिना संकोचके व्रज-लीला कह सकूँगी।" सुभद्रासे बोलीं, "देखो सुभद्रे! कृष्ण-बलराम आयें तो उन्हें भीतर न आने देना।" सुभद्रा माँकी आज्ञाका पालन करनेके लिये द्वारपर खड़ी होगयी। पटरानियाँ माँको घेरकर बैठ गयीं और उन्होंने अत्यन्त मधुर व्रज-लीलाका वर्णन प्रारम्भ किया।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई बेचैन होने लगे, सभामें बैठना असम्भव होगया और वे उत्कण्ठित हो अन्तःपुरकी ओर चल दिये। द्वारपर खड़ी सुभद्राने कहा—"माँकी आज्ञा है, इस समय तुम लोग भीतर नहीं जा सकते।" विवश हो दोनों भाई दरवाजेके दोनों ओर खड़े होकर बड़े ध्यानसे माँ रोहिणीका महिषियोंके साथ कथोपकथन सुनने लगे। जब रास-लीलाका प्रसङ्ग आया तब दोनोंके श्रीअङ्गमें अद्भुत प्रेम-विकार होने लगा। नयन-जलसे दोनोंके वक्षःस्थल भीग गये। सुभद्राकी भी यही दशा होगयी। जब राधाका प्रेम-वैचित्य वर्णन किया जाने लगा, तब बलराम बहुत विकल होगये। प्रेम-विकारके कारण उनके हाथ-पैर सिकुड़ने लगे। जब राधाके साथ श्रीकृष्णके विलासका वर्णन होने लगा तब श्रीकृष्णकी भी वैसी ही दशा

होने लगी। उनके हाथ पैर भी सिकुड़ने लगे। सुभद्रा एकदम निश्चल हो गयी। उसके हाथ-पैर भी न जाने कहाँ समा गये। तीनों इस अचल मुद्रामें खड़े रह गये। सुदर्शन गलकर लम्बे आकारका होगया।

उसी समय देवर्षि नारद स्वच्छन्द गतिसे विचरते हुए भगवान्‌के दर्शन के लिये द्वारका पहुँचे। अन्तःपुरके फाटकपर उन्होंने जो देखा, उसे देखकर चकित रह गये। कुछ देर पीछे जब माँ रोहिणीने राधाकी विरह-दशाका वर्णन प्रारम्भ किया, तो उन चारोंके शरीर फिर ज्योंके त्यों होगये। देवर्षि नारद नाना प्रकारसे स्तुति करने लगे। भगवान् नारदकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर बोले, "नारद, आज बड़े आनन्दका दिन है। बोलो, क्या वर चाहते हो ?" नारदने हाथ जोड़कर कहा, "प्रभो ! वरदानकी बात तो पीछे होगी, पहले मेरे मनका सन्देह दूर करनेकी कृपा कीजिये। मैंने आप लोगोंकी जो यह अपूर्व भाव-विभोर अवस्था देखी, उसका कारण क्या है ?" श्रीभगवान् मुस्कराते हुए बोले, "देखो नारद, माँ रोहिणी पटरानियोंको व्रज-लीलाकी कथा सुना रही थीं। मधुर व्रज-लीलामें ऐसी आकर्षण शक्ति है कि जहाँ-कहीं जिस-किसी प्रकार इस अपूर्व-लीलाका वर्णन होता है, वहाँ हमें जाना पड़ता है। उसी शक्तिने हमें राजसभासे अन्तःपुरकी ओर खींच लिया। यहाँ आकर देखा सुभद्रा दरवाजे पर खड़ी है, हमें भीतर जानेकी आज्ञा नहीं है। हम दरवाजे पर खड़े-खड़े उस रसमयी लीलाको सुनने लगे। उसे सुनते-सुनते ऐसी अवस्था होगई। यह भी पता न चला कि तुम कब आये।" तब नारद जीने कहा "प्रभो ! मुझे और किसी वरकी इच्छा नहीं है। यह वर दीजिये कि आप चारोंका वह अनोखा रूप एकसाथ पृथ्वीपर प्रकट हो और जन-साधारण उसके दर्शन किया करें।" भगवान् कृष्ण मुस्कराकर बोले, "तथास्तु ! इस सम्बन्धमें मैं दो और व्यक्तियोंसे प्रतिज्ञाकर चुका हूँ। राजा इन्द्रद्युम्नने बहुत दिनों तक कठिन तपस्या की थी। तब ब्रह्माकी प्रार्थनाके अनुसार मैंने उसे वर दिया था कि मैं नीलाचलमें दारुब्रह्म मूर्तिके रूपमें अवतार लूँगा। विमलादेवीकी तपस्यासे प्रसन्न हो जनसाधारणको महाप्रसाद वितरण करनेके लिये भी मैं वचनबद्ध हूँ। अतएव नीलाचलमें हम उसीरूपसे दारुमूर्ति धारणकर प्रकट होंगे। इसप्रकार तुम्हारी मनोवांछा भी पूरी होगी।"[1]

आज भी श्रीधामपुरीमें वह चारों मूर्तियाँ दारुरूपमें उसी अनोखी भावमय मुद्रामें वर्तमान रहकर सर्वसाधारणको कृष्ण-कथाकी अपूर्व

---

१. चरित-सुधा, पृ. १२०-२४

कृष्णाकर्षणी शक्तिकी याद दिलाते हुए कृष्ण-कथा-श्रवण-कीर्तन द्वारा बिना किसी प्रयासके उनका दिव्य सान्निध्य और प्रेम प्राप्तकर लेनेकी प्रेरणा देती रहती हैं।

श्रीजीवगोस्वामीके अनुसार साधन और साध्यरूपमें हरिकथा-श्रवण की अनिवार्यता और श्रेष्ठतमता सिद्ध करनेके लिये ही श्रीशुकदेवजीने परीक्षित महाराजके प्रश्नके उत्तरमें नवविधा भक्ति और अन्यान्य साधनों और उनके फलोंका उल्लेख करते हुए अपने उत्तरका पर्यवसान शुद्ध भक्ति-योगमें और परम पर्यवसान श्रवणांग-भक्तिमें किया है,तथा उपरोक्त "संसार सिन्धुमति" श्लोकका भागवतके प्रारम्भमें उपक्रमके रूपमें और निम्न-लिखित श्रवणांग-भक्ति सम्बन्धी प्रसिद्ध श्लोकका भागवतके अन्तमें उपसंहार के रूपमें वर्णन किया है—

"पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतम् श्रवण पुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं ब्रजन्ति तच्चरण सरोरुहान्तिकम्॥[1]

—जो लोग साधुगणोंके आत्मस्वरूप श्रीभगवान्‌का कथामृत श्रवण-पात्रसे पान करते हैं, वे ही विषयविदूषित अन्तःकरणको पवित्र कर उनके चरणारविन्दको प्राप्त कर सकते हैं।"

हरिकथा कौन सी, किससे और कैसे सुननी चाहिये ?

कौन सी हरिकथा सर्वाधिक मंगलकारी है ?

हरिकथाएँ सभी मंगलकारी हैं। कौनसी सर्वाधिक मंगलकारी है ? इसका उत्तर भागवत्‌के मङ्गलाचरण श्लोकमें इस प्रकार है—

"धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं बा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥[2]

—श्रीमद्भागवतकी कथा ही सर्वोत्तम है। इसके रहते और किसी शास्त्रके देखने-सुननेकी आवश्यकता नहीं। इस महापुराणमें मोक्ष तककी

---

१. भा. २।२।३७

२ भा. १।१।२

कामनासे रहित परम धर्मका निरूपण है और शुद्ध अन्तःकरण वाले सत्पुरुषों के जानने योग्य उस वास्तविक वस्तु परमात्माका निरूपण है, जो तीनों तापोंको जड़से नष्ट करनेवाला और परम कल्याणकारी है। इसकी बड़ी विशेषता यह है कि जिस क्षण कोई सुकृती पुरुष इसके सुननेकी इच्छा भर करता है, उसी क्षण भगवान् उसके हृदयमें आकर बन्दी होजाते हैं।"

श्रीजीवगोस्वामीने इस श्लोकको टीका (क्र. सं.) में लिखा है कि श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णाकर्षणी विद्या है। इसलिये यह सब शास्त्रोंमें श्रेष्ठ है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने इस श्लोकके "तत्क्षणात्" शब्दकी व्याख्या करते हुए श्रीमद्भागवतकी विशेषता यह बतलाई है कि इसके श्रवणसे श्रद्धाके पूर्व ही प्रेमोदय होजाता है,[1] क्योंकि जिस मुहूर्त्तमें भगवान् इसके श्रवणकी इच्छा करनेवालेके हृदयमें अवरुद्ध होते हैं, उसी मुहूर्त्तसे उसकी भागवत सुननेकी सदा इच्छा होती रहती है।

मङ्गलाचरणके परवर्ती श्लोकमें श्रीमद्भागवतके इस प्रकारके अलौकिक प्रभावका कारण बताते हुए कहा गया है कि श्रीमद्भागवत वेदरूपी कल्पवृक्षका पका हुआ फल है—'निगम-कल्पतरोर्गलितं फलं।' यह आदिसे अन्त तक भगवान् श्रीकृष्णको दिव्य रसमयी लीलाओंसे परिपूर्ण होनेके कारण सारा रस ही रस है। इसमें छिलका, गुठली आदि त्याज्य अंश कुछ भी नहीं है।

श्रीमद्भागवतकी श्रेष्ठता एक और भी बातसे प्रमाणित है। शाप-ग्रस्त, मरणासन्न महाराज परीक्षितने अपनी मृत्युका सम्वाद पाकर गंगातट पर एकत्र ऋषियोंसे कहा था—"विप्रवरों! आप सभी लोगोंपर पूर्ण विश्वास कर मैं अपने कर्तव्यके सम्बन्धमें एक प्रश्न करता हूँ। आप लोग परस्पर विचार कर बतायें कि सबके लिये सभी अवस्थाओंमें, और विशेष रूपसे थोड़े ही समयमें मरने वाले मनुष्योंके लिये अन्तःकरण और शरीरसे करने योग्य विशुद्ध कर्म क्या है?"[2] उसी समय श्रीशुकदेवजी वहाँ आगये थे। उनसे भी उन्होंने यही प्रश्न किया था। तब उन्होंने उत्तर दिया था—"परीक्षित! जो परम पदको प्राप्त करना चाहता है, उसे श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान् कृष्णकी लीला-कथाओंका श्रवण-कीर्तन और स्मरण करना

१. श्रद्धतः पूर्वमेव श्रवणे प्रेमाभवेत्

२. भा. १।१९।२४

चाहिये ।[1] सब समय सभी परिस्थितियोंमें श्रीकृष्णकी लीलाओंका श्रवण-कीर्तन करनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ।[2]

भगवान्‌ने स्वयं ब्रह्माजीसे श्रीमद्भागवतका माहात्म्य वर्णन करते हुए कहा था—"जिसके घरमें भागवतका एक श्लोक, आधा श्लोक या किसी एक श्लोकका एक चरण भी लिखा रहता है, उसके घरमें मैं निवास करता हूँ । जहाँ-जहाँ भागवतकी कथा होती है, वहाँ मैं वैसे ही खिंचा चला जाता हूँ, जैसे पुत्रवत्सला गौ अपने बछड़ेके पीछे खिंची चली जाती है । जो मेरी कथा कहता है, जो सदा उसे सुननेमें लगा रहता है, तथा जो मेरी कथासे मन ही मन प्रसन्न होता है, उस मनुष्यका मैं कभी त्याग नहीं करता ।"[3]

पर यद्यपि श्रीकृष्णकी सभी लीलाएँ श्रवणोन्मुख भक्तके लिये सर्वश्रेष्ठ हैं, श्रीजीवगोस्वामीने चेतावनी दी है कि श्रीराधागोविन्दकी रहस्य लीलाएँ उन लोगोंकी उपासनाका विषय नहीं हैं, जिन्हें काम विकार होता है, या जो दास्य, सख्य और वात्सल्य रसके उपासक हैं ।[4]

भागवत किससे सुननी चाहिये ?

भागवत सुननी चाहिये वैष्णवसे, जिसने परम्परासे भागवत सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया हो—

भागवत हइतेइ सब तत्व जानि ।
ताहा जदि वैष्णव गुरु मुखे सुनि ।।[5]

हरिभक्ति-विलासके अनुसार अवैष्णवके मुखसे भागवत सुनना वैसा ही है, जैसा साँपका उच्छिष्ट दूध पीना । भागवत वेदरूपी कल्पतरुका पका हुआ फल है, जो एकदमसे भूमिपर नहीं आ जाता । वह क्रमशः ऊपरवाली डालसे नीचेवाली डालपर गिरता हुआ भूमिपर आता है, अर्थात् वह गुरु परम्परासे ही प्राप्त होता है । जो वैष्णव नहीं है, अर्थात् जिसने परम्परासे भागवतका

---

१. भा. २।१।५

२. भा. २।२।३६

३. भा. माहात्म्य २१, २३, २४

४. रहस्यलीला तु पौरुष विकारवदिन्द्रियैः पितृपुत्रदासभावैश्चमोपास्या । भ. स. २५३

५. चै. भा. १।७

तत्व नहीं जाना है, वह अर्थका अनर्थ करके श्रोताओंका अकल्याण कर सकता है।

श्रीजीवगोस्वामीने भक्ति-सन्दर्भमें सराग और निराग वक्ताकी बात कही है। सराग वक्ता वे हैं, जिनका विषयोंसे राग बना हुआ है। वे भागवत की कथा कहनेके अधिकारी नहीं हैं। निराग वक्ता वे हैं, जिन्हें विषयोंसे राग नहीं है, जो भक्त हैं, स्निग्ध-चित्त हैं और भागवत-प्रेमी हैं। उन्हींसे कथा सुननी चाहिये। जो अभक्त हैं वे भागवतके मर्मको समझ ही नहीं सकते। चाहे कोई कितना बड़ा पण्डित और ज्ञानी क्यों न हो, यदि वह भक्तिहीन है, तो निश्चित रूपसे जान लेना चाहिये कि वह भागवतके विषयमें कुछ भी नहीं जानता—

भक्ति बिनु भागवत जे आर बाखाने।
प्रभु बले—से अधम किछुइ ना जाने ॥[1]

श्रीदेवानन्द पण्डित एक आजन्म विरक्त, सुशान्त, तपस्वी, ज्ञानी ब्राह्मण थे। भागवतके महा-अध्यापकके रूपमें उनकी ख्याति थी। पर वे भक्तिहीन और मोक्षकामी थे। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनन्य भक्त श्रीवास पण्डितके प्रति वे अपराधी थे। एकदिन जब वे अपने शिष्योंके सामने भागवतकी व्याख्या कर रहे थे, श्रीवास पण्डित वहाँ जा पहुँचे। भागवतका श्लोक सुनते ही वे भावाविष्ट होगये और रोते-चीत्कार करते भूमि पर गिर पड़े। देवानन्द पण्डितके शिष्य उन्हें भागवत-पाठमें विघ्नस्वरूप जान पकड़कर बाहर छोड़ आये। पण्डितने उन्हें ऐसा करनेसे नहीं रोका। उनसे यह अपराध इसीलिये बना कि वे भक्तिके मर्मको नहीं जानते थे। एकबार महाप्रभुको उन्हें देखकर इस घटनाका स्मरण हो आया। तब उन्होंने क्रोधमें भरकर कहा—"यह पण्डित भागवतका उल्टा-सीधा अर्थ क्यों करता है? यह क्या सात जन्ममें भी कभी भागवतका मर्म जान सकता है? इसे भागवत पढ़ने-पढ़ानेका क्या अधिकार है?"[2]

हरि-कथामें रुचि कैसे हो?

जिनका पित्त दूषित होता है, उन्हें मिसरी अच्छी नहीं लगती। इसी प्रकार जिनके मन और बुद्धि विषय-वासनाओंसे दूषित हैं, उन्हें हरि-कथा

---

१. चै. भा. २।२१।२०

२. वही २।२१।१३-१४

अच्छी नहीं लगती।[1] ऐसे भी लोग हैं, जो हरिकथासे बिलकुल ही विमुख हैं, जिन्हें कथाके नामसे चिढ़ है। उनकी विमुखताका कारण बताते हुए श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने भा. ३।५।१४ श्लोककी टीकामें लिखा है—"अघेन प्राचीनार्वाचीन महदपराधेनैव हेतुनेत्यर्थः।" अर्थात् प्राचीन और आधुनिक वैष्णवापराधोंके कारण मनुष्य हरि-कथासे विमुख हुआ करते हैं। भा. १०।१।७ श्लोककी चैतन्य-मतमंजूषा टीकामें लिखा है कि वैष्णवगणसे ही भगवद्गुणानुवाद प्रकट होता है। इसलिये उनके चरणोंमें विद्वेष होनेसे गुणानुवादसे विरक्ति होजाती है। ऐसे सभी लोगोंके लिये जिन्हें हरिकथामें रुचि नहीं है महत्-सेवा और महत् पुरुषोंके मुखसे हरि-कथा-श्रवण ही एकमात्र उपाय है—

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥[2]

अर्थात्, पुण्यतीर्थ निषेवनादि द्वारा निष्पाप पुरुषोंकी महत्-सेवामें प्रवृत्ति होती है। महत्-सेवा द्वारा उनकी धर्ममें निष्ठा होती है। तदनन्तर महत् पुरुषोंके मुखसे निर्गत हरि-कथा सुननेकी उनकी इच्छा होती है। कथा सुनते-सुनते (पूर्व संचित अपराध और हृदयके सारे कल्मष दूर होजाते हैं और) कथामें रुचि उत्पन्न होजाती है। रुचिके पश्चात् कथा सुनते-सुनते उसमें आसक्ति और आसक्तिके पश्चात् रति होती है। आसक्तिकी अवस्थामें हरिकथा इतनी अच्छी लगने लगती है कि उसे छोड़ते ही नहीं बनता, वह "दुस्त्यज्य" होजाती है,[3] और रतिकी अवस्थामें अमृतके समान मधुर और मादक लगने लगती है।[4] उससे तृप्ति कभी नहीं होती।[5] नैमिषारण्यमें शौनकादिक ऋषियोंने सूतजीसे कहा था—"पुण्य-कीर्ति भगवान्‌की लीला सुननेसे हमें कभी तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि रसज्ञ श्रोताओंको पद-पदपर भगवान्‌को लीलाओंमें नये-नये रसका आस्वादन होता है।"[6] कृष्ण-कथामें

---

१. भा. ७।६।३८
२. भा. १।२।१६
३. भा. १।१०।११
४. भा. ७।६।४३; ४।२०।२६
५. माधुर्य कादम्बिनी
६. भा. १।१।१९

नित्य नये-नये रसका आस्वादन होना स्वाभाविक है, क्योंकि कृष्ण-कथा, कृष्ण-नाम, रूप-गुणादिके समान चिदानन्दमय है—

कृष्ण-नाम, कृष्ण-गुण, कृष्ण-लीला वृन्द ।
कृष्णेर स्वरूपसम सब चिदानन्द ।।[१]

जिस प्रकार कृष्णका रूप नित्य नवनवायमान है, उसी प्रकार कृष्ण-कथा भी नित्य नये-नये रूपमें आस्वाद्य है। जिस प्रकार रुचि उत्पन्न होनेके पूर्व कृष्णका रूप उतना मधुर और आकर्षक नहीं लगता,[२] उसी प्रकार रुचि उत्पन्न होनेके पूर्व कृष्ण-कथा उतनी आकर्षक और आस्वाद्य नहीं लगती। रुचि उत्पन्न होनेपर कृष्ण-कथा भक्तोंके निकट उसी प्रकार नित्य नूतन रूपमें अनुभूत होतो है,जिस प्रकार स्त्री-कामी पुरुषोंके निकट कामिनी वार्त्ता नित्य नूतन रूपमें अनुभूत होती है।[३]

हरिकथा-श्रवणकी विधि क्या है ?

श्रोताको भागवत और उसके वक्ता दोनोंके प्रति श्रद्धान्वित होकर और पूजाका भाव रखकर कथा सुननी चाहिये, क्योंकि दोनों ही भगवान्‌के स्वरूप हैं। भगवान्‌में और उनमें भेद करना अपराध है। श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने कहा है कि जो मुझमें, मेरे भक्त और भागवतमें भेद करता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है—

मुञि, मोर दास आर ग्रन्थ भागवते ।
जार भेद आछे, तार नाश भाल मते ।।[४]

हरिभक्ति विलासका कहना है कि भागवतके वैष्णव वक्ताको विष्णु के तुल्य जानकर उसकी पूजा करनी चाहिये,[५] क्योंकि श्रीकृष्ण और उनके भक्तोंने सबसे बड़े दाताके रूपमें उसका अनुग्रह स्वीकार करते हुए अपनेको उसका ऋणी माना है। श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—जो व्यक्ति मेरे द्वारा

---

१. चै. च. २।१७।१३०

२. इसका प्रमाण है कंस और जरासन्ध, जिनका कृष्णके प्रति भक्ति-भाव नहीं था।

३. भा. १०।१३।२

४. चै. भा. २।२१।१८

५. ह. भ. वि. १०।४१०

उपदिष्ट ज्ञान मेरे भक्तोंको सम्यक् रूपसे श्रवण कराता है, उसके ऋणसे उद्धार पानेके लिये मुझे अपने पास कुछ नहीं दीखता, तो मैं उसे आत्मदान कर देता हूँ।[1]

इस सम्बन्धमें राजा प्रतापरुद्रके प्रति श्रीचैतन्यमहाप्रभुका व्यवहार विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। राजा प्रतापरुद्र महाप्रभुके दर्शनके लिये उत्कण्ठित थे। पर महाप्रभु संन्यास धर्मकी रक्षाके लिये राजाको दर्शन न देनेका संकल्प किये हुए थे। सार्वभौम भट्टाचार्य और राय रामानन्दके राजा की ओरसे बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी महाप्रभु उन्हें दर्शन देनेको सहमत न हुए। तब राजाने राज्य त्यागकर भिखारी बननेका निश्चय किया और ऐसा करनेपर भी यदि महाप्रभु दर्शन न दें तो प्राण त्याग देनेका संकल्प किया। सार्वभौम भट्टाचार्यने महाप्रभुको राजाके निश्चयके बारेमें बताया। फिर भी महाप्रभुने अपना संकल्प न छोड़ा। सार्वभौम भट्टाचार्यने राजाको धैर्यसे काम लेनेका उपदेश किया और महाप्रभुका दर्शन करनेकी एक युक्ति सुझाई। तदनुसार राजा प्रतापरुद्र राजवेश त्यागकर वैष्णववेशमें अकेले उस समय महाप्रभुके दर्शन करने गये, जब वे जगन्नाथजीकी रथयात्रामें नृत्य-कीर्तन करते-करते प्रेमावेशमें विह्वल होगये थे और बलगंडीके निकट-वर्ती उद्यानमें विश्राम कर रहे थे। उनकी आँखें मिची थीं और वे भावमें विभोर थे। राजा चुपके-चुपके उनके निकट गये और रास-लीलाके श्लोक उच्चारण करते हुए उनके चरण दबाने लगे। महाप्रभु श्लोक सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुए और "बोलो, और बोलो" बार-बार कहने लगे। क्रमशः राजाने निम्न श्लोकका उच्चारण किया—

"तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥[2]

—हे श्रीकृष्ण! तुम्हारी लीला-कथा तापित-जनोंके लिये संजीवनी है, ब्रह्मा-शिव-सनकादि आत्माराम कविगणों द्वारा प्रशंसित है, सर्वदुःख विनाशक है, श्रवणमात्रसे मङ्गल करनेवाली है, सर्वापेक्षा उत्कर्षयुक्त और सर्वव्यापक, अर्थात् शास्त्र और भागवतके वक्ताओं द्वारा सर्वत्र प्रचारित है। जो लोग उस कथाका जगत्‌में कीर्तन करते हैं, वे 'भूरिदा' अर्थात् महान दाता है।"

---

१. भा. ११।१६।२६

१. भा. १०।३१।६

श्लोक सुनते ही महाप्रभु विह्वल होगये। झट उठकर "भूरिदा, भूरिदा" कहते हुए राजाको आलिंगन किया और बोले—

"तुमि मोरे बहु दिले अमूल्य रतन।
मोर किछु दिते नाहिं, दिनु आलिंगन॥
(चै. भा. २।२१।१०)

—तुमने मुझे जो बहुमूल्य रत्न दिया है, उसके बदले तुम्हें देनेको मेरे पास कुछ भी नहीं है, इसलिये मैं आलिंगन द्वारा तुम्है अपने आपको देता हूँ।"

हरिकथा यथासम्भव निरन्तर सुननी चाहिये। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने हरिकथा श्रवण और कीर्तनको भक्तिके पाँच मुख्य अंगोंमें भी सर्वश्रेष्ठ कहा है ओर भक्तिरूपी लताको श्रवण-कीर्तनरूपी जलसे सदा सींचते रहनेका आदेश दिया है।[1] श्रीनरोत्तम ठाकुरने भी निरन्तर श्रवण-कीर्तन करनेको कहा है—

निरन्तर साधुसंग कर सर्वजन।
अति दीन हैया कर श्रवण-कीर्त्तन॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने भा. १०।३६।३६ श्लोककी टीकामें लिखा है कि श्रीकृष्णभक्तको श्रीकृष्ण-लीला-कथा नित्य प्रति सुननी चाहिये। नित्य-प्रति कृष्ण-कथा न सुननेसे उसी प्रकार प्रत्यवाय होता है, जिस प्रकार सन्ध्या-उपासना नित्य प्रति न करनेसे होता है। श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षितसे कहा था—"राजन्! मनुष्योंको चाहिये कि सब समय और सभी स्थितियोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण-कीर्तन और स्मरण किया करें—

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्॥[2]

भक्तको रहना ही वहाँ चाहिये, जहाँ भागवत-कथा कीर्तनादिके महोत्सव नित्य होते रहते हैं,क्योंकि वहाँ भगवान् स्वयं विराजमान रहते हैं। जिस स्थानपर भगवत्-कथामृत-वाहिनी नदी नहीं बहती, जिस स्थानपर

१. 'श्रवण-कीर्त्तन जले करये सेचन।' (चै. च. २।१९।१३४)

२. भा. २।२।३६

हरिकथामृतरूपी नदीका आश्रय लेकर भागवतगण निवास नहीं करते, एवं जिस स्थानपर कथा-कीर्तन-प्रधान यज्ञ-महोत्सवादि नहीं होते, उस स्थान पर भक्तको नहीं रहना चाहिये चाहे वह ब्रह्मलोक ही क्यों न हो—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥[1]

संग भी ऐसे ही व्यक्तियोंका करना चाहिये, जो भगवत्-कथा-कीर्तन में संलग्न रहते हैं, क्योंकि ऐसे व्यक्तियोंका संग स्वयं भगवान्‌के संगसे भी अधिक श्लाघनीय है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने भा. ४।३०।३३ श्लोककी अपनी टीकामें कहा है कि भगवत् साक्षात्कार लाभ करनेके पश्चात् भी प्रचेतागणने साधुसंगरूप वरकी प्रार्थना की, क्योंकि "नाहं बसामि वैकुण्ठे" श्लोकके अनुसार साधुसंगमें भगवत्-गुण-कथा-कीर्तनके प्रभावसे भगवत्-संग तो सुलभ होता ही है, भगवत्-रूप-गुण-कथाके माधुर्यका भी आस्वादन होता है। ऐसे व्यक्तियोंका संग कभी नहीं करना चाहिये, जो हरिकथासे विमुख हों, क्योंकि वे शोचनीयोंके भी शोचनीय हैं—

ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे हरेः कथायां विमुखानघेन ।[2]

जहाँ तक सम्भव हो कथा-श्रवण-कीर्तन साधु-समाजमें बैठकर करना चाहिये। इसलिए और भी साधुपुरुषोंका संग और उनकी बस्तीमें वास आवश्यक है। साधु-समाजमें कथा-कीर्तन विशेष रूपसे फलदायक होते हैं, क्योंकि निकटमें बैठे साधुगणोंकी शक्ति श्रोताओंमें संचारित होती है। वक्ता में भी उपस्थित महात्माओंकी शक्तिसे कथाका अलौकिक स्फुरण होता है। इसीलिये नरोत्तम ठाकुर महाशयने वैष्णव-समाजमें बैठकर श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेका आदेश किया है—

वैष्णवेर संग करि, वैष्णवेर अंग हेरि,
श्रद्धान्वित श्रवण-कीर्त्तन।

इसीलिये श्रीध्रुवने भा. ४।९।११ श्लोकमें भगवत्-साक्षात्कारके पश्चात् भी हरिकथा-श्रवणके लिये साधुसंगकी प्रार्थना की है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने उक्त श्लोककी व्याख्यामें कहा है कि श्रवण-कीर्तनादि सत्संग

---

१. भा. ५।१९।२४

२ भा. ३।५।१३

के बिना सुष्ठु रसका उत्पादन नहीं करते। श्रीमद्भागवतके निम्न वाक्यमें भी साधु-समाजमें बैठकर श्रवण-कीर्तनादि करनेपर बल दिया गया है—

यत् शृण्वन्ति, गायन्ति, गृणन्ति साधवः ।[1]

अर्थात् भक्तगण वक्ता रहनेपर कथा श्रवण करते हैं,वक्ता न हो श्रोता हों, तो स्वयं कथा कहते हैं। वक्ता-श्रोता दोनोंमें कोई न हो तभी अकेले भगवत्-लीला-कथाका गान करते हैं।

हरिभक्तिविलासमें कहा है—

अलाभे सत्सभायास्तु शुश्रुयञ्च निजालये।
देवालये वा शास्त्रज्ञः कीर्त्तयेद् भगवत्कथाम् ॥[2]

सत्सभाके अभावमें शास्त्रज्ञ व्यक्ति अपने घर या देवालयमें हरिकथा-कीर्तन करते हैं। तात्पर्य यही है कि सत्सभामें ही हरिकथा-श्रवण कीर्तन परम वांछनीय है; सत्सभाका अभाव हो तभी कथा अपने घरमें या देवालय में, अकेले या बन्धु-बाधवोंके बीच बांचना उचित है।

• • •

१. भा. ११।५।११
२. ह. भ. वि. १०।५२८

प्रीति

भगवत्-प्रीतिके लक्षण

स्वरूप-लक्षण

प्रीति या प्रेमके दो आलम्बन हैं—आश्रय और विषय। जो प्रीति करता है वह प्रीतिका आश्रय है, जिससे प्रीति की जाती है, वह प्रीतिका विषय है।

'प्रीति' शब्द दो वस्तुओंका व्यंजक है—सुखका और प्रियता का। उल्लासात्मक ज्ञान विशेषका नाम है सुख[1] और प्रेमिक, जिसने अपने प्रिय का सुख पहुँचाना ही अपने जीवनका सार मान रखा है, उसमें प्रियको तदनुरूप भावसे प्राप्त करनेकी जो स्पृहा जागी है और उस स्पृहाजन्य प्रियके अनुभवके कारण उसे जो उल्लासात्मक ज्ञान होता है, उसका नाम है प्रियता।[2] इस प्रकार सुख प्रियताका ही एक अंग है। पर प्रियताका सुख साधारण सुखसे सर्वथा भिन्न है। साधारण सुख आत्म-सुख-स्पृहा-जनित होता है और आत्म-सुखमें ही पर्यवसित होता है। प्रियताका सुख आत्म-सुख-वांछा-जनित नहीं होता। प्रेमिकमें आत्म-सुख-वांछाकी गन्ध भी नहीं होती। उसमें होती है केवल प्रियको सुख पहुँचानेकी वांछा। प्रियको सुख पहुँचानेके लिये उसे अपने सुखको तिलांजलि देनी पड़े तो वह उसमें भी

१. तत्र उल्लासात्मको ज्ञान विशेषः सुखम्।

—प्री. स. ६१

२. तथा विष्यानुकूल्यात्मकस्तदानुकूल्यानुगत तत् स्पृहा-तदनुभवहेतुकोल्लासमय ज्ञान विशेषः प्रियता।

—प्री. स. ६१

अपना सुख ही मानता है यहाँ तककि वह प्रियको प्राप्त करनेकी या उससे मिलनेकी इच्छा भी त्याग देता है,यदि इससे उसके सुखमें बाधा पड़ती हो।[1]

यद्यपि प्रियता स्वसुख-वांछा-विरोधी है और प्रेमिक अपने सुखकी वांछा नहीं करता, फिर भी उसे उस सुखका अनुभव तो होता ही है, जो प्रेमिकके सुखका स्वाभाविक परिणाम है।[2] प्रियके प्रत्येक सुख-विधानका स्वाभाविक परिणाम प्रेमिकका सुख है। इसीलिये प्रीतिका मिलन भी सुखमय है, विरह या विछोह भी सुखमय है।

प्रियताका आश्रय भी होता है, विषय भी। सुखका आश्रय होता है, विषय नहीं। प्रियताका आश्रय अवश्य प्रेमिकका अपना आत्मा होता है, परन्तु बिना विषयके या उस व्यक्तिके, जिससे प्रीति की जाती है, प्रियताका कोई अर्थ नहीं होता। सुखका भी आश्रय आत्मा होता है, पर सुखका विषय कोई अन्य व्यक्ति नहीं होता, जिसके लिये सुख प्राप्त करनेको चेष्टा की जाती है। सुख होता है अपने आत्माके लिये ही।[3]

प्रीतिका सार अंश है प्रियकी निःस्वार्थ सेवा, इसीलिये प्रीतिको सेवा कहते हैं और प्रीतिमें जिस सुखका अनुभव होता है, उसे सेवा-सुख कहते हैं। प्रीति या भगवत्-प्रीति, जिसका लक्ष्य भगवान्‌की सेवा है, भगवान्‌की ह्लादिनी-प्रधाना स्वरूप-शक्तिकी ही वृत्ति है, जिसे वे भक्तके हृदयमें निक्षिप्त करते हैं। विषय-प्रीति माया-शक्तिको वृत्ति है, जो हमारे हृदयमें ही उत्पन्न होती है। भगवत्-प्रीति स्वरूप-शक्तिके समान अप्राकृत या निर्गुण है;विषय-प्रीति मायिक गुणोंसे उत्पन्न होनेके कारण प्राकृत या गुणमय है। इसलिये भगवत्-प्रीतिका सुख अप्राकृत और नित्य है; विषय-प्रीतिका सुख प्राकृत और क्षणिक है।

---

१. निज प्रेमानन्दे कृष्णसेवानन्द बाधे।
से आनन्देर प्रति भक्तेर हय महाक्रोधे॥
चै. च. १।४।१७१
—प्री. रु. ६१

२. गोपीगण करेन जबे कृष्ण-दर्शन।
सुख-वांछा नाहि, सुख हय कोटिगुण॥
चै. च. १।४।१५७

३. चै. च. १।४।१६९-७०

भगवत्-प्रीतिका सुख भगवान्‌के स्वरूपगत-सुख (स्वरूपानन्द या ब्रह्मानन्द) से भी श्रेष्ठ है। इसलिये स्वयं उन्हें भी इसका लोभ रहता है। इसमें ऐसी विलक्षण मादकता है कि भक्त और भगवान् दोनों परस्परके आवेशके कारण अपनेको एक-दूसरेमें खोकर अपने पृथक् अस्तित्वको भूल जाते हैं। राधा-कृष्णके पारस्परिक प्रेममें जो उनकी मनोस्थिति होती है, उसका वर्णन करते हुए चैतन्य-चरितामृतमें राधाकी उक्ति इस प्रकार है—

ना सो रमण ना हम रमणी।
दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि ॥[1]

श्रीमती राधा अपनी सखीसे श्रीकृष्णके साथ प्रेम-विलासमें अपनी और श्रीकृष्णकी स्थितिका वर्णन करते हुए कहती हैं—"उस समय न वे रमण (नायक) रहते हैं, न मैं रमणी (नायिका)। उस समय स्वसुख-वासना तो बिलकुल होती ही नहीं, एक-दूसरेको सुख पहुँचानेकी इच्छा इतनी बलवती होती है कि हम दोनों अपने पृथक् अस्तित्वको भूल जाते हैं, मानो प्रेमरस हमारे चित्तको पीसकर या पिघलाकर एक कर देता है।"

परन्तु इस प्रकारकी परस्परावेशत्वकी स्थितिमें भक्त और भगवान्‌में सम्पूर्ण ऐक्य नहीं होजाता, जैसा कि अद्वैतवादी मुक्तावस्थामें मानते हैं। यह ऐक्य प्रेमका ऐक्य होता है। यह अग्नि और लौह-खण्डके ऐक्यके समान है। लौह-खण्डके अग्निमें रखनेसे वह अग्नि हो जाता है, परन्तु फिर भी उसका लौह-स्वरूप बना रहता है।

स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति होनेके कारण भगवत्-प्रीति नित्य है। इसका कभी ह्रास नहीं होता। एकबार साधकके हृदयमें निक्षिप्त होनेके पश्चात् यह सदा अविच्छिन्नरूपसे वहाँ विराजती है।

उपरोक्त वर्णन भगवत्-प्रीतिके स्वरूप-लक्षणका वर्णन है। संक्षेपमें भगवत्-प्रीति है ह्लादिनीकी वृत्ति-विशेष, भगवान्‌के प्रीति विधानकी स्वसुख-वासना-रहित गंगाधाराके समान अविच्छिन्ना और बलवती इच्छा। श्रीकृष्णदास कविराजने इसे ह्लादिनीकी घनीभूत अवस्था, "ह्लादिनीका सार" कहा है।[2]

---

१. चै. च. २।८।१५३
२. चै. च. १।४।५९

तटस्थ लक्षण

किसी वस्तुके कार्य द्वारा उसके जिन लक्षणोंका परिचय मिलता है, उन्हें उसके तटस्थ लक्षण कहते हैं। भगवत्-प्रीतिके तटस्थ लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) **चित्तद्रवता**—जब साधकके चित्तमें भक्तिका आविर्भाव होता है, तब उसके हृदयमें भगवद्दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा जागती है। उत्कण्ठारूप अग्निसे चित्तरूप स्वर्ण द्रवित होता है। उस समय साधकके शरीरमें अश्रु, कम्प, पुलकादि सात्विक विकार दृष्टिगोचर होते हैं। वह कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी नाचता है, कभी गाता है। उसे किसी प्रकारकी लोकापेक्षा नहीं रहती।[1] यह विकार उसके हृदयमें स्थित भक्तिके बाह्य लक्षण हैं, जिस प्रकार शरीरका ताप ज्वरका बाह्य लक्षण है। जिस प्रकार ज्वरको आँखसे देखा नहीं जाता, शरीरके तापसे उसके अस्तित्वको जाना जाता है, उसी प्रकार चित्तमें आविर्भूत प्रीति देखी नहीं जाती, अश्रु-कम्पादि बहिर्लक्षणोंसे उसका ज्ञान होता है।

(२) **चित्त-शुद्धि**—चित्त द्रवित होनेसे पुलक (रोमहर्ष) होता है और आनन्दाश्रुका विसर्जन होता है। आनन्दाश्रुके विसर्जनसे चित्तकी शुद्धि होती है। चित्तकी शुद्धिका दूसरा कोई उपाय नहीं है, ऐसा स्वयं श्रीकृष्णने उद्धव से कहा है—

"कथं बिना रोमहर्षं द्रवता चेतसा बिना।
बिनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः॥

—जबतक चित्त द्रवित नहीं होता तबतक पुलक कैसे सम्भव है? पुलक जबतक नहीं होता, चित्त जबतक गद्गद नहीं होता, आनन्दाश्रु कैसे सम्भव हैं, और जबतक आनन्दाश्रु प्रवाहित नहीं होते, भक्तिकी गंगामें जबतक चित्त डूबने-उतराने नहीं लगता, तब तक चित्तकी शुद्धि कैसे सम्भव है?"

चित्तकी शुद्धि भक्ति या प्रीतिका एक विशेष लक्षण है। यदि चित्त थोड़ा-बहुत द्रवित हो और पुलकादि भक्तिके चिन्ह भी दीख पड़ें, पर चित्त शुद्ध न हो, तो समझना चाहिये कि प्रीतिका सम्यक् आविर्भाव नहीं हुआ है।

---

१. भा. ११।२।४०; ११।३।३१-३२

(३) **सर्वगुण निधानत्व**—भगवत्-प्रीति सभी सद्‌गुणोंका एकमात्र आश्रय है। जिसके हृदयमें भगवत्-प्रीति होती है उसमें सभी सद्‌गुणोंका स्वभाविक समावेश होता है—"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सूरा: ।"[1] यह चित्त-शुद्धिका स्वाभाविक परिणाम है।

(४) **श्रीकृष्ण प्रीति व्यतीत अन्य तात्पर्य हीनता**—जीव है श्रीकृष्ण का नित्यदास। इसलिये कृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा-वासना, केवल कृष्ण को सुख पहुँचानेके उद्‌देश्यसे श्रीकृष्णकी सेवा करनेकी वासना, उसका स्वाभाविक धर्म है।[2] चित्त सम्यक् रूपसे शुद्ध होजाने पर उसमें जीवकी स्वरूपानुबन्धिनी श्रीकृष्ण-सेवाकी वासनाके अतिरिक्त और कोई वासना नहीं रह सकती। अन्य किसी भी वासनाके रहनेसे चित्तकी स्वाभाविक अवस्था नहीं रहती, अर्थात् चित्त मलीन होजाता है। यदि साधकके चित्तमें और कोई वासना रहे तो समझना चाहिये कि प्रीतिका सम्यक् अविर्भाव नहीं हुआ और चित्त पूर्ण रूपसे शुद्ध नहीं हुआ। श्रीजीवगोस्वामीने इस प्रकारकी चित्त-शुद्धिका दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए वृत्रासुरका उल्लेख किया है। वृत्रासुरने भगवान्‌से कहा था—"हे हरे! तुम्हारे चरणयुगल ही जिनका एकमात्र आश्रय हैं,तुम्हारे उन भक्तोंका मैं सदा दासानुदास हूँ। हे प्राणनाथ! मैं चाहता हूँ कि मेरा मन सदा तुम्हारे गुणोंका स्मरण, मेरे वाक्य तुम्हारे गुणोंका कीर्तन और मेरा शरीर तुम्हारे कर्म करता रहे। तुम्हें परित्यागकर मैं ध्रुवपद, पारमेष्ठ्य या ब्रह्मपद, समस्त पृथिवीका आधिपत्य, रसातलका आधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ, मोक्षादि कुछ भी नहीं चाहता।"[3]

(५) **अनिर्वचनीय माधुर्य**—भागवती प्रीति ह्लादिनीकी वृत्ति होने के कारण स्वत: अपूर्व स्वादमयी और परम-मधुरा है। मिसरी जिस प्रकार अपने मिष्टत्वके लिये अन्य किसी वस्तुके संयोगकी अपेक्षा नहीं रखती, उसी प्रकार भागवती प्रीति अपने माधुर्यके लिये किसी अन्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखती। यह अपने प्रभावसे आप ही आनन्दोच्छासमयी है। इसके आनन्दकी तुलना नहीं की जा सकती। यह आनन्दकी पराकाष्ठा है। अशेष पुरुषार्थरूप सम्पत्ति इसकी दासीके समान है—"दासीकृताशेष पुरुषार्थ सम्पत्तिका।"[4]

---

१. भा. ५।१८।१२

२. प्री. स. ६९

३. भा. ६।११।२४-२५

४. प्री. स. ७८

भगवत्-प्रीतिका आविर्भाव

असम्यक् आविर्भाव

प्रीतिका आभास—योगज्ञानादि मार्गके साधकोंका लक्ष्य यद्यपि कैवल्य या मुक्ति होता है, उन्हें अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिये स्मरणादि भक्ति के साधनोंका सहारा लेना पड़ता है। उसके फलस्वरूप उनका चित्त कुछ द्रवित होता है और अश्रु-पुलकादि प्रीतिके लक्षण उनमें देखनेमें आते हैं। परन्तु उनकी प्रीति वास्तविक प्रीति न होकर प्रीतिका आभास ही होती है। वास्तविक प्रीतिका लक्ष्य प्रीति ही होता है, अन्य कुछ नहीं। परन्तु योगज्ञानादिके साधकोंका लक्ष्य प्रीति नहीं होता। वे भगवद्रूपका ध्यान करते हैं कैवल्य प्राप्त करनेके लिये, भगवान्‌की सेवा करनेके लिये नहीं। वे जैसे-जैसे अपने मुख्य उद्देश्यके निकट पहुँचते हैं, उनका चित्त क्रमशः ध्येय भगवद्रूपसे दूर हटता जाता है। जिनमें भगवत्-प्रीतिका सचमुच आविर्भाव होता है, उनके लिये भगवत्-चरणारविन्दसे अपने चित्तको हटा लेना सम्भव ही नहीं होता। श्रीजीवगोस्वामीने कहा है कि रसग्रह व्यक्ति भगवच्चरण परित्याग नहीं करते, इससे जान पड़ता है कि जो लोग ऐसा करते हैं उनका हृदय लौह-पाषाणादिके समान है—"यो रसग्रहः स तु न त्यजतीत्यनेनान्येषां लौह-पाषाणादि तुल्यत्वं सूचितम्।"[१] कपिलदेवने भी उनके हृदयको लोहे की बड़िश (मछली पकड़नेके कांटे) के समान कहा है—

"एवं हरौ भगवती प्रतिलब्ध भावो
भक्त्याद्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यवाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥

—ध्यानके अभ्याससे (योग ज्ञानादिके साधकका) श्रीहरिमें प्रेम हो जाता है, शरीरमें आनन्दातिरेकके कारण रोमाञ्च होने लगता है, उत्कण्ठा-जनित प्रेमाश्रुओंकी धारामें वह बार-बार अपने शरीरको नहलाता है और फिर मछली पकड़नेके काँटेके समान श्रीहरिको अपनी ओर आकर्षित करने के साधनरूप अपने चित्तको भी धीरे-धीरे ध्येय भगवान्‌से हटा लेता है।"

---

१. प्री. स. ७३

'बड़िश' शब्द योग-ज्ञानादि मार्गोंके साधकोंके अरसवित्व, कौटिल्य, दाम्भिकत्व और स्वार्थमात्र-साधनत्वका व्यंजक है—'अतएव बडिश शब्देन काठिन्यम, अरसवित्वम् कौटिल्यम् दाम्भिकत्वम् स्वार्थमात्र-साधनत्वम् च व्यञ्जितम् ॥'[1] जिस प्रकार बड़िशके लौहको या पत्थरको जल स्पर्शमात्र करके उसपरसे बह जाता है. उसमें प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार इन लोगोंमें जो चित्त-द्रव और पुलकादि होते हैं, वह उनके मर्मस्थल पर कोई स्थायी प्रभाव डाले बिना उसे बाहरसे ही छूते हुए निकल जाते हैं। उनका हृदय पहले जैसा ही कठिन बना रहता है। जलाशयमें सूर्यका प्रतिबिम्ब जिस प्रकार सूर्यका आभास होता है और उसके लक्षण (उज्ज्वलतादि) सूर्यके लक्षणोंका आभास होते हैं, उसी प्रकार इनकी भगवत्-प्रीति प्रीतिका आभासमात्र होती है और उनमें जो चित्तद्रव, पुलक और रोमाञ्चादिके लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, वह प्रीतिके लक्षणोंका आभासमात्र होते हैं।

प्रीतिच्छबिमात्रका सामयिक उद्भव—जिनका लक्ष्य भगवत्-प्रीति नहीं होता, पर योगी और ज्ञानियोंकी तरह कैवल्य-कामना भी जिनमें नहीं होती, ऐसे लोगोंको जब कृष्णके सर्वचित्ताकर्षक गुणोंका ज्ञानमात्र होता है, उनके हृदयको जब कृष्णके गुण स्पर्शमात्र करते है, पर उनकी वास्तविक उपलब्धि नहीं होतो, तो उनके हृदयमें भगवत्-प्रीतिकी छबि या दोप्तिका सामयिक उद्भवमात्र होता है।[2] दीप्ति और दीप्तिमान् वस्तु सभी प्रकारसे एक नहीं होते, यद्यपि दोप्ति होती है दीप्तिमान् वस्तुकी ही; सूर्य और उसकी किरणोंका प्रकाश सब प्रकारसे एक नहीं होता, यद्यपि वह प्रकाश सूर्यका ही प्रकाश और उससे अभिन्न होता है। इसी प्रकार प्रीतिकी छबि या दीप्ति वास्तविक प्रीति नहीं होती, पर उसीका प्रारम्भिक प्रकाश होती है। यह उसका अभासमात्र नहीं होती। यदि यह वास्तविक प्रीति होती तो इसका केवल सामयिक उद्भव न होता। भगवत्-प्रीतिका स्वाभाविक नियम है कि इसके एकबार भी हृदयमें उदय होनेसे साधककी प्रीति-रसमें तन्मयता सदा बनी रहती है। प्रीतिका सम्यक् आविर्भाव उपरोक्त प्रकारके लोगोंमें इसलिये नहीं होता कि भगवत्-प्रीति उनका लक्ष्य ही नहीं होता।

प्रीतिकी प्रथमोदयावस्था—जिन लोगोंका निश्चित लक्ष्य भगवत्-प्रीति होता है, जिनकी भगवच्चरणोंमें अनुरक्ति अन्यासक्तिको लगभग

---

१. वही

२. वही

समाप्त कर देती है, पर दैवात् किञ्चित् अन्यासक्ति रह जाती है, जो भी नष्टप्राय और शीघ्र समाप्त होजानेवाली होती है, उनमें प्रीतिकी प्रथमोदयावस्था होती है। उनमें भगवत्-प्रीति ही मुख्य होती है, अन्यासक्ति गौण और दैवात् होती है।

सम्यक् आविर्भाव

जिन लोगोंका लक्ष्य भगवत्-प्रीति होता है और जिनमें अन्यासक्ति बिलकुल नहीं होती, उनमें प्रीतिका सम्यक् आविर्भाव होता है।

प्रीतिकी प्रकटोदयावस्था—किसी-किसी भक्तमें भगवत्-प्रीतिके साथ अन्य विषयोंमें भी अभिनिवेश देखनेमें आता है; जैसे प्रियव्रतका भगवान्में परम आवेश था, पर गृह-पुत्र-पत्नी आदिमें भी अभिनिबेश था।[1] परन्तु जिनका भगवान्में आवेश होता है, उनका अन्य विषयोंमें वास्तविक आवेश नहीं होता। अन्य विषयोंमें उनका आवेश आवेशका आभासमात्र होता है। प्रियव्रतका अन्य विषयोंमें आवेशका आभासमात्र था, यह इस बातसे सिद्ध है कि अन्य विषयोंमें आवेश होनेपर भी उनकी भगवान्में भक्ति अविचला थी और उन्होंने गृह आदिमें आवेशके लिये अपने-आपको धिक्कारा था।[2] श्रीजीवगोस्वामीने अगस्त्य और नारदादिके उदाहरणसे भी इस बातको सिद्ध किया है कि भगवद्भक्तोंमें अन्यावेश सम्भव नहीं है, अन्यावेशका आभासमात्र सम्भव है। नारद और अगस्त्य मुनिमें क्रोधका जो आवेश दीखता है, वह क्रोधके आवेशका आभासमात्र है, क्योंकि क्रोधके आवेशसे उनकी भक्तिमें कोई अन्तर नहीं पड़ा और उनके क्रोधके परिणाम-स्वरूप किसीका अमंगल न होकर मंगल ही हुआ। अगस्त्यके अभिशापसे राजा इन्द्रद्युम्नको भगवद्दर्शन हुआ, नारदके अभिशापसे नलकुबर-मणिग्रीवको कृष्ण-दर्शन और कृष्ण-भक्तिकी प्राप्ति हुई। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने भा. ५।१।५ श्लोककी टीकामें लिखा है कि भक्तोंमें अन्तराय कभी-कभी भगवत्-इच्छासे भी उत्पन्न होते हैं भक्तोंको सदाचारकी शिक्षा देनेके लिये या उनका प्रेम-वर्धन करनेके लिये। यह अन्तरायका आभासमात्र होते हैं। जिन भक्तोंमें भगवत्-चरणोंमें आसक्तिके होते हुए अन्यासक्तिका आभास होता है, उनमें प्रीतिको प्रकटोदयावस्था होती है।

---

१. भा. ५।१।१-४

२. भा. ५।१।३७

प्रीतिका दर्शित-प्रभाव आविर्भाव—जिन भक्तोंमें अन्य-अभिनिवेश का आभास भी नहीं होता, उनमें प्रीतिके दर्शित-प्रभावका आविर्भाव होता है—'अथ दर्शित प्रभावास्तदाविर्भावास्तु श्रीशुकदेवादिषु द्रष्टव्याः'।[१] उनमें प्रीति ऐसे प्रभावका प्रदर्शन करती है कि उनमें सुख-दुःख या किसी प्रकारके अन्तरायकी तो बात ही क्या, उसके आभासकी भी कोई सम्भावना नहीं रहती।

प्रीतिके आविर्भावके साथ भगवान् और भक्तमें तदनुरूप स्वभाव और अभिमानका जागरण

प्रीतिका कार्य है एकमात्र भगवान्की प्रीतिके लिये ही उनकी सेवा। सेवा तभी सम्भव है, जब भगवान्में सेव्यका स्वभाव और भक्तमें सेवकका अभिमान हो। प्रीति स्वयं भक्त-हृदयमें उदय होते ही उसमें सेवक अभिमान —मैं भगवान्का अनुग्राह्य हूँ—यह अभिमान और भगवान्में सेव्यका स्वभाव अर्थात् मैं भक्तका अनुग्राहक हूँ, यह स्वभाव, जगा देती है। यह कार्य होता है साधुसंग या साधुकृपाको उपलक्ष्य करके। साधक जिस साधुका संग करता है, उसमें एक विशेष प्रकारकी भगवत्-प्रीतिका विकास हुआ होता है। साधकमें भी उसके संग या कृपाके प्रभावसे उसी जातिकी प्रीतिका आविर्भाव होता है। साधकके हृदयमें आविर्भूता-प्रीति ही भगवान्में तदनुरूप अभिमान जगा देती है।[२]

भगवत्-प्रीतिके विभिन्न स्तर

प्रीतिका प्रथम आविर्भाव या 'प्रीत्यांकुर' है रति। रति गाढ़ताको प्राप्तकर क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव की अवस्थाको प्राप्त होती है, वैसे ही जैसे गन्नेका बीज क्रमशः गन्ना, रस, गुड़, खाँड़, शक्कर, चीनी, मिसरी और उत्तम मिसरी होजाता है—

साधन-भक्ति हैते हय 'रतिर' उदय।
रति गाढ़ हैले तार प्रेम नाम कय॥

---

१. प्री. स. ७८

२. प्री. स. ८४

प्रेम वृद्धिक्रमे नाम-'स्नेह', 'मान', 'प्रणय'।
'राग', 'अनुराग', 'भाव', 'महाभाव' हय ।।
जैछे बीज, इक्षु, रस, गुड़, खण्डसार।
शर्करा, सिता, मिश्रि, उत्तममिश्रि आर ।।[1]

श्रीरूपगोस्वामीने भाव और महाभावको अभिन्न माना है। हम भी उन्हींका अनुसरण करेंगे।

रति

रति या भाव है शुद्धसत्वस्वरूपा भगवान्‌की स्वरूप-शक्तिकी ह्लादिनी और संवित् वृत्तियोंका सार। ह्लादिनीका सार होनेके कारण यह आनन्दरूपा है और संवित्का सार होनेके कारण यह भगवान्‌को प्रकाशित करती है, उनका ज्ञान या अनुभव कराती है। इसमें ह्लादिनीकी प्रधानता है, इसलिये इसे ह्लादिनी-प्रधाना स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति कहते हैं। ह्लादिनीकी वृत्ति होनेके कारण यह नित्यसिद्ध वस्तु है, जो साधनके फलस्वरूप भक्तके हृदयमें उदित होती है। यह प्रेमरूपी सूर्यकी किरण है। सूर्यके उदय होनेके पूर्व जिस प्रकार उसकी किरणोंका विस्तार होता है और किरणोंका विस्तार होते ही जान लिया जाता है कि सूर्य उदय होने वाला है, उसी प्रकार यह प्रेमकी प्रथम अवस्था है, साधकके हृदयमें आविर्भूत होनेवाले प्रेमका पूर्वाभास है।

ऊपर रतिका स्वरूप-लक्षण कहा गया है। इसका तटस्थ लक्षण यह है कि इसके हृदयमें उदय होते ही साधक जो कुछ करता है केवल भगवान्‌के लिये करता है, क्योंकि अन्य विषयोंसे उसे विरक्ति होजाती है और भगवत्-विषयोंमें रुचि होजाती है। भगवान्‌के लिये तरह-तरहकी अभिलाषाओंका उसके हृदयमें स्फुरण होता है—उनका दर्शन करनेकी अभिलाषा, उनके साथ सौहार्द स्थापित करनेकी अभिलाषा, तरह-तरहसे उनका आनुकूल्य करनेकी अभिलाषा आदि। इसके फलस्वरूप उसका हृदय द्रवित होता है और अश्रु-पुलकादि सत्विक भावोंका अल्प-परिमाणमें उदय होता है। निर्वेद, विषाद, दैन्यादि संचारो भाव उसे इस प्रकार घेर लेते हैं कि बाहरसे

---

१. चै. च. २।१६।१५१-५२

उसका जीवन दुःखमय जान पड़ता है, पर उसका हृदय सदा आनन्दसे भरपूर रहता है।

श्रीरूप गोस्वामीने रतिके स्वरूप और तटस्थ लक्षणोंको इस प्रकार व्यक्त किया है—

"शुद्धसत्व विशेषात्मा प्रेम सूर्यांशु साम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥

—शुद्ध सत्व विशेष-स्वरूपा, प्रेमरूप सूर्यकी किरणोंके समान जो प्रीति रुचि द्वारा चित्तको द्रवित करती है, उसे रति कहते हैं।"

रतिका उदय साधारण रूपसे होता है साधनमें अभिनिवेशके फल-स्वरूप, परन्तु कभी-कभी बिना किसी साधनके यकायक कृष्ण या कृष्ण-भक्त की कृपासे भी होजाता है।[1] जिस साधकमें रतिका उदय होजाता है, उसे जातरति भक्त कहते हैं। जातरति भक्तके लक्षण श्रीरूपगोस्वामीने इस प्रकार बताये हैं—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नाम गाने सदा रुचिः ॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने ॥

इनमेंसे प्रत्येकका संक्षिप्त विवरण दे देना ठीक होगा, जो इस प्रकार है—

क्षान्ति—क्षोभका कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तके क्षुब्ध न होने को कहते हैं क्षान्ति।[2] जिसमें रतिका उदय होजाता है उसका चित्त शत-शत विपदाओंके आनेपर भी विचलित नहीं होता। श्रीवास पण्डितके आँगन में महाप्रभु सपरिकर कीर्तन कर रहे थे। उसी समय उनके पुत्रकी मृत्यु हो गई। परन्तु वे तनिक भी विचलित न हुये और ऐसी व्यवस्था की जिससे किसीको इस घटनाका पता न चले और कीर्तनमें विघ्न न पड़े। स्वयं भी आनन्दपूर्वक कीर्तन करते रहे। महाराज परीक्षितने मृत्युको निश्चित जान कर भी एकत्रित विप्रगणोंसे कहा—"हे विप्रगण! मैं आपके शरणागत हूँ।

१. भ. र. सि. १।३।५
२. चै. च. २।२३।११

मैंने भगवान्‌में चित्त धारणकर लिया है। तक्षक भले ही आकर मुझे दंशन करे, मुझे इसकी चिन्ता नहीं। आप लोग विष्णु-गाथाका गान करें।"

मानशून्यता—मानशून्यताका अर्थ है सर्वोत्तम होते हुए भी अपनेको हीन और सम्मानके अयोग्य जानना। भरत चक्रवर्ती राजा थे। पर रतिका उदय होनेपर उन्होंने राजत्वको त्यागकर भिक्षावृत्तिका अवलम्बन किया और चाण्डाल तकको अपनेसे श्रेष्ठ मानकर उसका सम्मान किया।

आशाबन्ध—भगवत्-प्राप्तिकी दृढ़ सम्भावनाको आशाबन्ध कहते हैं—"आशाबन्धो भगवत: प्राप्ति सम्भावना दृढ़।"[१] जातरति साधक अपनेको हीन और अयोग्य जानते हुए भी दृढ़ विश्वास रखता है कि प्रभु अपने करुण स्वभावके कारण उसपर कृपा अवश्य करेंगे।

समुत्कण्ठा—जातरति भक्तमें अपने अभीष्टकी प्राप्तिका गुरुतर लोभ होता है, जिसका नाम है समुत्कण्ठा—"समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरु-लुब्धता।"[२]

नाम-गानमें सदा रुचि—जातरति भक्तकी नाम-कीर्तनमें विशेष रुचि होती है। वह सभी अवस्थाओंमें नाम-कीर्तन करनेमें आनन्दका उपभोग करता है।

भगवदगुणाख्यानमें आसक्ति—श्रीकृष्णके माधुर्यादि गुणोंके वर्णनमें भी जातरति भक्तकी आसक्ति होती है।

भगवद्वसति स्थलमें प्रीति—भगवानके लीलास्थलके प्रति जातरति भक्तकी प्रीति होती है। उसके दर्शनकी, उसको महिमाका श्रवण और कीर्तन करनेकी तथा उसमें वास करनेकी उसमें सदा उत्कण्ठा रहती है।

"कदाहं यमुनातीरे नामानि तव कीर्तयन्।
उद्बाष्प: पुण्डरीकाक्ष रचयिष्यामि ताण्डवम्॥

—हे पुण्डरीकाक्ष! कब मैं यमुना तीरपर सजल-नयन होकर तुम्हारी नामावलीका कीर्तन करते-करते नृत्य करूँगा?"

यह भगवान्‌के लीलास्थलमें प्रीतिका परिचायक एक श्लोक है।

---

१. भ. र. सि. १।३।१६

२. वही

रतिके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाले यह लक्षण भी प्रीतिके तटस्थ लक्षण हैं।

रति भागवती प्रीतिकी तरल अवस्था है। इसमें अपराधके कारण उत्पन्न अनर्थोंकी प्रायकी निवृत्ति ही होती है, पूर्णा निवृत्ति नहीं होती। पूर्णा निवृत्तिके पश्चात् भी फिर अनर्थ उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है।[1] इसलिये जातरति भक्तमें तो यह सम्भावना रहती ही है। परन्तु यदि उसमें दुराचार दीखे तो उसकी (दुराचारकी) उपेक्षा ही करनी चाहिये, क्योंकि यह उसके अपराध-जात अनर्थके कारण नहीं होता, यह होता है उसके प्रारब्धके कारण। जातरति भक्तकी जीवनमुक्त अवस्था होती है। उसके प्रारब्ध व्यतीत और सब कर्म ध्वंस होजाते हैं। प्रारब्ध भी उसमें भुने हुए धानके समान या दांत निकाले हुये सर्पके समान रहता है, जो कोई फल या प्रभाव उसके ऊपर विस्तार करनेकी स्थितिमें नहीं होता। ऐसे प्रारब्धके फलस्वरूप जातरति भक्तमें जो दुराचार हाता है, वह उसकी गुणमयी इन्द्रियों द्वारा ही होता है; वह स्वयं न उसमें लिप्त होता है न उसमें उस प्रकारके कर्मकी प्रवृत्ति ही होती है।

प्रेम

भाव या रति जब गाढ़ता प्राप्त करती है और उसके फलस्वरूप चित्त सम्यक्‌रूपसे द्रवित और श्रीकृष्णमें अतिशय ममता-सम्पन्न होता है, तो उसे प्रेम कहते हैं—

सम्यंम सृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥[2]

गाढ़ता या सान्द्रता है प्रेमका स्वरूप-लक्षण और श्रीकृष्णमें अतिशय ममता है उसका तटस्थ-लक्षण। प्रेम-लक्षणा भक्तिमें ममताकी प्रधानताके कारण हो नारद पञ्चरात्रमें 'अनन्यममता विष्णो'—इत्यादि श्लोकमें अन्य विषयों में ममता रहित श्रीकृष्ण-प्रेम संप्लूता ममताको ही भक्ति कहा है।

प्रेम सदा श्रीकृष्णसुख-तात्पर्यमय होता है। उसमें स्वसुख-वासनाका नितान्त अभाव होता है। इसलिये ध्वंस होनेका कारण उपस्थित रहनेपर भी उसका ध्वंस नहीं होता—

---

१. जब तक आत्यन्तिकी निवृत्ति न हो जाय अनर्थ उत्पन्न होनेकी संभावना रहती है। आत्यन्तिकी निवृत्ति श्रीकृष्ण-चरण लाभ होनेपर होती है।

२. भ. र. सि. १।४।१

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे ।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः ।।[1]

चन्द्रावली जानती हैं कि राधाके प्रति श्रीकृष्ण अत्यधिक अनुरागवान हैं और श्रीकृष्ण जानते हैं कि राधा चन्द्रावलीसे रूप, गुण और वैदग्ध्यादि में शतगुणा श्रेष्ठ हैं, फिर भी दोनोंके प्रेम-बन्धनमें शिथिलता नहीं आती ।

प्रेमरस-वैचित्री सम्पादनके लिये लीला-शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रेमकी सृष्टि करती हैं । जिस व्यक्तिमें जिस जातिका प्रेम होता है, उसमें उसी जातिका प्रेम सदा बना रहता है । उसकी जाति या लक्षणोंमें परिवर्तन नहीं होता, केवल उसकी गाढ़तामें वृद्धि होती है । भागवती-प्रीतिके मुख्य प्रकार शान्त, दास्य, सख्यादि जिन्हें स्थायी भाव कहते हैं, उनका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं ।

स्नेह

साधकके यथावस्थित देहमें प्रेमसे ऊपरके स्तर स्नेह-मान-प्रणयादि का आविर्भाव सम्भव नहीं है । रागानुगा साधनका जातप्रेम भक्त जब भौतिक देह त्यागकर ब्रह्माण्डमें प्रकटित श्रीकृष्णके प्रकट लीला-स्थानमें चिन्मय देहसे जन्म ग्रहण करता है, तब वह अपने भावानुकूल श्रीकृष्णके नित्यसिद्ध परिकरोंका संग करता है और उनके मुखसे श्रीकृष्ण-कथादि सुनता है, जिसके फलस्वरूप उसका प्रेम स्नेह-मानादिके स्तरोंपर उन्नीत होता है ।

प्रेम जब गाढ़ताको प्राप्तकर चिद्दीपदीपन होता है, अर्थात् प्रेमके विषय (श्रीकृष्ण) की उपलब्धिरूप दीपको उद्दीप्त करता है और हृदयको पहलेसे भी अधिक द्रवित करता है,तो उसे स्नेह कहते हैं ।[2] प्रेम भी श्रीकृष्ण की उपलब्धि कराता है, पर स्नेहमें श्रीकृष्णकी उपलब्धि और अधिक होती है । प्रेमकी उपलब्धिकी तुलनामें स्नेहकी उपलब्धि अधिक उज्ज्वल भी होती है । स्नेहमें कृष्ण-दर्शनसे तृप्ति नहीं होती, दर्शनकी पिपासा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है ।

---

१. उ. नी., स्थायि, ४६

२. उ नी., स्थायि, ५७

स्नेहके दो भेद हैं—घृत-स्नेह और मधु-स्नेह।

घृतस्नेह—घृतस्नेह आदरमय है। परस्पर आदरका भाव उसे एक प्रकारका शीतलत्व प्रदान करता है, जिसके कारण वह स्वभावसे घृतके समान गाढ़ता प्राप्त किये रहता है। इसलिये वह अपनेसे अपनी स्वादुता उद्रिक्त करनेमें असमर्थ रहता है। जिस प्रकार घृतका स्वाद शक्करके संयोग से उद्रिक्त होता है, उसी प्रकार घृतस्नेहका स्वाद मदरूप उष्णता या मधु-स्नेहाभास मिलित होनेसे उद्रिक्त होता है।[1] घृतस्नेह तदीयता भावमय है, मधुस्नेह मदीयता भावमय है। चन्द्रावलीका स्नेह घृतस्नेह है, राधाका मधु-स्नेह। चन्द्रावलीका भाव है—"मैं श्रीकृष्णकी हूँ", राधाका भाव है—"श्रीकृष्ण मेरे हैं"। घृतस्नेहमें यत्किञ्चित् मदीयतामय भाव रहता है, पर वह तदीयतामय भावकी प्रधानताके कारण उससे आवृत रहता है; मधुस्नेह में यत्किञ्चित् तदीयतामयभाव वर्तमान रहता है, पर वह मदीयतामय भावकी प्रधानताके कारण उससे आवृत रहता है।

मधुस्नेह—जिस स्नेहमें मदीयतामय भावकी प्रधानता होती है, उसे मधुस्नेह कहते हैं। मधुस्नेहका माधुर्य अपने-आप ही प्रकटित होता है।[2] मधुमें जिस प्रकार सूक्ष्मरूपसे नाना प्रकारके फूलोंका रस वर्तमान रहता है, उसी प्रकार मधुस्नेहमें सूक्ष्मरूपसे नानाविध रसोंका समावेश होता है। मधुमत्तता और उष्माका संचार करता है; मधुस्नेह भी आनन्दाधिक्यरूप मत्तता और गर्व तथा उत्कण्ठारूप ऊष्मा जन्माता है। मधुस्नेहघन-प्रतिमा-रूप राधा मदीयतामय भावके कारण श्रीकृष्णको अपना जानकर उनके आनुकूल्यके लिये बलवती उत्कण्ठाको ऊष्मासे द्रवित रहती हैं। राधाके स्नेहकी स्वतः स्फूर्त उत्कण्ठाकी ऊष्मा उनके स्वतःस्फूर्त माधुर्यका हेतु है। चन्द्रावलीका तदीयता भावमय स्नेह और राधाका मदीयता भावमय स्नेह श्रीकृष्णपर जिस प्रकारका प्रभाव विस्तार करते हैं, उससे इन दोनोंका अन्तर स्पष्ट होजाता है। चन्द्रावलीको दूरसे देखकर कृष्ण आदरपूर्वक अपने स्थानसे उठकर आते हैं और उनका आलिंगनकर सुखी होते हैं,[3] पर 'राधा' नाममात्रके कर्णरन्ध्रमें प्रवेश करते ही वे निबिड़ आनन्दका अनुभवकर जगत्

---

१. उ. नी. म. स्थायि, ६३-६४

२. वही, ६८-६९

३. वही, ६५

को भूल जाते हैं।[1] चन्द्रावली और राधाके श्रीकृष्णके प्रति व्यवहारसे भी उनके स्नेहका अन्तर स्पष्ट होता है। चन्द्रावली श्रीकृष्णके प्रति अपनी गौरवबुद्धिके कारण उनके बगलमें आनेसे संकोच करती हैं और उनके अंगसे अपना पादस्पर्श होनेसे भीत होती हैं। पर राधाको मदीयतामय भावके कारण इस प्रकारका संकोच या भय कुछ नहीं होता।

मान

जब स्नेह गाढ़त्व प्राप्तकर चित्तको और अधिक द्रवित करते हुए तथा नूतन माधुर्यका आस्वादन कराते हुए स्वयं अदाक्षिण्य (कौटिल्य) धारण करता है, तो उसे मान कहते हैं।[2] भीतर प्रचुर आनन्द और बाहर कौटिल्य-बाम्य, वक्र व्यवहार है मानका प्रधान लक्षण।

उज्ज्वल नीलमणिमें मानका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—राधा श्रीकृष्णके साथ वन-विहार कर रही थीं। उस समय श्रीकृष्णके प्रति उनका स्नेह और अधिक गाढ़त्व प्राप्तकर उनके माधुर्यका नूतन रूपमें आस्वादन कराने लगा। फलस्वरूप उनका चित्त अत्यधिक द्रवित होगया और उनके नेत्रोंसे अश्रुधार बहने लगी। चित्त द्रवताको गोपन करनेके लिये वे श्रीकृष्णसे कहने लगीं—'हे गोवीर ! दूर चरते हुए तुम्हारे उस गो-समूह की पद-धूलि नेत्रोंमें पड़ जानेके कारण मेरे नेत्रोंसे अश्रुधार प्रवाहित होरही है।' श्रीकृष्णने यह कहकर कि 'मैं फूँक मारकर तुम्हारे नेत्रोंको शीतल किये देता हूँ' जैसे ही फूँक मारना प्रारम्भ किया, राधा बाहरसे कौटिल्य धारण करते हुए श्रीकृष्णके प्रेमको कपट-प्रेम बतलाकर उनका तिरस्कार करनेका भाव दिखाते हुए, बोलीं—'रहने दो, रहने दो, तुम्हारे मुखकी वायु से (अर्थात् तुम्हारे मौखिक प्रेमसे) क्या होना है ?', और इतना कह उन्होंने अपनी सुन्दर भ्रकुटि तान ली।

मान दो प्रकारका है—उदात्तमान और ललितमान। घृतस्नेह गाढ़त्व प्राप्तकर उदात्तमानमें परिणत होता है; मधुस्नेह गाढ़त्व प्राप्तकर ललितमान में परिणत होता है।

शंका हो सकती है कि जब श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी और उनका सब प्रकारसे आनुकूल्य करनेकी बलवती लालसा हो भागवती-प्रीतिका सार

---

१. वही, ७०

२. वही, ७१

है, तो उसमें यह प्रतिकूल भाव कैसा ? इसका उत्तर यह है कि सर्पकी गति के समान प्रीतिकी गति भी स्वभावतः कुटिल है—"अहेरिव गतिः प्रेमणः स्वभाव कुटिला भवेत् ।"[1] जिस प्रकार कौटिल्य प्रीतिका स्वभाव है, उसी प्रकार आनन्ददातृत्व भी प्रीतिका स्वभाव है। इसलिये प्रीतिका कौटिल्य भी श्रीकृष्णको आनन्दित करता है। भ्रकुटि जिस प्रकार राधाकी शोभा वर्धन करतो है, उससे श्रोकृष्णको अतिशय आनन्दका अनुभव होता है।

प्रणय

मान जब गाढ़ता लाभकर विश्रम्भ धारण करता है, तब उसे प्रणय कहते हैं।[2]

'विश्रम्भ' शब्दका अर्थ है विश्वास या सम्भ्रमराहित्य। श्रीजीव-गोस्वामीने कहा है— "विश्रम्भः प्रियजनेन सह स्वस्याभेदमननम्—प्रियजनों के साथ अपना अभेद-ज्ञान ही है विश्रम्भ।" श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि "अपने प्राण, मन, बुद्धि, देह और परिच्छदादिकी कान्त (प्रिय) के प्राण, मन, बुद्धि, देहादिसे ऐक्यकी भावना से ही इस प्रकारका सम्भ्रमराहित्य उत्पन्न होता है।" निश्चय ही यह ऐक्य सायुज्य मुक्ति चाहने वाले व्यक्तियोंके जीव ओर ब्रह्मके ऐक्यमें भावना जैसा नहीं है, क्योंकि उस प्रकारके ऐक्यमें प्रीतिकी सम्भावना ही नहीं है। यह प्रीति-जन्य ऐक्य है, ज्ञान-जन्य ऐक्य नहीं। प्राण-मन-आदिके ऐक्यकी भावना का अर्थ है प्रिय व्यक्तिके प्राण-मन-आदिको अपने ही प्राण-मन-आदि मानना —अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये जैसी व्यग्रता होती है, वैसी ही प्रियके प्राणों की रक्षाके लिये व्यग्रताका होना; अपने मनको जिसमें सुख-दुःखकी प्रतीति होती है, उसमें प्रियके मनको भी सुख-दुःखकी अनुभूति होती है, अपनी बुद्धिको जो वस्तु जैसी लगती है, प्रियकी बुद्धिको भी वह वैसी लगती है, अपनी देहमें जिससे सुख-दुःख होता है, प्रियकी देहमें भी उससे सुख-दुःख होता है—ऐसी भावना करना; अथवा अपने देहमें जिस प्रकार अपना पद-स्पर्श होनेसे संकोच नहीं होता, उसी प्रकार प्रियके देहमें अपना पदस्पर्श होनेसे किसी प्रकारका संकोच न होना। संकोचका अभाव ही है प्रणय। इसीलिये श्रीकृष्णके सखा उनके कन्धे चढ़नेमें संकोच नहीं करते और राधा

1. उ. नी., मान, ४२
2. वही, स्थायि, ७८

श्रीकृष्णके उनके चरणोंमें लोटनेपर संकोच नहीं करतीं। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि शारदीय रासस्थलीसे अन्तर्धानके समय श्रीकृष्ण जिस गोपीको साथ ले गये थे, उसने बिना संकोचके उनसे कहा था—"अब मुझसे चला नहीं जाता। तुम मुझे वहनकर जहाँ इच्छा हो ले चलो।"[1] यह भी प्रणय के विश्रम्भका एक उदाहरण है।

राग

प्रणय उत्कर्ष धारणकर जब दुःखका सुख रूपमें अनुभव कराता है, तो उसे राग कहते हैं।[2] रागकी अवस्थामें वह दुःख जिसे अंगीकार करनेमें श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी सम्भावना होती है, परम सुखकी तरह प्रतीत होता है, और वह सुख जिसे वरण करनेमें कृष्ण-प्राप्तिकी सम्भावना नहीं रहती, परम दुःख जैसा प्रतीत होता है।

उज्ज्वल नीलमणिमें रागका एक उदाहरण इस प्रकार है। श्रीकृष्ण गोचारणको गये हैं। श्रीराधा आदि व्रजसुन्दरियाँ भी श्रीकृष्णके दर्शनके लिये गोवर्धनके निकट गयी हैं। श्रीकृष्ण गिरिगोवर्धनके उस पार हैं। श्रीराधिका गोवर्धनपर चढ़कर श्रीकृष्ण-दर्शन कर रही हैं। ज्येष्ठ मासके मध्याह्न-सूर्यकी किरणोंसे पर्वत अग्निके समान तप रहा है, जिससे उनके चरण-कमल झुलस रहे हैं; ऊँचे-नीचे पत्थरोंकी तीक्ष्ण और नोकीली धारें उन्हें क्षत-विक्षत कर रही हैं। पर उन्हें इसका कुछ भी अनुभव नहीं होरहा है। श्रीकृष्ण-दर्शन-जनित आनन्दरससे उनका शरीर एड़ीसे चोटी तक परिसिञ्चित होजानेके कारण कोटि चन्द्रमाओंके समान सुशीतल और रुई के समान हलका होगया है। फिर उनके चरणोंके झुलसने और क्षत-विक्षत होनेकी सम्भावना ही कहाँ है?[3]

अनुराग

राग गाढ़त्व प्राप्तकर जब स्वयं नयी-नयी वैचित्री धारण करता है और प्रियका नये-नये रूपमें अनुभव कराता है, तो उसे अनुराग कहते हैं।[4]

---

१. भा. १०।३०।३७

२. उ. नी., स्थायि, ८४

३. वही, स्थायि, ८४

४. वही, स्थायि, १०२

अनुराग श्रीकृष्णके रूप-गुण-माधुर्यादिका प्रतिक्षण नये और पहलेसे उत्कृष्ट रूपमें अनुभव कराता है, जिससे लगता है कि जैसे उन्हें पहली बार देखा हो। अनुरागवती राधा ललितासे कहती हैं—"हे सखी! 'कृष्ण'—इन दो अक्षरोंने मेरे कानमें प्रवेश करते ही मेरा धैर्य लूट लिया है। यह कृष्ण कौन हैं?" ललिता कहती हैं—"हे रागान्धे! यह तू क्या कह रही है? तू सदा ही तो कृष्णके वक्ष:स्थलपर क्रीड़ा करती है।" राधा फिर कहती हैं—"सखी! हास्य क्यों करती है? ऐसी असम्भव बात क्यों कहती है?" तब ललिता कहती हैं—"मोहिते! मैंने अभी ही तो तुझे कृष्णके हाथोंमें सौंपा था। तू क्या इतनी जल्दी भूल गयी?" ललिताकी बात सुन राधाको कृष्णसे अपने मिलनकी सुधि आती है और वे कहती हैं—"सखी! तू ठीक कहती है। पर मुझे लग रहा था कि जैसे मैंने कृष्णको अभी ही देखा हो, और वह भी विद्युतके समान केवल एक क्षणके लिये।"[1]

अनुराग अपने विचित्र प्रभावके कारण नायक और नायिकामें जिन क्रियाओंका विस्तार करता है वे इस प्रकार हैं—

(क) परस्पर वशीभाव—प्रेममें नायक और नायिकाका परस्पर वशीभाव रहनेपर भी लज्जा और अवहित्था (मनोभाव गोपन करनेकी चेष्टा) के कारण नायिकाका वशीभाव उतना प्रकाश नहीं पाता। अनुरागमें तृष्णा अधिक होनेके कारण लज्जा आदिके लिये कोई स्थान नहीं रहता।

उज्ज्वल नीलमणिमें इसका उदाहरण इस प्रकार है। राधा और कृष्ण एक-दूसरेसे मिलनेकी बलवती उत्कण्ठा लिये एक दूसरेको खोजते-खोजते किसी कुंज-पथपर मिलनेपर आनन्द विभोर होजाते हैं। उसी समय अकस्मात कुन्दलता वहाँ आजाती है और उनका नवोच्छलित माधुर्य देखकर विस्मयपूर्वक कहती है—'हे अघदमन! तुम और राधा एक दूसरेको वशीभूत करनेके लिये आज जिस संरम्भलहरी (परस्परके लज्जा-संकोच-रहित दर्शन-स्पर्शन-चुम्बनादिसे उत्पन्न परमाविष्टता) का विस्तार कर रहे हो, वह अपूर्व है। राधाने अपनी अनुराग-शृङ्खलासे तुम्हारे मनोरूप हस्तीको बाँध लिया है, और तुमने अपने प्रेमोत्सवरूप नयी रज्जूसे राधाके मनोरूप हिरनको बाँध लिया है।"[2]

---

१. वही, स्थायि, १०४

२. वही, स्थायि, १०६

(ख) प्रेमवैचित्त्य—प्रेमके उत्कर्षके कारण प्रियके सन्निधानमें रहकर भी उससे विच्छेदके भयसे जो आर्ति होती है, उसका नाम है प्रेम-वैचित्त्य (प्रेम-जनित विचित्तता या चित्तका अन्यथा-भाव)।[1] ऐसी अवस्थामें प्रेमिका श्रीकृष्णसे सम्बन्धित किसी एक विषयकी चिन्तामें इतना तन्मय हो जाती है कि कृष्ण-सम्बन्धित अन्य विषयकी बात भी उसके मनमें स्फुरित नहीं होती, यहाँ तक निकट उपस्थित कृष्णका भी भान उसे नहीं होता।

उज्ज्वलनीलमणिमें दिये दृष्टान्तके अनुसार एकबार श्रीकृष्ण और मधुमंगलके समीप बैठी राधा अपने मुखकमलपर मण्डराते भ्रमरको हटा रही थीं। मधुमंगलने कहा—"मधुसूदन (भ्रमर) चला गया।" प्रेमोत्कर्षके प्रभावसे राधाने समझा मधुसूदन अर्थात् श्रीकृष्ण चले गये। उनकी समस्त चत्तवृत्ति श्रीकृष्णके अन्यत्र गमनपर इस प्रकार केन्द्रित होगयीं कि वे पासमें बैठे श्रीकृष्णको भी न देख सकीं और उनके विरहमें आर्तनाद करने लगीं।

(ग) प्राणहीन वस्तुके रूपमें जन्म लेनेकी लालसा—अनुरागमयी गोपियाँ श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी सम्भावनासे प्राणहीन वस्तुके रूपमें भी जन्मग्रहण करनेकी लालसाका पोषण करती हैं। उज्ज्वलनीलमणिमें 'दानकेलिकौमुदी' का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें श्रीराधा ललितासे कहती हैं—"हे कृशोदरि ! हम वेणु जातिमें जन्म ग्रहण करनेके लिये तपस्या करेंगी। वेणु जातिका जन्म ही सब जन्मोंमें श्रेष्ठ है। देखो न, मुरली किसी तपस्याके फल से मुरारीके विम्बाधरसे लगी रहकर उनका कैसा आस्वादन करती है।"[2]

(घ) विप्रलम्भमें विस्फूर्ति—अनुरागकी अवस्थामें श्रीकृष्णके विरह में भी उनकी सर्वत्र विस्फूर्ति होती है। उस विस्फूर्ति (विशिष्ट स्फूर्ति) में साक्षात् दर्शनकी तरह श्रीकृष्णके दर्शन होते हैं। राधाको जब कृष्ण-विरहमें इस प्रकारकी विस्फूर्ति होती है, तब वे उन्हें आलिंगन करनेके लिये दौड़ता हैं। बांह बढ़ाते ही विस्फूर्ति भंग होजाती है और उनकी विरह-वेदना दूनी होजाती है।

भाव या महाभाव

अनुराग स्वसम्वेद्य दशाको प्राप्तकर प्रकाशित और यावदाश्रयवृत्ति हो तो उसे भाव या महाभाव कहते हैं।[3] महाभावके लक्षण हैं—

---

१. वही, प्रेमवैचित्त्य, ५७

२. उ. नी. स्थायि, १०७

३. वही, स्थायि, १०९

(क) स्वसम्वेद्य दशा—अनुरागके उत्कर्षसे श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादनमें उत्कर्ष होता है और श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादनसे अनुरागमें उत्कर्ष होता है। इस प्रकार गोपियोंके अनुराग और श्रीकृष्णके माधुर्यमें होड़ सी लगी रहती है।[1] जिस अवस्थामें अनुरागकी पूर्णतम अभिव्यक्ति होती है और श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादनका आनन्द पूर्णतम रूपमें होता है, उसे स्वसम्वेद्यदशा कहते हैं,क्योंकि उस अवस्थामें आनन्द-अतिरेकके कारण तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि आश्रयको अपना और विषयका ज्ञान ही नहीं रहता। ज्ञान रहता है केवल उस आनन्दके अनुभवका, मानो अनुभव ही अपना अनुभव करता हो।

(ख) प्रकाशित—जब पाँच-छः अथवा सब सात्विक भाव एक साथ उदय होकर अनुरागको प्रकाशमान करते हैं, तो उसे प्रकाशित कहते हैं।

(ग) यावदाश्रयवृत्ति—अनुराग जब उस चरम अवस्थाको पहुँच जाता है, जिसमें किसी भक्तमें इसके प्रकाशनके समय और जितने भी सिद्ध और साधक भक्त होते है (यावदाश्रय) उन सभीपर इसकी क्रिया (वृत्ति) होती है, अर्थात् उनपर अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार इसके प्रभावका विस्तार होता है, तो उसे यावदाश्रय वृत्ति कहते हैं।

महाभावमें उपरोक्त लक्षणोंके अतिरिक्त रतिसे लेकर अनुराग तक और जितने भी प्रीतिके विभिन्न स्तरोंके लक्षण हैं सब पूर्ण रूपमें विद्यमान रहते हैं। महाभाव केवल व्रजसुन्दरियोंमें ही होता है। महिषियोंमें यह सम्भव नहीं है, क्योंकि उनकी प्रीति सर्वथा कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी और स्वसुख-वासना-रहित नहीं है।

महाभावकी एक विशेषता यह है कि यह मनको अपना स्वरूपत्व प्रदान करता है, मन स्वयं महाभावात्मक होजाता है। इन्द्रियाँ और उनकी सारी वृत्तियाँ भी महाभावात्मक होजाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मन, इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ सब परमतम माधुर्यमय होजाती हैं। इसीलिये श्रीकृष्णको व्रजदेवियोंके सभी क्रिया-कलाप जितने प्रिय लगते है, उतने

---

१. मन्माधुर्य राधाप्रेम दोहे होड़ करि।
अन्योन्ये बाढ़ये केह मुख नाहि मुड़ि॥
(चै. च. १।४।१२४)

अन्य देवियोंके नहीं लगते। उनका तिरस्कार भी उन्हें जितना सुख पहुँचाता है, उतना वेदाभिमानिनी देवियोंकी स्तुति भी नहीं पहुँचाती, क्योंकि वह चाहे कितनी उत्कृष्ट क्यों न हो, उसमें महाभाव नहीं है।

रूढ़ और अधिरूढ महाभाव

रूढ़ महाभावकी प्रथम अवस्था है।[1] इसका शारीरिक लक्षण यह है कि इसमें पाँच-सात या सभी सात्विकभाव एकसाथ उदित होते हैं। इस लक्षणको उद्दीप्त सात्विक कहते हैं।[2] इसके चित्तगत लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) **निमेषासहता**—इसमें श्रीकृष्ण दर्शनके समय चक्षुओंका निमेष भी असह्य होता है।

(२) **आसन्नजनताहृद् विलोड़न**—जिस प्रकार समुद्रके किसी स्थान में उठी एक तरंग निकटकी सभी वस्तुओंको आन्दोलित करती है, उसी प्रकार जिस स्थानपर रूढ़ महाभाव उदित होता है, उसके निकट अवस्थित लोक-समूहके चित्तमें भी वह अपने प्रभावका विस्तार करता है। व्रजगोपियोंका श्रीकृष्णसे कुरुक्षेत्रमें जहाँ मिलन हुआ था, वहाँ और कोई न था। सत्यभामा, रुक्मिणी आदि कुरुक्षेत्रमें ही उनसे दूर अपने-अपने स्थानपर थीं। पर उस मिलनके समय व्रजगोपियोंमें जो रूढ़ महाभावकी तरंग उठी थो, उसने उन्हें भी आप्लावितकर चमत्कृत कर दिया था।[3]

(३) **कल्पक्षणत्व**—अधिरूढ़ महाभावमें श्रीकृष्णसे मिलनके समय परमानन्दके आवेशमें एक कल्प भी निमिषमात्र लगता है। रासलीलाकी ब्रह्मरात्रिके समान दीर्घरात्रि भी गोपियोंको एक निमिषसे भी छोटी प्रतीत हुई थी।

(४) **श्रीकृष्णके सुखमें भी दुःखकी आशंकाके कारण खिन्नत्व**—महाभाववती व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णके महासुखमें भी उनके दुःखकी आशंका कर खेदको प्राप्त होती हैं। श्रीमद्भागवतका एक श्लोक[4] उद्धृत करते हुए उज्ज्वलनीलमणिमें कहा है कि गोपियाँ भलीभाँति जानती हैं कि श्रीकृष्ण

---

१. उ. नी., स्थायि, ११३

२. भ. र. सि. २।३।४६

३. उ. नी., स्थायि, ११८

४. भा. १०।३१।१९

उनके स्तनोंपर अपने चरण स्थापनकर अत्यन्त सुखी होते हैं, फिर भी वे अपने स्तनोंको कर्कश जान भीत होती हैं कि कहीं उन्हें कष्ट न हो।

(५) **मोहादिके अभावमें भी सर्वविस्मरण**—मोह और आवेगादिकी अवस्थामें लोगोंको अपनी और अन्य वस्तुओंकी विस्मृति होजाती है, परन्तु महाभाववती गोपसुन्दरियां श्रीकृष्णके रूप-गुणादिकी अतिशय स्मृति के कारण अपना देह-गेह, इहकाल-परकाल, वेद-धर्म, लोकधर्म, लज्जा, कुल, शीलादि सब भूल जाती हैं।[1]

(६) **क्षणकल्पतादि**—श्रीकृष्णके वियोगमें व्रजगोपियोंको एकक्षण भी कल्पके समान प्रतीत होता है। इसलिये रूढ़ महाभावमें ऐसी शक्ति है कि वह श्रीकृष्णको आविर्भावित करा सकती है। इस शक्तिके कारण ही रास-लीलामें श्रीकृष्णको अन्तर्धानके पश्चात् फिर आविर्भावित होना पड़ा था।[2]

अधिरूढ़ महाभावमें सात्विक भाव रूढ़महाभावसे भी अधिक एक अनिर्वचनीय वैशिष्ठ्य धारण करते हैं।[3] अनिर्वचनीय होते हुए भी इसके वैशिष्ठ्यका कुछ आभास पार्वतीके प्रति महादेवकी उक्तिसे मिलता है। महादेवने कहा कि वैकुण्ठादि चिन्मय धामोंमें अतीत, वर्तमान और भविष्य में जितना सुख और प्रेमोत्कण्ठाजनित जितना दुःख हुआ, होरहा है और होगा, तथा प्राकृत ब्रह्माण्डमें जितना सुख-दुःख हुआ, होरहा है और होगा, उन्हें सबको एकत्रकर सुख और दुःखके अलग-अलग दो स्तूप बनाये जायें, तो भी श्रीराधाके प्रेमसे उद्‌भूत सुख-दुःखके समुद्रकी एक बूँदके आभासके समान भी नहीं होंगे।

मोदन

अधिरूढ़ महाभावमें यदि राधा और कृष्ण दोनोंमें ही उद्दीप्त सात्विक भाव अनिर्वचनीय वैशिष्ठ्य धारण करें तो उसे मोदन कहते हैं।[4]

'ललितमाधव' में नववृन्दा द्वारा राधा-कृष्णके मिलनका वर्णन मोदन का एक उदाहरण है। नववृन्दा कहती है—

---

१. भा. ११।१२।१२
२. भा. १०।३२।२
३. उ. नी., स्थायि, १२३
४. उ. नी. म., स्थायि १२५

"आतन्वन् कलकण्ठनादमतुलस्तम्भश्रियोजृम्भितो
भूयिष्ठोच्छलदंकुरः फलितवान् स्वेदाम्बु मुक्ताफलैः।
उद्यद्बाष्पमरन्दभागविचलोऽप्युत्कम्पवान् विभ्रमैः
राधामाधवयोर्विराजति चिरादुल्लासकल्पद्रुमः॥"[1]

यहाँ राधामाधवके परस्पर मिलनकी अवस्थाको तुलना कल्पवृक्षसे की गयी है। कल्पवृक्षपर बैठी कोकिल जिस प्रकार मधुर स्वरका विस्तार करती है, उसी प्रकार राधा-माधव मिलनकी अवस्थामें भावोल्लासके कारण स्वरभेद नामक सात्विक भावको प्राप्तकर मधुर और अस्पष्ट शब्दका उच्चारण कर रहे हैं; कल्पवृक्षका तना जिस प्रकार स्तम्भाकृतिका होता है, उसो प्रकार श्रीराधामाधव स्तम्भ नामक सात्विकभावके कारण निश्चल होकर स्तम्भके समान शोभा पा रहे हैं; कल्पवृक्षमें जिस प्रकार बहुत सी टहनियों के अंकुर फूटे होते हैं, वैसे ही श्रीराधामाधवमें रोमाञ्च (पुलक) शोभा पा रहा है; कल्पवृक्षमें जैसे फल आते है, वैसे ही श्रीराधा-माधवके अंग-प्रत्यंगमें मुक्ताफलके समान स्वेदबिन्दु उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं; कल्पवृक्षसे जिस प्रकार मधु टपकता है, उसी प्रकार राधामाधवके नेत्रोंसे अश्रुधारारूप मधु प्रवाहित होरहा है; कल्पवृक्षके निश्चल होते हुए भो जिस प्रकार पक्षियोंके भ्रमणके कारण उसकी टहनियाँ हिलती हैं, उसी प्रकार स्तम्भके कारण स्थिर होते हुए भी श्रीराधामाधवका अंग विकम्पित होरहा है; कल्पवृक्ष जिस प्रकार अभीष्ट-फलदायक होता है, उसी प्रकार परस्पर मिलनकी ऐसी अवस्थामें श्रीराधामाधवका चिन्तन भक्तोंके लिये अभीष्ट-फलदायक अर्थात् प्रेम प्रदान करने वाला है।

मोदन ह्लादिनी-शक्तिका 'सुविलास', उसकी परमवृत्तिस्वरूप है। यह मधुस्नेहवती श्रीराधा और उनके यूथकी व्रजाङ्गनाओंमें ही सम्भव है, चन्द्रावली आदिके यूथकी व्रजाङ्गनाओंमें नहीं।

मोहन

मोदनमें जब श्रीकृष्ण-विरह घटता है और उद्दीप्त सात्विकभाव सुद्दीप्त होते हैं, अर्थात् इतने सुष्ठुरूपसे उद्दीप्त होते हैं कि प्रत्येक अपनो चरम अवस्थाको प्राप्त होता है, जैसे अश्रु पिचकारीकी तरह निकलते हैं,

---

१. वही, १२६

कम्पमें प्रत्येक दाँत खट-खट शब्द करता है, स्वेदमें पसीनेके साथ रक्त बहिर्गत होता है, तो उसे मोहन कहते हैं।[1]

मोहनमें 'मोह' के उत्पन्न होनेपर उसकी विलक्षणता और अधिक बढ़ जाती है। 'मोह' के विषयमें भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा है—"हर्ष, विच्छेद, भय एवं विषादादिके कारण चित्तमें जो मूढ़ता (बोधशून्यता) उत्पन्न होती है उसका नाम मोह है। मोहमें भूमिपर पतन, शून्येन्द्रियता, भ्रमण, निश्चेष्टता आदि लक्षण प्रकाश पाते हैं।"[2]

मोहन-भाव केवल श्रीराधामें सम्भव है। उद्धव जब व्रजसे मथुरा लौटकर गये थे, तो उन्होंने कृष्णसे राधाका मोहन-भाव वर्णन करते हुए कहा था—"उनके कण्ठसे एक शब्द भी निकलना कठिन है, उनके अश्रुओंसे गोकुल प्लावित होरहा है, कम्पके कारण उनके दाँत खट-खट शब्द करते हैं, रोमाञ्चके कारण उनका देह इतना कण्टकित है कि कटहल भी उसकी तुलनामें कुछ नहीं है, इत्यादि।[3] राधा-भावमें आविष्ट श्रीमन्महाप्रभुमें भी इस प्रकारके सुद्दीप्त सात्विक-भाव होते थे, जिनका चैतन्य-चरितामृतमें वर्णन है।[4]

मोहनकी अवस्थामें कुछ और विशेष प्रकारके लक्षण प्रकाशित होते हैं, जिनका वर्णन उज्ज्वल नीलमणिमें इस प्रकार है—

(१) कान्ता द्वारा आलिंगत अवस्थामें भी श्रीकृष्णकी मूर्च्छा—श्रीकृष्ण विरहार्ता राधामें जब मोहन भावका उदय होता है, तो उस समय उसके प्रभावसे श्रीकृष्ण सुदूर द्वारकामें रुक्मिणीके आलिंगनका सुख अनुभव कर रहे हों, तो भी उन्हें राधाके साथ अपने केलि-विलास-माधुर्यका स्मरण होआता है और उसका स्मरण करते-करते वे मूर्च्छित होजाते हैं।[5]

(२) असह्य दुःख स्वीकार करके भी श्रीकृष्ण-सुखकी कामना करना—इसका एक उदाहरण यह है कि मथुरा लौटते समय जब उद्धवने

---

१. वही, १३०

२. भ. र. सि २।४।४५

३. उ. नी. म., स्थायि, १३१

४. चै. च. २।१३।९७-१०३

५. उ. नी. म., स्थायि, १३३

राधासे पूछा—"श्रीकृष्णसे तुम्हारा क्या सन्देश कहूँ ?", तब उन्होंने उत्तर दिया—"उद्धव ! उनसे कहना कि उनके वृन्दावन आनेसे हमें अपार सुख और न आनेसे अपार दुःख होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पर यदि यहाँ आनेमें उन्हें किञ्चिन्मात्र क्षति हो, तो यही अच्छा होगा कि वे यहाँ कभी भी न पधारें।"[1]

(३) **ब्रह्माण्ड-क्षोभकारिता**—राधामें जब मोहन-भावका उदय होता है, तब समस्त ब्रह्माण्ड और वैकुण्ठादि चिन्मय धाम पर्यन्त क्षोभित होते हैं। एकबार जब राधामें मोहन-भावका उदय हुआ, तो नन्दीमुखीने योगदृष्टि से प्राकृत और अप्राकृत लोकोंमें उसके प्रभावको देख श्रीकृष्णसे द्वारकामें जाकर उसका इस प्रकार वर्णन किया—"हे ईश ! उस समय राधाके प्रेम-निश्वासरूप धूमके चारों ओर फैल जानेसे सभी नर-नारी और देवी-देवताओं की आश्चर्यजनक अवस्था देखनेमें आयी। जगत्के नर-नारी उच्च स्वरसे चीत्कार करने लगे, सप्त-पातालके फणि आदि जन्तु व्याकुल होने लगे, स्वर्गके देव-देवीगण स्वेदसे प्लावित हो पड़े, और वैकुण्ठमें लक्ष्मी आदि प्रचुर परिमाणमें अश्रु विसर्जन करने लगीं।"[2]

मोहन के सम्बन्धमें एकबार राधाने अपनी सखीसे कहा—"हे सखी ! श्रीकृष्णका विरह-जनित ताप बड़वानल-पुंजसे भी कटु है; मेरा दुर्बल शरीर न जाने कैसे उसे सहन करता है। इस तापकी धूमच्छटा भी यदि मेरे हृदयसे बाहर निकल जाय, तो ब्रह्माण्ड-समूह ही उसकी ज्वालासे भस्म हो जाय।"[3]

श्रीजीव गोस्वामीका मत है कि मोहनकी दशामें श्रीराधाकी प्रेम-धूमच्छटा कदाचित् ही बहिर्गत होती है। पर यहाँ फिर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रेम स्वरूपसे ही परमानन्दमय है, इसलिये विरहकी अवस्था में राधाकी धूमच्छटा, जो प्रेमका ही एक रूप है, स्वरूपसे आनन्दमय है। विरहमें प्रेम तापकी उपाधि धारण कर लेनेके कारण बाहरसे ही तापमय जान पड़ता है, वास्तवमें उसका आस्वादन मिलनकी अवस्थाके आनन्दसे भी

---

१. वही. १३४

२. वही, १३५

३. वही, १३६

कहीं अधिक होता है। इसलिये राधाकी धूमच्छटाके प्रभावके कारण ब्रह्माण्ड बाहरसे क्षोभित जान पड़ने पर भी परमानन्दसे परिप्लूत रहता है।

(४) **तिर्यक जातिका रोदन**—मोहन-भावमें जब राधा रोदन करती हैं तो मत्स्यादि तिर्यक प्राणी भी रोदन करने लगते हैं।

(५) **मृत्यु स्वीकार करके भी अपने देहके भूतसमूह द्वारा श्रीकृष्ण-संगकी तृष्णा**—विरहकी अवस्थामें श्रीराधा जीवित अवस्थामें श्रीकृष्णसे मिलनेकी आशा त्यागकर मृत्युकी कामना पोषण करती हैं, जिससे उनके शरीरके पाँचों तत्व बिखरकर श्रीकृष्णके उपयोगमें आनेवाली वस्तुओंमें प्रवेश कर जायें—जल श्रीकृष्णके विहार करनेको बावलोमें, ज्योति उनके दर्पणमें, आकाश उनके आँगनके आकाशमें, क्षिति उनके गमनागमनके पथमें और वायु उनके पंखेमें, और इस प्रकार वे श्रीकृष्णकी सेवाकर कृतार्थ हों।[1]

(६) **दिव्योन्माद**—मोहन-भावमें भ्रम-सदृश (भ्रमाभा) किसी अनिर्वचनीय वृत्तिको दिव्योन्माद कहते हैं।[2] यह बाह्य दृष्टिसे कुछ-कुछ प्राकृत उन्मादके सदृश दीखनेपर भी मस्तिष्ककी विकृतिसे उत्पन्न प्राकृत उन्माद नहीं है। इसीलिये इसे दिव्य-उन्माद कहते हैं। इसे भ्रम न कहकर भ्रमाभा, या भ्रम-सदृश इसलिये कहते हैं कि इसमें वास्तवमें भ्रम नहीं होता,अननुसन्धानमात्र होता है। श्रीकृष्ण सम्बन्धी किसी एक विषयमें राधा की समस्त इन्द्रियवृत्ति इस प्रकार केन्द्रीभूत होजाती हैं कि उन्हें अन्य विषयोंका अनुसन्धान ही नहीं रहता, जिसके कारण उन विषयोंके सम्बन्ध में उनका भाव भ्रम-सदृश होता है।

दिव्योन्मादके बहुत भेद हैं, जिनमें मुख्य हैं—उद्घूर्णा और चित्र-जल्प। उद्घूर्णामें राधा श्रीकृष्णके मथुरामें रहते समय वृन्दावनमें उनकी अनुपस्थितिको भूलकर वासकसज्जिका नायिकाके समान कृष्णके कथनानुसार उनके आगमनकी प्रतीक्षा करती हैं और उनके मनोरंजनके लिये कुंजको और अपने आपको सुसज्जित करती हैं। खण्डिता भावमें वे खण्डिता नायिकाका-सा व्यवहार करती हैं। खण्डिता नायिका रात्रि कृष्णकी प्रतीक्षा में व्यतीतकर उनके न आनेका कारण यह समझती है कि उन्होंने रात्रि अन्य

---

१. वही, १३७

२. वही

३. वही

किसी प्रेयसीके साथ व्यतीत की है और प्रातःकाल जब वे अन्य नायिकाके साथ सम्भोग-चिन्ह धारण किये हुए आते हैं, तो उनपर क्रोध करती है। इसी प्रकार राधा रात्रि कृष्णकी प्रतीक्षामें व्यतीतकर प्रातःकाल आकाशमें नीलमेघको देख कृष्ण समझती हैं, और उसमें बीच-बीचमें श्वेतादि वर्ण देख उन्हें अन्य नायिकाके भोग-चिन्ह समझती हैं, और उस नीलमेघपर तर्जन-गर्जन करती हैं। चित्रजल्पमें राधाको प्रियतमके किसी सुहृदको देख उनके प्रति गूढ़ रोष जाग्रत होता है और वे अद्‌भुत (चित्र या विचित्र) कथन (जल्प) का प्रकाश करती हैं। चित्रजल्पके प्रजल्प, परिजल्प, विजल्पादि दस अंग हैं, जिनका विस्तारके भयसे हम यहाँ उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

मादन

गाढ़तम मोदन, ह्लादिनीकी चरमतम परिणति, सर्वभावोद्‌गमोल्लासी प्रेमकी अवस्थाको मादन कहते हैं।[1]

'सर्वभावोद्‌गमोल्लासी' का अर्थ यह है कि जब मादनका आविर्भाव होता है, तब मादनके अन्तर्भुक्त रतिसे लेकर मोदन पर्यन्त प्रेमके सभी स्तर उल्लासमय हो उठते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके आविर्भूत होनेपर उनके अन्तर्भुक्त सभी भगवत्-स्वरूप आविर्भूत हो अपनी-अपनी महिमाका विस्तार करते हैं। इसलिये मादनको स्वयं-प्रेम भी कहते हैं।

'सर्वभावोद्‌गमोल्लासी' का एक और भी अर्थ है, जो मादनकी एक असाधारण विलक्षणताका परिचायक है। वह अर्थ यह है कि मादनमें श्रीकृष्णाङ्गके दर्शनके समय या श्रीकृष्णकी स्मृतिमात्रके उद्दीपनके समय श्रीकृष्ण द्वारा आलिंगन-चुम्बनादि अनन्त सम्भोग-वैचित्रीका एक साथ (एक ही प्रकाशमें) साक्षात् अनुभव होता है, तथा सम्भोगके इस प्रकारके अनुभवके साथ-साथ वियोगको भी अनन्त वैचित्रीका (एक ही प्रकाशमें) एक साथ अनुभव होता है—"यद्विलासा विराजन्ते नित्यलीलाः सहस्रधा।"[2] यह किस प्रकार सम्भव होता है, इस सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह एक परम अद्‌भुत, अनिर्वचनीय व्यापार है। सम्भोगके साथ

१. वही, १५५
२. वही, १६०

वियोगके सम्मिश्रणके कारण मादनमें सम्भोगके लिये बलवती उत्कण्ठा भी वर्तमान रहती है, जो सम्भोगको और भी अनन्तगुणा आस्वाद्य बना देती है।

उज्ज्वल नीलमणिमें मादनके दो अनुभावोंका उल्लेख है—अयोग्य वस्तुसे ईर्ष्या और सतत-सम्भोगमें भी श्रीकृष्णकी गन्धधारी वस्तु तककी स्तुति।[1]

अयोग्य वस्तुसे ईर्ष्या—इसके दृष्टान्त स्वरूप उज्ज्वल नीलमणिमें दान-केलि-कौमुदीका एक अंश उद्धृत है, जिसमें श्रीकृष्ण दान (कर) वसूल करनेके लिये दानघाटोमें सखियोंसे परिवेष्ठिता राधाका पथ अविरुद्ध करते हुए दण्डायमान हैं। राधा श्रीकृष्णके वक्ष:स्थलपर बनमालाको देख मन ही मन कहती हैं—"बनमाला कैसी भाग्यशाली है। जिस वस्तुको उसकी अधिकारिणी होते हुए भी हमें एक निमेषके लिये भी स्पर्श करनेका अभी तक सौभाग्य नहीं हुआ, उसे कण्ठसे लेकर चरणों तक आलिंगन किये हुए है! हमारी वस्तुको हमारे सामने ही लूटते हुए इसे लज्जा भी नहीं आती!" बनमाला श्रीकृष्णसे अपने-आप लिपट जानेकी और उनके आलिंगनके सुख का उपभोग करनेको सामर्थ्य नहीं रखती, फिर भी मादनके कारण राधा उससे ईर्षा करती हैं।

सतत सम्भोगमें भी श्रीकृष्णको गन्धधारी वस्तु तककी स्तुति—श्रीमद्भागवतमें उल्लेख है कि किसी समय राधाके साथ कृष्णके बिहारमें राधाके कुचोंका कुंकुम श्रीकृष्णके चरणोंमें लिप्त होगया था। बिहारके पश्चात् श्रीकृष्ण वन-पथसे जा रहे थे, उनके चरणोंका कुंकुम पथस्थित तृणादिसे संलग्न होगया। उस कुंकुमकी गन्धसे आकृष्ट पुलिन्द-कन्याओंने उसे लेकर सौरभ और सौन्दर्य वर्धन करनेके लिये अपने वक्ष:स्थलमें लगा लिया। अपनी सखियोंके साथ भ्रमण करते-करते जब राधाने पुलिन्द-कन्याओंको देखा तो कुंकुमकी गन्धसे ही वे समझ गयीं कि तृण-संलग्न श्रीकृष्णके चरणोंके कुंकुमको देखते ही पुलिन्द कन्याओंको कन्दर्प-रोग हो गया था और उस कुंकुमका अपने कुचोंमें लेपनकर उन्होंने उस रोगसे मुक्ति पायी थी। यह सोचकर वे उनके भाग्यकी सराहना करने लगीं और अपने भाग्यको धिक्कारते हुए कहने लगीं—"हाय! हम श्रीकृष्णकी स्वजातीया

---

१. वही, १५७

हैं। हमारे सौन्दर्यकी लोग प्रशंसा करते हैं। हम श्रीकृष्ण-संगकी कामना भी करती हैं। पर श्रीकृष्ण संग तो दूर, हमें वह सौभाग्य भी प्राप्त नहीं हुआ जो इन्हें हुआ है। श्रीकृष्ण-कान्ताकुच-कुंकुमका स्पर्श भी हमारे भाग्यमें न था !"

प्रश्न है कि कृष्णसे मिलनकी अवस्थामें ही मादन होता है। मादन का अनुभाव भी बताया गया है 'सतत सम्भोग' में कृष्ण गन्धधारी वस्तु तककी स्तुति। पर उपरोक्त उदाहरणमें कृष्ण कहीं राधाके आसपास भी नहीं हैं। तब यह मादनका उदाहरण कैसे हो सकता है ? उत्तर यह है कि राधाको जब पुलिन्द-कन्याओंका दर्शन हुआ, उस समय यद्यपि श्रीकृष्ण अपनी सखियोंकी दृष्टिमें राधाके पास नहीं थे, आविर्भावमें वे राधाके साथ साक्षात्-सम्भोगमें लिप्त थे। आविर्भावितरूप सबकी दृष्टिमें नहीं आता। उस समय मादनने अपने प्रभावसे राधाको श्रीकृष्णकी स्मृति होनेपर उन्हें सहसा आविर्भूत करा दिया था और वे उनके साथ अनन्त प्रकारके सम्भोग और सम्भोगमें ही अनेक प्रकारके वियोगका साक्षात् अनुभव कर रही थीं। वियोगके कारण ही वे तृष्णामयी उक्तिमें पुलिन्द-कन्याओंके भाग्यकी प्रशंसा कर रही थीं।

मादनकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें मोदनकी तरह 'मोद' या हर्ष तो होता ही है, मादनकी मत्तता भी होती है, जो मोदनमें नहीं होती। मादनका आश्रय एकमात्र श्रीराधा ही हैं। यह उनका स्वरूपगत भाव है, उनमें नित्य विराजित है—कभी प्रकाश्यरूप से, कभी प्रच्छन्नरूप से। जब राधाका श्रीकृष्णसे मिलन होता है, तब मादन प्रकाश्यरूपसे रहता है; जब मिलन नहीं होता, तब प्रच्छन्नरूपसे रहता है। राधाके अतिरिक्त मादन और किसीमें नहीं होता, उनके अपने ही यूथकी सखियों ललिता आदि में भी नहीं।

मादन सर्वश्रेष्ठ भाव है, मादनकी आश्रय राधा श्रीकृष्णकी सर्वश्रेष्ठ कान्ता है। मादन अपूर्व, अतुलनीय, अनिर्वाच्य और दुर्ज्ञेय है। राधा भी अपूर्व, अतुलनीय, अनिर्वाच्य और दुर्ज्ञेय हैं।

श्रीकृष्ण-परिकरोंकी विभिन्न प्रकारकी प्रीतिकी सीमा

श्रीचैतन्य-चरितामृतमें श्रीकृष्णके विभिन्न प्रकारके परिकरोंकी प्रीति की सीमा निर्धारित की गयी है। तदनुसार शान्त-रतिकी सीमा है प्रेमकी

पूर्व सीमा अर्थात् रति पर्यन्त, दास्यकी रागकी शेष सीमा पर्यन्त, सख्यकी अनुराग पर्यन्त, वात्सल्यकी अनुरागकी शेष सीमा पर्यन्त, मधुरकी भाव या महाभाव पर्यन्त।[1]

व्रजमें श्रीकृष्णके परिकर, जिनकी उम्र लगभग श्रीकृष्णके समान है, चार प्रकारके हैं—सुहृत, सखा, प्रियसखा और प्रिय-नर्मसखा। सुहृतोंकी वयस श्रीकृष्णसे कुछ अधिक है। उनके सख्यमें वात्सल्यकी गन्ध है और वे श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये अस्त्रादि धारण करते हैं। सुहृत हैं बलभद्र, सुभद्र, वीरभद्र आदि। सखाओंकी वयस श्रीकृष्णसे कम है और उनके सख्यमें दास्य की गन्ध है। विशाल, वृषभ आदि सखा हैं। प्रिय सखाओंकी वयस श्रीकृष्ण के समान है। उनका भाव शुद्ध सख्यमय है। प्रियसखा हैं श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम आदि। प्रियनर्म सखा हैं सुबल, उज्ज्वल, अर्जुन, बसन्त आदि। ये रहस्यमय कार्योंमें नियुक्त रहकर श्रीकृष्णके साथ व्रजसुन्दरियोंके मिलनमें सहायता करते हैं।[2] इनकी रति भाव तक वर्धित होती है।

कृष्ण-कान्ताओंमें केवल व्रजकी गोपांगनाओंकी रति महाभाव तक वृद्धि प्राप्त करती है, द्वारकाकी महिषियोंकी रति अनुरागकी शेष सीमा तक ही वर्धित होती है।

मधुरा रतिके प्रकार

मधुरा या कान्ता रति तीन प्रकारकी है—साधारणी, समञ्जसा और समर्था।[3]

साधारणी रति—साधारणी रति श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनसे उत्पन्न होती है और इसका मूल कारण होता है सम्भोगेच्छा। सम्भोग-सुखकी इच्छाके कारण यह गाढ़ता लाभ नहीं कर पाती। इसका एक उदाहरण है कुब्जा। श्रीकृष्णका असाधारण रूप, माधुर्यादि दर्शनकर कुब्जा मुग्ध होगयी थी और उसके मनमें निज अंग द्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेकी इच्छा जागी थी। परन्तु कृष्णको सुखी करनेकी उसकी इच्छामें सम्भोग-जनित-आत्म-सुख-वासना छिपी हुई थी। उसके प्रबल होनेपर उसने श्रीकृष्णसे अपनी

१. चै. च. २।२३।३४-३५

२. भ. र. सि. ३।३।८-२०

३. उ. नी. म., स्थायि, ३०

वासनाकी पूर्तिके लिये अपने घर आनेकी प्रार्थना की थी।[1] साधारणी रति में स्वसुखकी वासना गौण होती है। यह प्रेम पर्यन्त ही वृद्धि प्राप्त कर सकती है।[2]

समञ्जसा रति—जो रति रूप-गुणादिके श्रवणसे आविर्भूत होकर पत्नीत्व अभिमान उत्पन्न करती है, और जिसमें कभी-कभी सम्भोगेच्छा होती है,उस गाढ़ रतिको समञ्जसा कहते हैं।[3]इसका उदाहरण हैं रुक्मिणी आदि महिषियाँ। रुक्मिणीने श्रीकृष्णके दर्शन नहीं किये थे। केवल नारदादि के मुखसे उनके रूप-गुण-लीलादिके विषयमें सुनकर उन्हें पतिरूपमें प्राप्त करनेकी उनकी वासना जागी थी। (रुक्मिणी कृष्णकी नित्य-सिद्धा कान्ता हैं। प्रकट-लीलामें उनकी अनादिसिद्ध, स्वभाविकी रति प्रच्छन्न थी। नारद से श्रीकृष्ण-गुण सुननेसे उद्बुद्धमात्र थी।) समञ्जसा रति सान्द्र या गाढ़ होती है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति साधारणी रतिकी तरह सम्भोगजनित स्वसुखकी इच्छासे न होकर श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी इच्छासे होती है। सम्भोगेच्छा इसमें यदा-कदा ही जाग्रत होती है; जाग्रत होनेपर भी कृष्ण-रतिके साथ तादात्मय-प्राप्त होती है। उस समय भी प्रबलता कृष्ण-सुखकी तृष्णाकी ही होती है, अपने सुखकी इच्छा सामान्य होती है। समञ्जसा रतिकी नायिका पति रूपमें कृष्णको प्राप्तकर उनकी सेवाकी इच्छुक होती है, इससे जान पड़ता है कि वह लोक-धर्म, कुल-धर्मादिकी अपेक्षा रखती है। समञ्जसा रति अनुरागकी शेष अवस्था तक वर्धित होती है। इसे समञ्जसा इसलिये कहते हैं कि इसमें कृष्ण-सुख और स्वसुखकी इच्छाओंका सामञ्जस्य या मिलन होता है।

समर्था रति—समर्था रतिमें एक विशेष प्रकारकी सम्भोगेच्छा होती है,जो रति अर्थात् कृष्णको सुखी करनेकी इच्छासे पूर्ण तादात्म्य रखती है।[4] साधारणी रतिमें श्रीकृष्णके सुखकी अपेक्षा अपने सुखकी वासनाकी प्रधानता होती है, सामञ्जसा रतिमें अपने सुखकी वासनाकी अपेक्षा कृष्णके सुखकी वासनाकी प्रधानता होती है। समर्था रतिमें अपने सुखकी वासनाकी गन्ध भी नहीं होती। इसमें स्पर्शसुखकी इच्छा बलवती होते हुए भी यह एकमात्र

---

१. भा. १०।४०।६

२. उ. नी. म., स्थायि, १६४

३. वही, ३३

४. वही, ३७-३८

कृष्ण-सुख-वासनामें ही पर्यवसित होती है, अर्थात् यह कृष्ण-सुख-वासनाकी परिपूर्तिका साधनमात्र होती है।

समर्थारति इतनी बलवती होती है कि यह दाम्पत्य धर्मकी भी अपेक्षा नहीं रखती। इसे समर्था रति कहते ही इसलिये हैं कि यह लोक-धर्म, कुल-धर्मादिको तृणवत् त्यागकर कृष्ण-सेवाके अपने लक्ष्यकी ओर तीरकी तरह छूट पड़नेकी और श्रीकृष्णको पूर्णरूपसे वशीभूत करनेकी असाधारण सामर्थ्य रखती है।

समर्था रति स्वाभाविक होती है। साधारणी रति श्रीकृष्णके साक्षा-द्दर्शनसे उत्पन्न होतो है; समञ्जसा रति श्रीकृष्णके रूप-गुणादिके श्रवणसे उत्पन्न होती है; पर समर्था रति अपने स्वरूपगत धर्मके कारण अपने-आप ही उन्मेषित होती है। इसे न श्रीकृष्णके साक्षाद्दर्शनकी आवश्यकता होती है, न उनके रूप-गुणादिके श्रवण की। उज्ज्वल नीलमणिमें समर्थारतिका एक दृष्टान्त दिया है, जिसमें एक व्रजबालाकी स्वरूपगत कृष्ण-रति श्रीकृष्ण की नूपुर-ध्वनिके श्रवणमात्रसे उन्मेषित हुई थी। उसने न कभी श्रीकृष्णको देखा था, न उनके विषयमें सुना था, न वह जानती थी कि जो ध्वनि वह सुन रही है वह श्रीकृष्णके नूपुरोंकी ध्वनि है। उसे श्रीकृष्णकी परछाईंके सम्पर्क तकसे गुरुजनों द्वारा यत्नपूर्वक दूर रखा गया था। फिर भी वह उस ध्वनिको सुन गुरुजनोंके समक्ष ही उन्मत्त हो पड़ी थी।[1]

समर्थारति भावकी शेष सीमा तक वृद्धि प्राप्त करती है।[2]

स्वरूप

स्वतः सिद्ध भावको स्वरूप कहा गया है, जो तीन प्रकारका है—कृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ और उभयनिष्ठ।[3]

कृष्णनिष्ठ स्वरूप—श्रीकृष्णमें अवस्थित वस्तुविशेष, जिसके प्रभावसे उनके दर्शनमात्रसे केवल असुर प्रकृतिके लोगोंको छोड़ और सभीमें कृष्ण-रति उत्पन्न होती है, उसे कृष्णनिष्ठ स्वरूप कहते हैं।[4]

---

१. वही, २६

२. वही, १६४

३. उ. नी. म., स्थायि, २३

४. वही, २४

ललनानिष्ठ स्वरूप—जो रति बिना कृष्णको कभी देखे या उनके विषयमें कुछ सुने स्वयं उद्बुद्ध होती है उसे ललनानिष्ठ स्वरूप कहते हैं। व्रज-ललनाओंमें प्रकट लीलामें उनके जन्मसे ही कृष्ण-रति अप्रच्छन्न अवस्था में विराजमान रहती है। जन्मसे ही उनमें किसी अज्ञात, अदृष्ट व्यक्तिसे मिलनेकी, उसकी सेवाकर अपने-आपको धन्य करनेकी उत्कण्ठा वर्तमान रहती है; जन्मसे ही उनकी किसीके चरणोंमें आत्म-समर्पणकी भावना रहती है। वे जानती हैं कि वह व्यक्ति कितना उनका अपना है और वे कितनी उसकी अपनी हैं। पर वह कौन है, इसका उन्हें पता नहीं होता। उनकी यह रति गाढ़ता प्राप्तकर श्रीकृष्णको उनके चित्तमें स्फुरित कराती है। चित्तमें स्फुरित कृष्णको भी वे कृष्णरूपमें तबतक नहीं जानतीं जबतक उन्हें देख नहीं लेतीं, या उनके रूप-गुणादिके विषयमें सुन नहीं लेतीं। उज्ज्वल नील-मणिमें ललनानिष्ठ स्वरूपका उदाहरण देते हुए श्रीरूप गोस्वामीने ललिता के प्रति राधाकी एक उक्तिका उल्लेख किया है। राधा कहती हैं—"हे सखी ! जिसे मैंने कभी देखा नहीं, जिसके विषयमें कभी कुछ सुना तक नहीं, जिसके समान त्रिजगत्में किसी व्यक्तिके होनेकी सम्भावना भी मेरे मनमें कभी नहीं जागी, ऐसे एक घनश्यामल, पीताम्बरधारी व्यक्तिको रमणरूपमें इसी गोष्ठमें वरण करनेके लिये मेरा मन न जाने क्यों व्यर्थ हो व्याकुल रहता है।"

उभयनिष्ठ स्वरूप—कृष्णनिष्ठ स्वरूपमें वह वस्तु-विशेष जो कृष्ण-रति उत्पन्न करती है केवल कृष्णमें होती है,दर्शकमें नहीं;ललनानिष्ठ स्वरूप में वह केवल ब्रजगोपियोंमें होती है, श्रीकृष्णमें नहीं; पर उभयनिष्ठ स्वरूप में वह श्रीकृष्ण और गोपियोंमें युगपत् होती है। श्रीरूप गोस्वामीने उभय-निष्ठ स्वरूपकी चन्द्रमा और चन्द्रकान्तमणिसे तुलना की है। चन्द्रमामें एक ऐसी विशेषता है, जो चन्द्रकान्तमणिको द्रवीभूत करती है, यह विशेषता और किसी वस्तुमें नहीं है, यह चन्द्रनिष्ठ है। पर चन्द्रमा केवल चन्द्रकान्त-मणिको ही द्रवित करता है, अन्य किसी वस्तुको नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि चन्द्रकान्तमणिमें कोई ऐसी विशेषता है, जो उसे चन्द्रमाकी किरणोंसे द्रवीभूत होनेकी योग्यता प्रदान करती है। दोनोंमें अपनी-अपनी इस विशेषताके कारण ही दोनोंके संयोगसे चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होता है। इसी प्रकार श्रीकृष्णमें ऐसी एक विशेष-वस्तु है, जो व्रजगोपियोंके चित्तको विशेष प्रकारसे द्रवीभूत करती है, जो श्रीकृष्णको छोड़ और किसीमें नहीं

है, और व्रजगोपियोंमें एक विशेष वस्तु है, जो उन्हें श्रीकृष्ण-दर्शनसे विशेष प्रकारसे प्रभावित होनेकी योग्यता प्रदान करती है। उनका चित्त श्रीकृष्ण दर्शनसे जैसा द्रवित होता है, वैसा और किसीका नहीं होता। कृष्णनिष्ठ स्वरूप केवल कृष्ण-रति उत्पन्न कर सकता है, उस प्रकारकी असाधारण, चित्त-द्रवता और असाधारण क्षोभ, जो व्रज-ललनाओंको श्रीकृष्णके दर्शनसे होता है, वह नहीं उत्पन्न कर सकता। वह कृष्णनिष्ठ स्वरूप और ललना-निष्ठ स्वरूपके संयोगका ही परिणाम है। व्रज-ललनाएं अपने ललना-निष्ठ स्वरूपके कारण श्रीकृष्णको छद्म वेशमें भी पहचान लेनेकी क्षमता रखती हैं। उज्ज्वलनीलमणिमें उभयनिष्ठ स्वरूपका एक उदाहरण ललितमाधवसे उद्धृत किया है,जो इसप्रकार है—जटिलाने कुन्दलतासे अनुरोध किया राधा को सूर्यपूजा करानेके उद्देश्यसे एक ब्राह्मणको लिवा लानेके लिये। कुन्द-लता श्रीकृष्णको हो ब्राह्मण वेशमें सजाकर ले आई। उन्हें देख राधाका चित्त क्षुब्ध होगया। वे ललितासे कहने लगीं— "हे सखी ! ब्राह्मण वेशमें जो आये हैं, वे श्रीहरि ही हैं। यदि ऐसा न होता तो मेरा अन्तरात्मा द्रवी-भूत क्यों होता ? कहीं कुमुदवन्धु चन्द्रमाकी ज्योत्सनाके बिना चन्द्रकान्तमणि निर्मित बेदीसे स्वेदधाराका प्रश्रवण सम्भव हो सकता है ?"[1]

• • •

१. ललितमाधव २।१२

रस-विचार

पूर्णानन्द

मनुष्य जितना सुख भोगता है, उससे और अधिक भोगना चाहता है। फिर उससे और अधिक, और उससे और अधिक। वह चाहता है—नित्य, अनन्त, विशुद्ध और पूर्ण सुख। मनुष्य ही नहीं, ब्रह्मासे कीट पर्यन्त संसारके सभी जीव, चाहे वे विवेकी हों या अविवेकी, आस्तिक हों या नास्तिक, सदाचारी हों या दुराचारी, जाने या अनजाने, विशुद्ध, पूर्णानन्द की खोजमें सदा संलग्न हैं। पर उनकी पूर्णानन्दको साध कभी मिटती नहीं। विशुद्ध पूर्णानन्दके स्थानपर उन्हें क्षणिक सुख ही मिलता है, जिसका पर्यवसान दुःखमें होता है। तो क्या विशुद्ध पूर्णानन्द एक मृगमरीचिका ही है ?

यदि पूर्णानन्द मृगमरीचिका होता, तो उसे पा लेनेकी अनन्त स्पृहा हमारे भीतर न होती। भगवान्‌ने हमें जो भी प्रवृत्ति दी है, उसके लिये उपयुक्त विषय-वस्तुकी व्यवस्था भी की है। भूख दी है, तो खाद्य सामग्रीकी व्यवस्था की है; प्यास दी है तो जलकी व्यवस्था की है; जीवित रहनेको अमिट चाह दी है, तो आत्माके अमरत्वकी व्यवस्था की है। जिस प्रकार भूख-प्यास खान-पानकी वस्तुओंकी वास्तविकताका संकेत है, और अनन्त जीवनकी चाह आत्माके अमरत्वकी वास्तविकताका संकेत है, उसी प्रकार पूर्णानन्दकी चाह पूर्णानन्दकी वास्तविकताका संकेत है।

पूर्णानन्द मृगमरीचिका लगता है केवल इसलिये कि हम उसे खोजते हो हैं उस दिशामें, जहाँ वह नहीं है। कहीं सांसारिक वस्तुओंकी शुष्क बालुकाको बार-बार बिलोनेसे अमृत-स्रावकी आशा की जा सकती है ? श्रुति कहती है, अल्पमें सुख नहीं है। सुख भूमामें ही है। भूमा वह है, जिसे देखकर और कुछ देखना अवशिष्ट नहीं रहता, जिसे सुनकर और कुछ सुनना शेष नहीं रहता और जिसे जानकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता।

जिसे देख-सुन या जानकर और कुछ देखना, सुनना या जानना बाकी रह जाता है, वही अल्प है, वही चिरतप्त संसार मरुमरीचिका है—

'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्।
यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमा।
अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्।
अथ यो व भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥

(छान्दो० ७।२३।२४)

जो भूमा है, वही ब्रह्म है, जो ब्रह्म है, वही आनन्द है। आनन्द ब्रह्म है—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।'

(तैत्तिरीय० उ० ३।६।१)

आनन्द-स्वरूप ब्रह्मसे ही सब जीवोंकी उत्पत्ति है, आनन्दके द्वारा ही वे जीवन धारण करते हैं और अन्तमें आनन्दमें ही प्रवेश कर जाते हैं—

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

(तैत्तिरीय० उ० ३।६।१)

पर जिस आनन्दको लेकर सांसारिक जीव जीवन धारण करते हैं, वह उस आनन्दका एक कण या आभासमात्र है—

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'

(बृ० आ० उ० ४।३।३२)

जिस आनन्दके एक अंश या आभासमात्रसे जगत् विमुग्ध है, उसका पूर्ण और विशुद्ध रूप कैसा होगा, उसकी क्या कोई कल्पना कर सकता है ?

आनन्द-ब्रह्म और रस-ब्रह्म

वह पूर्ण, विशुद्ध आनन्द कैसे प्राप्त हो, इस प्रश्नका उत्तर श्रुतिमें इस प्रकार है—

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

(तैत्तिरीय० २।७।१)

—निश्चय ही वह 'रस-स्वरूप है। रस (भगवान्) को प्राप्त करके ही यह (जीव) पूर्णरूपसे आनन्दयुक्त हो सकता है।'

रस-स्वरूप ब्रह्म ही उस आनन्द-ब्रह्मका मूल है, जो जगत्की उत्पत्ति और स्थितिका कारण है। रस है आनन्दका घनीभूत भाव, आनन्द है रसका निर्विशेष भाव। रस-स्वरूप-ब्रह्म सविशेष और सशक्तिक है। निर्विशेष आनन्द-ब्रह्म सविशेष रसका प्रकाश है,उसी प्रकार जिस प्रकार निर्विशेष, अमूर्त गन्ध मूर्त धूपका प्रकाश है, या निर्विशेष चाँदनी सविशेष चन्द्रमाका प्रकाश है। इसीलिये श्रीकृष्णने इसे आनन्दरूप निर्विशेष ब्रह्मकी प्रतिष्ठा कहा है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।' जो केवल ह्लादात्मा अर्थात् केवल आनन्दरूप है, वह है निर्विशेष आनन्द-ब्रह्म। पर जो आनन्दस्वरूप होते हुए भी आनन्दका आस्वादन करते हैं और कराते हैं, वे हैं आनन्द-ब्रह्मकी प्रतिष्ठास्वरूप पूर्ण रस-ब्रह्म या रसका मूर्तस्वरूप—रसराज श्रीकृष्ण।

रस-स्वरूप ब्रह्म स्वयं रस है और रसका आस्वादक या रसिक भी। निर्विशेष ब्रह्म रसरूप है, पर रसिक नहीं; क्योंकि उसमें शक्तिका विकास नहीं है। परमात्मा भी रसरूप है पर रसिक नहीं; क्योंकि उसमें भी शक्तिका आंशिक विकास ही है और वह साक्षी या द्रष्टामात्र है। राम, नृसिंहादि जितने भी भगवत्-स्वरूप हैं, उनमें शक्तिका विभिन्नरूपसे विकास है। इसलिये वे सभी रसिक हैं। पर केवल श्रीकृष्णमें शक्ति और रसके विभिन्न रूपोंका एकसाथ पूर्ण विकास है। इसलिए केवल वे ही हैं अखिलरसामृत-मूर्ति, या रसिकशेखर।

ह्लादिनीकी आनन्द-धारा

जिस आनन्दिनी शक्ति द्वारा भगवान् निज स्वरूपानन्दका आस्वादन करते हैं और भक्तोंको आस्वादन कराते हैं, उसका नाम है ह्लादिनी शक्ति। ह्लादिनी शक्ति आनन्दकी विभिन्न धाराओंका मूल है। यही श्रीकृष्णके नित्य रास-विलासका एकमात्र कारण है। ह्लादिनी शक्ति ही प्रकाशित है भगवान् में भगवतानन्द रूपमें, और विश्वमें प्राकृत आनन्दके रूपमें। गोमुखीसे निकली शैलप्रवाहिनी गङ्गा जिस प्रकार स्वच्छ, सुनिर्मल और समुज्ज्वल होते हुए भी भूखण्डमें आकर वहाँकी मिट्टीके सम्मिश्रणसे मैली होजाती है, उसी प्रकार ह्लादिनी शक्तिकी स्वच्छ, समुज्ज्वल, शाश्वत आनन्दधारा प्राकृत प्रदेशमें उतरते ही त्रिगुणात्मिका मायाके संस्पर्शसे कुत्सित और क्षण-भंगुर प्राकृत आनन्दका रूप धारणकर लेती है।

ह्लादिनीकी आनन्दधारा चिन्मय-धाम या विरजा तक स्वच्छ और सुनिर्मल रहती है। गोलोकसे वैकुण्ठ तक वह सविशेष और सक्रियरूपमें

प्रवाहित होती है और उसके नीचे सिद्धलोक या महेशधामतक निर्विशेष और निष्क्रिय रूपमें प्रवाहित होती है। उसके भी नीचे विरजाके पार देवी धाम या प्राकृत जगत्में वह दुःख-मिश्रित, क्षणभंगुर प्राकृत आनन्दके रूपमें प्रवाहित होती है। यह प्राकृत आनन्द कायास्थानीय अप्राकृत आनन्दकी छायामात्र है। पर छाया होते हुये भी यह अप्राकृत आनन्दसे सर्वथा भिन्न नहीं है। यह उसका आभासमात्र है। यह अल्प, परिच्छिन्न, क्षणिक और मायामिश्रित होनेके कारण दुःखमय है,जबकि अप्राकृत आनन्द भूमा, स्थायी, अमायिक और विशुद्ध सुखमय है। सृष्टिके मूलमें यदि ह्लादिनीके रूपमें रसका उत्स और श्रीकृष्णका रास-विलास न होता, या क्षणभरके लिये भी किसी प्रकार उसका विच्छेद घटता, तो न तो आनन्द-ब्रह्मकी सत्ता सम्भव होती, न किसी प्रकारका प्राकृत आनन्द ही सम्भव होता। जिस प्रकार कायाके अभावमें छाया लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार संसार और संसारके सभी सुख, जो परमानन्दकी छाया या उसके आभास मात्रपर अवलम्बित हैं, एक मुहूर्त्तमें विलीन हो जाते।

रस और भाव

रसका भावसे अनिवार्य सम्बन्ध है। भाव बिना रस नहीं, रस बिना भाव नहीं—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः॥

(नाट्यशास्त्र)

आनन्दका विषय उपस्थित रहनेपर भी भावकी अनुपस्थितिमें उससे आनन्दकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। रत्नकी पेटिका पास रहनेपर भी, जिस प्रकार उसकी चाबीके बिना रत्नोंका उपयोग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार आनन्दका विषय पास होनेपर भी भावरूपी चाबीके अभावमें उसके आनन्दका उपभोग नहीं हो सकता। आनन्दके आश्रयसे जब भाव उच्छ्वासित होकर विषयसे संयुक्त होता है, तभी विषय रसताको प्राप्त होकर आश्रयको आनन्दित करता है। भाव या प्रियताकी भिन्नताके कारण ही एक ही विषयसे बिभिन्न जातिके आनन्दकी उपलब्धि होती है। जिस जातिका भाव होता है, वह उसी जातिके विषयसे संयुक्त होकर उसमें उसी जातिकी रसता उत्पन्न करता है और उसे उस जातिके आनन्दका विषय बनाता है। एक जातिका भाव दूसरी जातिके विषयको रसता प्रदान नहीं

कर सकता। शूकरका जिस जाति (प्रकार) का भाव या रुचि है, वह उसी जातिके विषयसे सुख-लाभ करता है और मनुष्यका जिस जातिका भाव या रुचि है, वह उसी प्रकारके विषयसे आनन्द लाभ करता है।

जिस प्रकार संगीत-प्रेम या संगीत-भक्ति द्वारा संगीत रसताको प्राप्त होता है, नृत्य-भक्ति द्वारा नृत्य रसताको प्राप्तकर नृत्य-भक्तको आनन्दित करता है, काव्य-भक्ति द्वारा काव्य रसताको प्राप्तकर कविता-प्रेमीको आनन्दित करता है, विद्या-भक्ति द्वारा विद्या रसताको प्राप्तकर विद्या-प्रेमीको आनन्दित करती है, उसी प्रकार भगवद्भक्ति द्वारा रसताको प्राप्त कर भगवान् भक्तको आनन्दित करते हैं। इसलिये भगवान्ने स्वयं कहा है—'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः—मैं एकमात्र भक्तिसे ग्राह्य हूँ, अन्य किसी प्रकारसे नहीं।'

भक्तिसे केवल भक्त ही आनन्दित नहीं होते, भगवान् भी आनन्दित होते हैं। भगवान् आनन्दमय हैं, पर जो आनन्द उन्हें भक्तिसे प्राप्त होता है, वह अपने स्वरूपसे नहीं होता। जैसे स्वातिकी बूँदें सीपमें पड़कर झिलमिलाते मोतियोंका रूप धारण कर लेती हैं, जैसे बाँसुरी बजानेवालेको अपनी ही फुत्कार बाँसुरीके छिद्रोंमेंसे निकलकर ऐसे मधुर स्वरोंका रूप धारणकर लेती है कि स्वयं बांसुरी बजानेवाला उससे मोहित होजाता है,वैसे ही भगवान्की ह्लादिनी शक्ति भक्तके हृदयमें प्रवेश करते ही ऐसा रूप धारण कर लेती है कि स्वयं भगवान् उससे मोहित हुए बिना नहीं रहते। गौके सर्वाङ्गमें दूध व्यापकरूपसे रहता है, परन्तु उससे गौकी तुष्टि तभी होती है, जब उसका दोहनकर उसे पिलाया जाता है। बरफके पहाड़से नदी निकलती है, पर बरफमें प्यास बुझानेकी वह शक्ति नहीं होती, जो नदीके पानीमें होती है। कथा है कि बरफके पहाड़को प्यास लगी, तब वह उतरकर मैदान में आया और नदीसे जलकी प्रार्थना की। नदीने कहा—'प्रभु आप ही तो हैं मेरे जलके स्रोत! मैं आपको जल क्या दूँ?' पहाड़ने कहा—'नहीं, मेरी प्यास तुम्हीं बुझा सकती हो। ऊँचाईपर शीतके कारण मेरा जल जमा हुआ है, घनीभूत है, तुम्हारा जल भूमिके तापके कारण तरल है, तरंगायित है। तुम्हारी तरंगोंको आनन्दसे नाचते देख मुझे लोभ होता है।' रसके पहाड़ रूपी भगवान्का घनीभूत रस भक्तके हृदयके (विरह) तापसे तरंगायित होकर उन्हें अधिक आनन्द प्रदान करता है। इसीलिये तो भगवान् भक्तिके वशमें सदा रहते हैं—

भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति।'

(गोपालता० उप०)

कृष्ण और राधा

भक्तिके वशमें होनेके कारण भगवान् भक्तके प्रेमपाशमें स्वेच्छापूर्वक उस प्रकार आबद्ध होजाते हैं, जिस प्रकार भौंरा मकरन्दके लोभसे कमलमें आबद्ध होजाता है। इसीलिये वे रसके मूलस्रोतके रूपमें भाव और भक्तिके मूलस्रोतसे सदा आलिंगित हैं, परिरम्भित हैं। रसका मूल और उसकी घनीभूत मूर्ति हैं श्रीकृष्ण, भावका मूल और उसकी घनीभूत मूर्ति हैं श्रीराधा।

रसकी मर्यादा होती है रसकी तृष्णासे। जलकी जितनी तृष्णा होती है, उतना ही जल पेय और आस्वाद्य होता है। इसी प्रकार रसकी जितनी तृष्णा होती है, उतना ही रस आनन्ददायक होता है। रसकी तृष्णाके तार-तम्यसे ही है रसके आस्वादनका तारतम्य। रस तृष्णाकी चरम अवस्था है राधाका कृष्ण-प्रेम। रस-तृष्णा अपनी चरम अवस्थामें घनीभूत होकर एक रूप परिग्रह करती है। वह रूप ही है राधाका रूप।

श्रीकृष्ण हैं रसका मूल विषय, राधा हैं रसका मूल आश्रय। जिस प्रकार अवतारी कृष्णमें सभी अवतार सम्मिलित हैं, उसी प्रकार कृष्ण-तृष्णाके सभी प्रकार अपनी चरम सीमाको प्राप्त होकर राधामें सम्मिलित हैं। जिस प्रकार रसराज श्रीकृष्ण समस्त प्रकारके रसोंके आधार हैं, उसी प्रकार महाभावस्वरूपिणी राधा समस्त प्रकारके भक्ति-भावोंकी आधार हैं। अमूर्तरूपमें वे ही दास्य, सख्यादि विभिन्न प्रकारके भावोंमें प्रकट होकर भक्तोंको भिन्न-भिन्न प्रकारके रसोंका आस्वादन कराती हैं। मूर्तरूपमें वे अपनी ही काय-व्यूहरूपा सखी-मञ्जरियोंके रूपमें प्रकट होकर नाना प्रकार की मधुर लीलाओं द्वारा श्रीकृष्णको रसास्वादन कराती हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भी उस रसास्वादनके लिये लालायित रहते हैं। आनन्द-स्वरूप, आप्तकाम, आत्माराम होते हुए भी वे व्रज-सुन्दरियोंके साथ रास-विलासादिका संकल्प करनेके लिये सदा बाध्य हैं।[1]

श्रीकृष्ण हैं—पूर्ण शक्तिमान्, राधा हैं—पूर्ण शक्ति। पूर्णशक्ति पूर्ण शक्तिमान्में अमूर्त और अभिन्नरूपसे नित्य वर्तमान रहती है। पर लीलाके

१. भा. १०।२९।१

हेतु शक्तिको अधिष्ठात्रीके रूपमें भिन्न और मूर्तरूपसे प्रकट रहकर भी अनन्त, अचिन्त्य लीलाओंका सम्पादन कर शक्तिमान्को आनन्दित करती हैं। अमूर्त और निष्क्रिय ह्लादिनी शक्ति द्वारा आलम्बित श्रीकृष्ण केवल 'ह्लादात्मा' या आनन्दरूप हैं, समूर्त ह्लादिनी शक्ति द्वारा आलिंगित श्रीकृष्ण आनन्द और माधुर्यकी चरम सोमाको प्राप्त हैं—

राधा संगे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः।
(गोविन्दलीलामृत)

अर्थात् श्रीकृष्ण अपने-आपमें विश्वमोहन होते हुए भी मदन[1] द्वारा मोहित होते हैं,पर जब वे राधाके साथ होते हैं, तब वे स्वयं मदनको मोहित करते हैं, तब वे मदनमोहन होते हैं।

राधाके साथ श्रीकृष्ण ही हैं वह परात्पर पूर्ण तत्व, जिसे पाकर जीव पूर्णानन्दको प्राप्त होता है।

रसका स्वरूप और सामग्री

रसका सार है चमत्कारित्व—"रसे सारश्चमत्कारो यं बिना न रसो रसः।"[2] आनन्द या सुख जब चमत्कारित्व धारण करता है, तब उसे रस कहते हैं—"चमत्कारि सुखं रसः।"[3] भक्ति ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति होनेके कारण आनन्दस्वरूपा है—परम आस्वाद्य है। परन्तु भक्ति अपने आपमें जैसी आस्वद्य है वैसी चमत्कारित्वमयी नहीं है। चमत्कृति उत्पन्न होती है किसी ऐसी वस्तुके आस्वादनसे, जिसका पहले कभो आस्वादन न किया हो। दधिका अपना एक स्वाद है। परन्तु यदि उसमें शक्कर, घी, इलायची, कपूर, कालोमिर्च आदि मिला दिया जाय, तो उसमें एक अपूर्व आस्वादन चमत्कारित्व उत्पन्न होजाता है। उसी प्रकार भक्ति अपने-आपमें आस्वाद्य है, परन्तु उसमें जब कुछ अन्य वस्तुओंका मिश्रण होता है, तो वह एक अपूर्व

१. तात्पर्य प्राकृत मदनसे नहीं अप्राकृत मदनसे है।

२. अलंकार कौस्तुभ ६।५।७

३. वही, ६।५।५

आस्वादन चमत्कारित्व धारण कर लेती है और तब उसे कहते हैं—भक्ति रस।

शान्त, दास्यादि पाँच प्रकारकी भक्तिके अनुरूप ही शान्त, दास्यादि पाँच प्रकारके भक्तिरस हैं। भक्तिके यह पाँच प्रकार पाँच प्रकारके रसोंके स्थायिभाव कहलाते हैं। स्थायिभावके साथ जब कुछ और वस्तुओंका मिश्रण होता है, तब रसकी उत्पत्ति होती है। जिन वस्तुओंके स्थायिभावसे मिलनेपर रसकी उत्पत्ति होती है, उन्हें रसकी सामग्री कहते हैं। सामग्री चार हैं—विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभाव।

विभाव

जिसके द्वारा रति विभावित, आस्वादित या तरंगायित होती है, उसे विभाव कहते हैं।[1] निस्तरंग समुद्रकी अपेक्षा उच्छवसित या तरंगायित समुद्रको देखनेसे अधिक आनन्द होता है। विभावके द्वारा जब रति तरंगायित होती है, तब उसकी आस्वादन चमत्कारिता वर्द्धित होती है। विभाव दो प्रकारके हैं आलम्बन-विभाव और उद्दीपन विभाव। जिसे अवलम्बनकर रतिका अस्तित्व होता है, अथवा जिसमें रति विभावित या आस्वादि होती है, वह (भक्त और भगवान्) रतिका आलमबन विभाव कहलाते हैं, और जिस हेतु द्वारा रति विभावित या आस्वादित होती है, उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव भी दो प्रकारका है आश्रयालम्बन और विषयालम्बन।

एक उदाहरणसे यह भलीप्रकार समझाया जा सकता है। माँ में अपनी सन्तानके प्रति वात्सल्य रति नित्य विराजमान रहती है। माँ है वात्सल्य रतिका आश्रयालम्बन और माँकी रतिका विषय अर्थात् सन्तान है रतिका विषयालम्बन। माँ और सन्तानको लेकर ही रतिका अस्तित्व है। इसलिये माँ और सन्तान रतिके आलम्बन विभाव हैं। परन्तु माँ में यह रति सन्तानकी अनुपस्थितिमें साधारणरूपसे निस्तरंग अवस्थामें रहती है। जब वह सन्तानसे सम्बन्धित किसी वस्तुको देखती है, या सन्तानकी कण्ठध्वनि दूर से सुनती है, तो उसकी रति स्पन्दित या तरंगायित होती है। सन्तानसे

१. भ. र. सि २।१।५

सम्बन्धित वस्तुएं और उसकी कण्ठध्वनि इत्यादि, जो उसकी रतिको उद्‌बुद्ध करती हैं रतिका उद्दीपन विभाव हैं।

कृष्ण-रतिके विषयालम्बन हैं श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं कृष्ण-भक्त। श्रीकृष्णके रूप, गुण, लीला, प्रसाधन (साज-सज्जा), स्मित, बंसी, नूपुर, पद-चिन्ह, तुलसी आदि हैं कृष्ण-रतिके उद्दीपन विभाव।

उद्दीपन विभावसे भी अधिक विषयालम्बनकी साक्षात् उपस्थितिमें रतिका उच्छ्वसित होना स्वाभाविक है। श्रीकृष्णकी साक्षात् उपस्थितिमें भक्तोंकी रति जैसी उच्छ्वसित होती है, वैसी कृष्ण-रतिके उद्दीपन विभाव के द्वारा नहीं होती। प्रश्न यह है कि क्या श्रीकृष्णका अतुलनीय माधुर्य कृष्ण-रतिके उच्छ्वसित होनेका कारण है ? श्रीजीव गोस्वामीका कहना है—नहीं। माधुर्य कृष्ण-रतिको उद्‌बुद्ध नहीं करता; माधुर्य उद्‌बुद्ध रतिका उत्कर्षमात्र जन्माता है। कृष्ण-रतिको उद्‌बुद्ध करनेवाली वस्तु है उनकी प्रियतमता। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण स्वरूपत: सभीके सबसे अधिक प्रिय हैं, क्योंकि वे सुख-स्वरूप हैं, रसस्वरूप हैं। जीवमात्र उस अक्षुण्ण, असीम सुख की खोजमें लगा है, जिसके वे भण्डार हैं। उसे संसारकी कोई वस्तु उतनी प्रिय नहीं है, जितना वे प्रिय हैं। फिर भी विडम्बना यह है कि वह उन्हें भूला हुआ है। वह उन्हें बिना जाने ही अनन्त, असीम, चिरस्थायि सुखके रूपमें खोज रहा है संसारके ससीम और क्षणभंगुर पदार्थोंमें। इन पदार्थोंसे उसकी निरन्तर अतृप्ति ही इस बातका प्रमाण है कि इनसे प्राप्त होनेवाला अस्थायि और अल्प सुख उसका वास्तविक अभीष्ट नहीं है। उसका अभीष्ट है चिरस्थायि, भूमा सुख, जो परब्रह्म, स्वयं भगवान्‌को छोड़ और किसी वस्तु से प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसलिये स्वयं भगवान् ही हैं उसकी प्रियतम वस्तु, जिसे वह हृदयसे चाहता है, जिसे वह अपने स्वभावसे चाहनेके लिये बाध्य है। चुम्बक जिस प्रकार लोहेको अदृश्य होनेपर भी आकर्षित करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण जब अपनी माया-शक्तिसे अपने रूपको आच्छादित कर अन्य किसी वेशमें रहते हैं, तब भी वे विषयरूपसे भक्तोंकी रतिको उद्‌बुद्ध करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि विषयालम्बन उनका स्वरूपगत धर्म है। परन्तु यद्यपि श्रीकृष्ण जीवमात्रके प्रियतम हैं, जीवमात्र उन्हें प्रियतमरूपमें नहीं जानता। जिनमें भक्तिका आविर्भाव हुआ है, वे ही उन्हें प्रियतम रूपमें जानते हैं, उन्हींके वे विषयालम्बन हैं। भक्तिके बिना उन्हें जाननेका कोई उपाय नहीं है—"भक्तिरेव एनं दर्शयति।" इसलिये उनके प्रियतमत्वको जाननेका भी भक्तिके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अनुभाव

भक्तके चित्तमें अवस्थित कृष्ण-रतिको देखा नहीं जा सकता। परन्तु कृष्णरतिके आविर्भूत होनेपर उसके देहादिमें और आचरणमें कुछ लक्षण प्रकाशित होते हैं, जो उसके परिचायक होते हैं, जैसे नृत्य, विलुन्ठन, गीत, चीत्कार, हुँकार, दीर्घश्वास, अट्टहास्य, अश्रु, कम्प, स्वेद, पुलक, स्तम्भादि। इन्हें अनुभाव कहते हैं।[1]

अनुभाव दो प्रकारके हैं—उद्भास्वर और सात्विक। "सत्व" एक पारिभाषिक शब्द है। यहाँ "सत्व" का अर्थ मायिक "सत्वगुण" नहीं है। इसका अर्थ है कृष्णरति द्वारा आक्रान्त चित्तकी एक विशेष प्रकारकी अवस्था। इस अवस्थामें अश्रु, कम्प, पुलकादि जैसे कुछ लक्षण सत्वसे स्वतः स्फूर्त होते हैं। इन्हें सात्त्विक भाव कहते हैं।[2] परन्तु नृत्य, गीत, विलुन्ठन, चीत्कार जैसे कुछ लक्षण हैं, जिनकी इच्छा सत्वसे उद्भूत होती है, पर जिन्हें कार्यमें रूपायित करना निर्भर करता है भक्तकी अपनी बुद्धि और चेष्टा पर। इसलिये नृत्यादिकी प्रवृत्तिको "बुद्धिपूर्विका" कहते हैं और नृत्यादिको उद्भास्वर अनुभाव कहते हैं। साधारणतः उद्भास्वर अनुभावको ही अनुभाव कहते हैं। इसलिये उन चार सामग्रियोंमें, जिनके कृष्णरतिके साथ मिलित होनेपर रसकी उत्पत्ति होती है, सात्त्विक भावका पृथक्‌रूपसे उल्लेख किया जाता है।[3]

सात्त्विकभाव

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

स्तम्भ—हर्ष, भय, आश्चर्य और अमर्ष (क्रोध) से जो निश्चलता एवं शून्यतादि लक्षण प्रकाशित होते हैं, उन्हें स्तम्भ कहते हैं।[4] स्तम्भ प्राप्त व्यक्ति हिलडुल नहीं सकता, पलक भी नहीं मार सकता, पर अन्तरमें आनन्दका अनुभव करता है।

---

१. भ. र. सि. २।२।१

२. वही, २।३।१-२

३. वही, २।२।२

४. भ. र. सि. २।३।१०

स्वेद—श्रीकृष्ण सम्बन्धी किसी व्यापारमें हर्ष, भय या क्रोधके कारण भक्तके देहमें जो स्वेद बहिर्गत होता है, उसे स्वेद-नामक सात्त्विक भाव कहते हैं।[1]

रोमाञ्च—श्रीकृष्ण सम्बन्धी किसी व्यापारमें भक्तके देहमें जो रोमाञ्च होता है, उसे रोमाञ्च-नामक सात्त्विक भाव कहते हैं,जैसे श्रीकृष्ण को स्तनपान कराते समय उनके मुखमें त्रिलोकी दर्शनकर यशोदाको रोमाञ्च हुआ था।[2]

स्वरभेद—श्रीकृष्ण सम्बन्धो किसी व्यापारमें विषाद, विस्मय, अमर्ष, आनन्द या भयादिके कारण स्वरभेद होता है। उदाहरण स्वरूप ब्रह्ममोहन-लीलामें ब्रह्माने जो अद्भुत दृश्य देखा था, उससे उन्हें विस्मय जन्मा था और विस्मयके कारण उन्हें गद्‌गद वाक्यरूप स्वरभेद हुआ था।[3]

वैवर्ण्य—विषाद, क्रोध, भयादिसे होनेवाले वर्ण विकारको वैवर्ण्य कहते हैं।[4]

अश्रु—हर्ष, क्रोध, विषादादिके कारण जो बिना प्रयत्नके नेत्रोंसे जल निकलता है, उसे अश्रु-नामक सात्त्विक भाव कहते हैं।[5] नासिकास्राव भी अश्रुका ही अंग है।

प्रलय—प्रलयमें आलम्बन-विभाव श्रीकृष्णमें भक्तका मन सम्यक्‌रूप से लीन होजानेके कारण मनोवृत्ति क्रियाहीन और ज्ञानशून्य होजाती है। प्रलय बहुत कुछ स्तम्भसे मिलता-जुलता है। दोनोंमें भेद यह है कि स्तम्भमें मनके व्यापारका लोप नहीं होता, पर प्रलयमें मनके व्यापारका लोप हो जाता है।

भक्तिरसामृतसिन्धुमें अभिव्यक्तिकी उज्ज्वलताके तारतम्यके अनुसार प्रत्येक सात्त्विकभावकी चार अवस्थाओंका उल्लेख है, जिन्हें धूमायित,

---

१. वही. २।३।१४

२. वही, २।३।१७

३. वही, २।३।२०

४. वही, २।३।२६

५. वही, २।३।३१

ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त कहा गया है।[1] इन सबसे ऊपर सात्त्विक भावों की एक चरम अवस्थाका भक्तिरसामृतसिन्धुमें उल्लेख है, जिसमें सभी सात्त्विक भाव एक साथ सुष्टुरूपसे उद्दीप्त होते हैं। इसे सुद्दीप्त कहते हैं, और यह केवल महाभाववती राधारानीमें ही सम्भव है।[2]

सात्त्विकाभास—सात्त्विकभाव कभी-कभी ऐसे व्यक्तियोंमें भी प्रकट होते जान पड़ते हैं, जिनका चित्त कृष्णरतिसे आक्रान्त नहीं है, जैसे ज्ञानी, योगी इत्यादि, जो मोक्ष-प्राप्तिके उद्देश्यसे भक्ति-अंगोंका अनुष्ठान करते हैं, या जो स्वभावसे ही पिच्छिल हैं, या जो अश्रु-कम्पादिके अभ्यास परायण है। परन्तु यह सात्त्विकभाव नहीं, सात्त्विक भावाभासमात्र होते है, क्योंकि ऐसे लोगोंका चित्त 'सत्त्वत्व' को प्राप्त नहीं हुआ होता।

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भाव स्थायिभावसे उत्पन्न होकर स्थायिभावको वर्धित करते हैं और स्थायिभावमें ही लीन होजाते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार तरंग समुद्रमें से उत्पन्न होकर समुद्रको वर्धित करती है और समुद्रमें लीन होजाती है। व्यभिचारी भाव भावकी गतिको सञ्चारित करते हैं, इसलिये उन्हें सञ्चारी भाव भी कहते हैं। संचारी भाव तेंतीस है, जैसे निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, शंका, आवेग, असूया, अमर्ष, हृष, चिन्ता इत्यादि।[3]

पञ्चभाव

इस प्रकार रसरूप व्यापारमें पाँच पृथक्-पृथक् भाव लक्षित होते हैं—स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव और सञ्चारी या व्यभिचारी भाव। स्थायिभाव ही है रसका मूल। विभाव है रसका हेतु। अनुभाव और सात्विक भाव हैं रसके कार्य। संचारी या व्यभिचारी भाव है रसके सहाय। विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भावसमूह स्थायिभाव को स्वादत्व प्रदानकर उसे रसमें परिणत करते हैं।

---

१. वही, २।३।३८

२. वही, २।३।४६

३. भ. र. सि, २।४।१-३

प्राकृत और अप्राकृत रस

लौकिक-रसशास्त्रके पण्डितोंके अनुसार लौकिक-रति ही लौकिक विभावादिके साथ मिलकर रसरूप धारण करती है। परन्तु गौड़ीय आचार्यों का मत है कि लौकिकी रति लौकिक विभावादिके साथ मिलनेपर रसरूपमें कदापि परिणत नहीं हो सकती। उनके अनुसार रस अलौकिक,अपरिमित, आनन्द-चिन्मय वस्तु है,जो सब प्रकारसे बाधा-विघ्न-रहित है। लौकिक रति परिमित और बाधा-विघ्नपूर्ण है। उसका पर्यवसान सदा दुःखमें होता है।[1] प्राकृत जितने भी विषय-भोग हैं सब दुःखमय हैं। श्रीभगवान्‌ने स्वयं सुख और दुःखकी परिभाषा करते हुए कहा है कि प्राकृत सुखोंको अपेक्षाका नाम है दुःख और प्राकृत सुख-दुःखके ध्वंसका नाम है सुख—

"सुखं दुःख-सुखात्ययः दुःखं कामसुखापेक्षा।"[2]

लौकिक रतिके विषय और आश्रय हैं रोग-शोक-कृमि-कीट-वातपित्त-कफपूर्ण, जन्म-मरणशील प्राकृत जीव। इसलिये लौकिक विभावादिमें चिन्मयरस उत्पन्न करनेकी क्षमता कहाँ? श्रीजीवगोस्वामीका कहना है कि यदि उनका रसजनकत्व स्वीकार करना ही पड़े,तो वह वीभत्स-रस-जनकत्व ही हो सकता है।[3]

साहित्यदर्पणमें लौकिक रत्यादिसे उद्भूत रसका वर्णन करते हुए कहा है कि यह अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्द-चिन्मय, ब्रह्मास्वादसहोदर और लोकोत्तर-चमत्कार-प्राण है।[4] साहित्यदर्पणमें यह भी कहा है कि सत्वके उद्रेकमें ही सामाजिकोंके चित्तमें रसका आस्वादन सम्भव है। परन्तु सत्व भी त्रिगुणमयी मायाके गुणोंमेंसे एक है। इसलिये यह भी बन्धनका कारण है। मायिक सत्वगुणजात और लौकिक विभावादिके सम्मिलनसे उत्पन्न सुख कभी लोकोत्तर, अखण्ड, स्वप्रकाश और चिन्मय नहीं हो सकता। लौकिक काव्य और अभिनय आदिके दर्शन-श्रवणसे सहृदय सामाजिकोंके चित्तमें जिस आनन्दका उद्रेक होता हैं, वह कविके शब्द-कौशल या अभिनय-कर्ताके अभिनय-चातुर्यके कारण एक चमत्कारित्व उत्पन्न करता है, जिसके

---

१. प्री. स. ११०

२. भा. ११।१९।४१

३. प्री. स. ११०

४. साहित्य-दर्पण ३।२

कारण चित्तमें आनन्दका उच्छ्वास होता है और वह आनन्द अलौकिक जैसा प्रतीत होता है। वस्तुत: वह अलौकिक या रस नहीं है। उसे औपचारिक रूपसे ही रस कहा जाता है।

भक्तिरस

विडम्बना यह है कि भोज और सुदेवको छोड़ अन्य लौकिक-रसशास्त्रविद्गणोंमें अधिकांश प्राकृत-रसको ही रस मानते हैं, अप्राकृत भक्तिरस को रस नहीं मानते। रसगंगाधरका कहना है कि भक्ति है देवादिविषया रति। यह भावके अन्तर्गत है। इसका रसत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि जो सामग्री रसके लिये आवश्यक है, वह इसे उपलब्ध नहीं है। रस वहीं सम्भव है, जहाँ समानता हो और घना पारस्परिक सम्बन्ध हो। देवादिगण और उनके भक्तोंमें इतनी असमानता है कि उनके बीच इस प्रकारका सम्बन्ध हो हो नहीं सकता। श्रीजीव गोस्वामीने इसके उत्तरमें कहा है कि उपरोक्त आपत्ति प्राकृत देवादि विषयक रतिके सम्बन्धमें ही की जा सकती है, कृष्ण-विषयक रतिके सम्बन्धमें नहीं। माधुर्य-प्रधान-विग्रह भगवान् कृष्णमें, जो अपने-आपको भक्तोंके अधीन मानते हैं असमानताका प्रश्न ही नहीं। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भी 'भक्ति रसायन' में इसी प्रकारकी बात कही है।[1]

प्राकृत रसिकगण जो भक्तिका रसत्व स्वीकार नहीं करते, उसका कारण यह है कि उन्होंने मायिक, सत्वगुण-प्रधान-चित्त वाले सामाजिकोंके रसास्वादनकी ही बात कही है। साधारण सामाजिक प्राकृत रसका ही आस्वादन कर सकते हैं, अप्राकृतरसके वे अधिकारी नहीं हैं, उन्होंने अपने प्राकृत दृष्टिकोणसे ही भक्तिका रसत्व अस्वीकार किया है।

भक्तिको अप्राकृत रसके रूपमें सर्वप्रथम स्वीकार करनेका श्रेय सम्भवत: वोपदेवको है। उन्होंने अपने "मुक्ताफल" नामक ग्रन्थमें "भक्तिरस" शब्दका स्पष्ट उल्लेख किया है। हेमाद्रिने भी भक्तिरसको स्वीकार किया है। परन्तु भक्तिरसके मूल आचार्य श्रीमन्महाप्रभु और उनके अनुयायी श्रीरूप सनातन और श्रीजीव आदि ही हैं। महाप्रभुने भक्तिरसको पारमार्थिक दर्शनकी भित्तिपर प्रतिष्ठितकर विश्वके चरम कल्याणका मार्ग प्रशस्त किया है। उनका मत है कि भगवान् रसस्वरूप हैं—"रसो वै स:।"

---

१. भक्तिरसायन २।७५-७६

वे रसरूपसे परमतम आस्वाद्य और रसिकरूपसे परमतम आस्वादक हैं। जीव भगवान्‌का अंश है, इसलिये उसमें उस अप्राकृत रसकी चिरन्तनी वासना वर्तमान है जो भगवान्‌का अपना स्वरूप है। रसस्वरूप भगवान्‌की प्राप्तिसे, उनके माधुर्य और लीलारसके अनुभवसे ही उसकी वासनाकी पूर्ति हो सकती है—"रसं ह्येवायां लब्ध्वानन्दी भवति।"रसमय भगवान्‌की प्राप्ति सम्भव है केवल शुद्धाभक्तिके रसमय मार्गसे, प्रियरूपसे परब्रह्मकी उपासना से—"आत्मानमेव प्रियमुपासीत इति।" रसरूप भगवान्‌को प्राप्त करना ही जीवका चरम लक्ष्य है।

श्रीरूप गोस्वामीने महाप्रभुके भक्तिरसके सिद्धान्तकी "भक्तिरसामृत सिन्धु" और "उज्ज्वलनीलमणि" में और श्रीजीव गोस्वामीने इन ग्रन्थोंकी अपनी टीकाओं और षट्सन्दर्भमें विस्तारसे वैज्ञानिक व्याख्या की है। इसलिये इन्हें भक्तिरसके मूल आचार्यके रूपमें माना जाता है। लौकिक रसकोविद्‌गणने रसको प्राकृत भित्तिपर, मायाबद्ध जीवोंको मायिकी वृत्ति पर ही प्रतिष्ठित किया है। इसलिये जिस रसका उन्होंने वर्णन किया है, वह क्षणिक, अवास्तविक और माया-बन्धनको दृढ़ करने वाला है। प्राकृतरसका आनन्द ब्रह्मास्वाद-सहोदर है, पर भक्तिका आनन्द ब्रह्मानन्द-तुच्छकारी है।

प्राकृत रसकोविदोंके अनुसार जिन लोगोंमें काव्यरसमें रतिके अनुकूल संस्कार हैं और जिनका चित्त शुद्ध-सत्वगुण-विशिष्ट है वे ही प्राकृत काव्यरस का आस्वादन कर सकते हैं। उनका आशय रजस्तमोगुण-वर्जित प्राकृत सत्वसे है, जो वास्तवमें विशुद्ध सत्व नहीं है। उसे रजः और तमः इन दो गुणोंकी अपेक्षा ही शुद्ध कहा जा सकता है। वास्तविक शुद्ध सत्व तो अप्राकृत चिद्‌वस्तु है। यह स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति है।[1] अप्राकृत-रसिकोविदोंके अनुसार जिन लोगोंमें अप्राकृत विशुद्ध सत्वका आविर्भाव हुआ है,वे ही भक्तिरस का आस्वादन कर सकते हैं।

मुख्य और गौण भक्तिरस

मुख्य भक्तिरस पाँच हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। वस्तुतः यह विभावके स्वभावभेदके अनुसार पाँच प्रकारकी रति या उसके स्थायिभाव हैं, जो उद्दीपनादि सामग्रीके संयोगसे रसरूपताको प्राप्त करते

---

१. भ. र. सि. १।२।१ श्लोककी श्रीजीवगोस्वामीकी टीका

हैं, जो भाव अन्य सभी भावोंको अपने वशमें रखते हुए कार्य करता है, वह स्थायिभाव कहलाता है। जात-रति व्यक्तिमें रति हो शनैः शनैः गाढ़ता प्राप्त कर और अनन्य-ममता संयुक्त होकर स्थायिभाव धारण करती है। निष्ठा, रुचि और आसक्तिकी अवस्थाएं बीतनेपर भी साधकमें लिंग-देहके रहनेतक जड़ सान्निध्य रहता है। जबतक जड़-सान्निध्य रहता है साधक रसास्वादन का अधिकारी नहीं होता। पर रति जब प्रेमकी अवस्था धारण कर लेती है, तब साधककी स्वरूपसिद्धि होती है और तभी वह रसोपयोगी स्थायिभाव को प्राप्तकर रसास्वादनकी योग्यता प्राप्त करता है।

मुख्य भक्तिरसोंके सहायक सात गौण भक्तिरस हैं,जो इस प्रकार हैं— हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स। जड़रसके अलंकारिक पण्डितोंने इन्हींको मुख्यरसके रूपमें माना है। जड़तत्वमें इन रसोंकी मुख्यता होना स्वाभाविक है। पर चित्तत्वमें वे मुख्य भक्तिरसोंके संचारीभाव के रूपमें ही विराजते है। चित्-जगत्में इनकी स्वतन्त्र सत्ता या उपयोगिता नहीं है। वहाँ कृष्ण-भक्तिरसके व्यभिचारी और संचारीभावके रूपमें ही यह रस-समुद्रकी उर्मियोंकी भाँति उसके सौन्दर्यको पुष्टि करते हैं।

हास्य, अद्भुत और वीररसोंके भक्तिरसोंके सहायक होनेमें किसीको शंका होनेकी सम्भावना नहीं है। पर करुण (शोक), रौद्र (क्रोध), भयानक (भय) और वीभत्स (जगुप्सा) के सम्बन्धमें शंका हो सकती है कि यह किस प्रकार अमृतस्वरूप भक्तिरसके सहायक हो सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि परमानन्दमय रसतत्वमें भय, शोकादि भी शुद्ध और शिवस्वरूप हैं। वे प्राकृत जगत्के भय-शोकादिकी तरह अमंगलमय नहीं हैं। प्राकृत जगत्के भय-शोकादि तो अप्राकृत रसमय जगत्के भय-शोकादिके हेय प्रतिफलनमात्र हैं। प्राकृत जगत्की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह चिज्जगत्की हेय प्रतिच्छबिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चिज्जगत्में सभी धर्मोंके एकमात्र अवसान-स्थल हैं नित्यानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण। प्राकृत जगत्में उन्हीं धर्मोंके प्रतिफलित भावोंका अवसान-स्थल है इन्द्रिय-तृप्ति,जो स्वभावसे अमंगलमय, अनित्य और दुःखकारक है। इसलिये चिज्जगत्के भय-शोकादि रसकी पुष्टि करते हैं, पर जड़-जगत्के भय-शोकादि दुःखको सृष्टि करते हैं।

मुख्य और गौण दोनों प्रकारके भक्तिरसोंका सम्बन्ध भगवत्-प्रीतिसे है और दोनोंके आश्रय हैं शान्तादि पाँच प्रकारके भक्त। इन पाँच प्रकारके भक्तोंके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियोंमें जो हास्यादि रसोंका उदय होता है वे

भक्तिरस कहलाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि उनका भगवत्-प्रीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं।

शान्तादि मुख्य भक्तिरसोंका उल्लेख हम अन्य प्रसंगमें पहले कर चुके हैं। यहाँ कुछ विस्तारसे उनका उल्लेख करना आवश्यक है।

शान्त भक्तिरस

जीव गोस्वामीने प्रीति सन्दर्भमें कहा है कि शान्तरसका दूसरा नाम है ज्ञानभक्तिमय-रस।[1] श्रीरूपगोस्वामीका कथन है कि शमप्रधान व्यक्तियों में ही शान्त भक्तिरस आस्वाद्यत्वको प्राप्त होता है।[2] 'शम' का अर्थ है बुद्धिकी श्रीकृष्णनिष्ठता और निश्चलता अथवा विषयोंसे विरक्ति। शान्त-भक्त श्रीकृष्णको परब्रह्म, परमात्माके रूपमें जानता है। उसकी रति ऐश्वर्य-ज्ञान-प्रधाना होती है, जिसके विषयालम्बन होते हैं श्रीकृष्णके ऐश्वर्य-प्रधान-रूप वैकुण्ठेश्वर श्रीनारायण[3] और आश्रयालम्बन होते हैं सनक-सनन्दनादिके समान आत्माराम, तापस शान्तभक्तगण। शान्तरतिका अनुभव-जनित सुख निर्विशेष-ब्रह्मके अनुभव-जनित सुखसे श्रेष्ठ होता है, क्योंकि उसे भगवान्के रूप-गुणादिका अनुभव होता है, जो निर्विशेष-ब्रह्मके अनुभवमें नहीं होता। परन्तु शान्त भक्तिरसका सुख दास्य-भक्तिरसके सुखसे न्यून है, क्योंकि शान्त भक्तको दास्यभावोचित भगवान्के लीलारसका अनुभव नहीं होता।

शान्त-भक्तके अनुभाव हैं नासिकाके अग्रभागमें न्यस्त दृष्टि, अवधूतके समान चेष्टा, हरिविद्वेषीके प्रति भी द्वेषहीनता, हरिके प्रिय भक्तके प्रति भी अतिभक्ति हीनता, जीवनमुक्तिके प्रति अति आदर, निरपेक्षता, निर्ममता, निरहङ्कारिता, मौनादि।[4] शान्त भक्तिमें प्रलयको छोड़कर स्वेद-कम्पादि सभी सात्विकभाव प्रकाशित होते हैं।

शान्तभावके भक्तोंमें कृष्णमें ममत्व-बुद्धि नहीं होती। इसलिये उनका व्रजमें कोई स्थान नहीं है। उनका स्थान परव्योममें है, जहाँ नारायण

---

१. प्री. स. २०३

२. भ. र. सि. ३।१।२

३. चै. च. २।१६।१७३-७८

४. भ. र. सि. ३।१।६

और अन्य भगवत्-स्वरूपोंका भी स्थान है। शान्त-भक्त भगवान्‌के अनुग्रहका आकांक्षी होता है, सेवाका नहीं। उसका भगवान्‌के प्रति तदीयतामय भाव होता है, मदीयतामयभाव नहीं। वह जानता है कि मैं भगवान्‌का हूँ। भगवान् मेरे है—इस भावकी स्फूर्ति उसमें नहीं होती।

दास्य भक्तिरस

दास्य-भक्तिरसको प्रीतभक्तिरस भी कहते हैं। दास्यभक्त कृष्णका अनुग्राह्य होनेका अभिमानयुक्त होता है। प्रीतभक्तिरस दो प्रकारका है—सम्भ्रम-प्रोतरस और गौरव-प्रीतरस। जो भक्त श्रीकृष्णके दासत्वका अभिमान पोषण करते हैं, उनकी श्रीकृष्णविषयक प्रीतिको कहते हैं सम्भ्रम प्रीत। जो श्रीकृष्णके लाल्यत्वका अभिमान पोषण करते हैं, उनकी प्रीतिको कहते हैं गौरवप्रीत।[1]

सम्भ्रमप्रीतरस—सम्भ्रमप्रीतरसके विषयालम्बन गोकुलमें द्विभुज श्रीकृष्ण हैं और अन्यत्र, कहीं द्विभुज श्रीकृष्ण, कहीं चतुर्भुज श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन दासाभिमानी भक्तगण हैं। दास चार प्रकारके हैं—(१) अधिकृत, (२) आश्रित, (३) पारिषद और (४) अनुग। अधिकृत दास हैं ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि। ये श्रीकृष्णसे अधिकार प्राप्तकर अधिकृतदास हुए हैं।[2] आश्रितदास तीन प्रकारके हैं—शरण्य, ज्ञानिचर और सेवानिष्ठ। कालियनाग और जरासन्धके कारागारमें आबद्ध नृपतिगण प्रभृति भक्तगण हैं शरण्य। शौनकादि ऋषि मुक्तिकी इच्छा परित्यागकर ज्ञानिचर-आश्रित-दास हुए हैं। यह निर्विशेष ब्रह्मका ध्यान किया करते थे पर निर्विशेष तत्वको हेय जान श्रीकृष्णके चरणोंका आश्रय लेनेको बाध्य हुए। इक्ष्वाकु, हृतदेव और पुण्डरोक आदि प्रारम्भसे ही भजनासक्त थे। इन्हें सेवानिष्ठ आश्रितदास कहते हैं। उद्धव, दारुक,नन्द,उपनन्द और भद्रक आदि पारिषद-दास हैं। यह समय-समयपर यथायोग्य परिचर्या द्वारा सेवा किया करते हैं। अनुगदास वे हैं, जो प्रभुको परिचर्यामें सदा ही आसक्त रहते हैं। इनके दो प्रकार हैं—पुरस्थ और व्रजस्थ। सचन्द्र, मण्डन, स्तम्भ आदि पुरस्थदास हैं और रक्तक, पत्रक, मधुकण्ठ, मधुव्रत, मरन्द, सानन्दादि ब्रजस्थ अनुग दास हैं।

---

१. वही ३।२।१

२. भ. र. सि. ३।२।४

सम्भ्रमप्रीतरसके साधारण उद्दीपन हैं—श्रीकृष्णकी मुरलीका शब्द, उनकी शृङ्गध्वनि, उनका सहास्यावलोक, उनके पदचिन्ह, अंग सौरभादि और असाधारण उद्दीपन हैं— चरणतुलसी, प्रसादान्न, चरणामृत इत्यादि। साधारण उद्दीपन उन्हें कहते हैं जो एकसे अधिक भक्तिरसोंमें उद्दीपन होते हैं और असाधारण उद्दीपन उन्हें कहते हैं जो एक ही रसमें उद्दीपन होते हैं।[1]

सम्भ्रमप्रीतरसके असाधारण अनुभाव हैं जिस कार्यमें प्रभु नियोजित करें उसका सब प्रकारसे अधिकाधिक परिग्रह, परिचर्यादिमें परस्परका उत्कर्ष देखकर भी ईर्ष्यालेश-शून्यता, श्रीकृष्णदासोंसे मैत्री इत्यादि,[2] और साधारण अनुभाव हैं नृत्य-विलुण्ठनादि उद्भास्वर, श्रीकृष्णके सुहृदवर्गके प्रति आदर और विरागादि शीत (सुखमय) भाव समूह।[3] इसके व्यभिचारीभाव हैं हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, विषाद, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, शंका, मति, औत्सुक्य, चापल्य, वितर्क, आवेग, लज्जा, मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, क्लम (ग्लानि), व्याधि, और मृति।[4] इसका स्थायिभाव है सम्भ्रमप्रीति। कृष्ण मेरे प्रभु हैं यह जानकर आदरमय सम्भ्रम और संकोच और अपने प्रभुका किस प्रकार प्रीति-विधान करूँ यह सोचकर अस्थिरता—यह दोनों भाव जब कृष्णविषया प्रीतिसे ऐक्य प्राप्त कर लेते हैं, तब उसे कहते हैं सम्भ्रमप्रीति।[5]

सम्भ्रमप्रीतिमें स्तम्भादि सभी सात्विक भावोंका प्रकाश होता है। सम्भ्रमप्रीति गाढ़ता प्राप्तकर क्रमशः प्रेम, स्नेह और रागतक वर्धित होती है।

गौरवप्रीतरस—गौरवप्रीतरसके विषयालम्बन हैं श्रीहरि और आश्रयालम्बन हैं उनके कनिष्ठत्वाभिमानी या पुत्रत्वाभिमानी परिकर

---

१. वही

२. भ. र. सि. ३।२।२३

३. वही ३।२।२४

४. श्रीकृष्णके परिकर भक्तोंमें व्याधि और मृत्युका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु श्रीकृष्ण-वियोगमें उनकी अवस्था व्याधिग्रस्त या मृत जैसी हो जाती है। भ. र. सि. ३।२।६७

५. वही ३।२।२६

गण ।[1] सारण, गद एवं सुभद्र हैं प्रमुख कनिष्ठत्वाभिमानी और प्रद्युम्न, चारुदेष्ण और साम्बादि यदुकुमारगण हैं पुत्रत्वाभिमानी ।

गौरवप्रीतरसके उद्दीपन हैं श्रीकृष्णका वात्सल्य, उनकी मुसकान और दृष्टि आदि और अनुभाव हैं श्रीकृष्णके सम्मुख नीचे आसनपर उपवेशन, श्रीकृष्णका कार्यभार ग्रहण और स्वेच्छाचारका परित्यागादि ।[2] व्यभिचारी भाव गौरवप्रीतरसके भी वही हैं जो सम्भ्रमप्रीतरसके हैं। गौरवप्रीतरस का स्थायिभाव है गौरव-प्रीति अर्थात् देह-सम्बन्धी अभिमानवश गुरुबुद्धि । लौकिक जगत्में जिस प्रकार देह सम्बन्धके कारण पिता पुत्रका गुरु और लालक होता है और पुत्र पिताका लाल्य, उसी प्रकार श्रीकृष्णके पुत्रादि श्रीकृष्णको अपना लालक मानते हैं और स्वयंको उनका लाल्य ।

सख्यभक्तिरस

सख्य भक्तिरसको प्रेयोभक्तिरस या मैत्रीमयरस भी कहते हैं। इसके विषयालम्बन हैं द्विभुज श्रीकृष्ण, जो बलीयान, सुपण्डित, अद्भुतभाषावेत्ता, दक्ष, करुण, विदग्ध, बुद्धिमान, क्षमाशील, समृद्धिमान और अन्य सभी प्रकार के सुल्लक्षणोंसे युक्त हैं ।[3] इसके आश्रयालम्बन हैं श्रीकृष्णके वयस्यगण, जो रूप, गुण और वेशादिमें श्रीकृष्णके समान हैं, जो श्रीकृष्णको न तो दासकी तरह अपना अनुग्राहक मानते हैं और न वात्सल्यविशिष्ट भक्तके समान अपना अनुग्राह्य मानते हैं, पर जो उन्हें अपने समान मानते हैं, जो सम्यक्रूपसे संकोचहीन हैं, जिन्हें श्रीकृष्णके सम्बन्धमें गाढ़ विश्वास है कि वे उनका अनिष्ट कदापि नहीं करेंगे, जो अत्यन्त भीति शून्य हैं और जो प्राणसे उनकी सेवा उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार कोई अपने ही सुखके लिये अपनी सेवा करता है ।[4]

श्रीकृष्णके वयस्य दो प्रकारके हैं—पुरसम्बन्धी और व्रजसम्बन्धी । पुरसम्बन्धी वयस्य हैं अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी और श्रीदाम-ब्राह्मणादि । व्रज सम्बन्धी वयस्य है बलभद्र, सुभद्र, श्रीदाम, सुदाम, सुबलादि ।[5] व्रजके

---

१. वही ३।२।२४
२. वही ३।२।७७
३. वही ३।३।२
४. वही ३।३।३
५. वही ३।३।३-५

वयस्य चार प्रकारके हैं—सुहृद्, जिनके सख्यके साथ वात्सल्यकी गन्ध है, जो उम्रमें श्रीकृष्णसे कुछ बड़े है और अस्त्रादि धारणकर उनकी दुष्टोंसे रक्षा करते हैं और जिनमें मण्डलीभद्र और बलभद्र मुख्य हैं;[१] सखा, जो उम्रमें श्रीकृष्णसे कुछ छोटे और प्रोतिगन्धि-सख्यविशिष्ट हैं और जिनमें प्रधान देवप्रस्थ हैं;[२] प्रियसखा, जो उम्रमें श्रीकृष्णके तुल्य हैं और केवल सख्यका आश्रय लेकर रहते हैं, अर्थात् जो विविध केलि, बाहुयुद्ध, दण्डयुद्धादि द्वारा श्रीकृष्णका सुखविधान करते हैं और जिनमें श्रीदाम सर्वश्रेष्ठ हैं;[३] और प्रियनर्मसखा, जो अत्यन्त गोपनीय कार्यमें भी कृष्ण द्वारा नियोजित रहते हैं और प्रेयसियोंसे उनके मिलनमें सहायक होते हैं और जिनमें सुबल और उज्ज्वल सर्वश्रेष्ठ हैं।[४]

सख्यरसमें उद्दीपन हैं श्रीकृष्णका रूप, शृङ्ग, वेणु, शंख एवं विनोद और पराक्रमादि उनके गुण।[५] इसके अनुभाव है बाहुयुद्ध, कन्दुक-केलि, द्युत-केलि एवं श्रीकृष्णके साथ एकत्र शयन, उपवेशन, नृत्य-गानादि।[६] इसमें कृष्णविषयक औग्रच, त्रास और आलस्यको छोड़ सभी व्यभिचारी भाव उदित होते हैं; कृष्णके साथ अमिलनमें मद, हर्ष, गर्व, निद्रा और धृति तथा मिलनमें मृति, क्लम, व्याधि, अपस्मार और दीनताको छोड़ अन्य सभो व्यभिचारी भाव उदित होते हैं।[७]

सख्य भक्तिरसका स्थायिभाव है सम्भ्रमशून्या, विश्रम्भात्मिका सख्य-रति। सख्यरतिमें दोनों सखाओंमें अभेदकी प्रतोति जन्मती है। इसलिये दोनोंमें संकोचहीनता और यन्त्रणाहीनता होती है।[८]

सख्यरति गाढ़ता प्राप्तकर क्रमशः प्रणय, प्रेम, स्नेह और रागतक वर्धित होती है।

---

१. वही ३।३।८
२. वही ३।३।१३
३. वही ३।३।१५
४. वही ३।३।१७
५. वही ३।२।२२
६. वही ३।३।३३
७. वही ३।३।४३
८. वही ३।३।४५-४६

वत्सल-भक्तिरस

वत्सल-भक्तिरसके विषयालम्बन हैं श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं श्रीकृष्णके गुरुवर्ग। गुरुवर्ग हैं व्रजेश्वरी यशोदा, व्रजेश्वर नन्द, रोहिणी, वे सब गोपियाँ जिनके पुत्रोंका ब्रह्माने हरण किया था, देवकी, कुन्ती, वसुदेव और सान्दीपनी प्रभृति। इनमें यशोदा सर्वश्रेष्ठ हैं।

वात्सल्यके उद्दीपन हैं श्रीकृष्णके कौमारादि वयस, रूप, वेश, शैशव-चापल्य, मधुरवाक्य, मन्द हास्य और क्रीड़ादि। इसके अनुभाव हैं शिरोघ्राण, हस्त द्वारा अंगमार्जन, आशीर्वाद, निदेश, लालन, प्रतिपालन, हितोपदेश-दानादि।[1] इसके साधारण कार्य हैं चुम्बन, आलिंगन, नामग्रहणपूर्वक आह्वान आदि, व्यभिचारीभाव हैं अपस्मार और वे सभी व्यभिचारीभाव जो प्रीतभक्तिरसमें होते हैं।[2] इसके सात्विकभाव हैं सत्म्भादि अष्टसात्विक भाव और स्तन्यक्षरण।[3] इसका स्थायिभाव है अनुकम्पाकारोकी सम्भ्रम-हीना रति, जिसे वात्सल्य कहते हैं।[4]

वत्सलभक्तिरसका विकास भो रागको सीमा तक होता है।

मधुर-भक्तिरस

भक्तिके मुख्य रसोंकी यह विशेषता है कि जिस व्यक्तिके अपने भाव के अनुकूल जो रस होता है, उसे वही रसोंमें सबसे श्रेष्ठ प्रतीत होता है। पर तटस्थ होकर देखा जाय तो रसोंमें तारतम्य है। शान्त रससे दास्य, दास्यसे सख्य, सख्यसे वात्सल्य और वात्सल्यसे मधुररस श्रेष्ठ है। रसोंके इस क्रमके अनुसार प्रत्येक रसमें अपनेसे पूर्वके रसके सभो गुणोंके अतिरिक्त अपना कोई विशेष गुण है, जो पूर्वके रसमें नहीं है। मधुररसमें वे सभी गुण हैं, जो अन्य रसोंमें पाये जाते हैं और उनके अतिरिक्त अपना विशेष गुण है, जो अन्य किसी रसमें नहीं है।

श्रीमन्महाप्रभुने दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन चारों प्रकार की भक्तिका प्रचार किया है, जैसा कि चैतन्य-चरितामृतमें उनकी इस

---

१. वही ३।४।२५

२. वही ३।४।२७

३. वही ३।४।२५

४. वही ३।४।२८

उक्तिसे स्पष्ट है—'चारि भावेर भक्ति दिया नाचाइम् भुवन ।' परन्तु उनका विशेष दान है उन्नत, उज्ज्वल, रागात्मिका माधुर्यमयी भक्ति । इसलिये हम इसका पृथक्‌रूपसे विस्तारसे वर्णन करेंगे ।[1]

• • •

१. श्रीमद्‌भागवतमें भी मुख्यरूपसे मधुररसमयी भक्तिका ही वर्णन है। श्रीमद्‌भागवतके दशम स्कन्धको भागवतरूपी श्रीकृष्णका 'फुल्लमुखारविन्द' कहा गया है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने इसे भागवत-कृष्णका 'मंजूहास्य' कहा है। इस दशम स्कन्धमें भी रास-लीला सर्वलीला-मुकुटमणि है। श्रीसनातन गोस्वामीने रास-लीलाके पाँच अध्यायोंको भागवत-कृष्णके 'पंचप्राण' कहा है। इनमें दास्य, सख्य और वात्सल्यभावका कहीं वर्णन नहीं है। एकमात्र गोपियोंके मधुरभावका ही वर्णन है।

मधुर-भक्तिरस

मधुर-भक्तिरसको उज्ज्वलरस, कान्तारस और शृङ्गाररस भी कहते हैं।

प्रेम और काम

मधुररसके विषयमें कुछ कहनेसे पूर्व यह आवश्यक है कि इसके सम्बन्धमें आधुनिक जड़वादसे प्रभावित कुछ विद्वानोंके मनमें बैठी एक बड़ी भ्रांतिको दूर करनेकी चेष्टा की जाय। अप्राकृतरस और प्राकृतरसमें तथा गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओं और प्राकृत नायक-नायिकाओंकी क्रियाओंमें बाह्य दृष्टिसे साम्य होनेके कारण कुछ लोग गोपियोंके कृष्ण-प्रेम को कोरी कामुकतासे भिन्न और कुछ माननेको तैयार नहीं। उनका मत है कि गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी मधुर-लीलाएं अभद्र (vulgar)[१] और अनैतिक (immoral)[२] हैं और भक्तों द्वारा उनका चिन्तन एक प्रकारका कामोन्माद (sensual delirium)[३] है। एस. के. दे (S. K. De) के अनुसार यह चिन्तनके सूक्ष्म स्तरपर परोक्षरूपमें कामुकताका नंगा नाच है।[४]

सोचनेकी बात यह है कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु, जिन्हें सभी लोग त्याग और वैराग्यकी साक्षात् मूर्ति मानते हैं, कभी काम-लीलाओंके चिन्तनको

---

१. E. W. Hopkins . Ethics of India, Yale University Press, New Haven : 1924, p. 200.

२. John Makenzie : Hindu Ethics pp. 177-78.

३. Barth : Rcligions of India, p. 228.

४. S. K. De : Early History of Vaisnava Faith and Movement in Bengal, p. 418-19.

बात सोच सकते थे ? उनके सम्बन्धमें यह बात कितनी उपहास-जनक है यह उनके जीवनकी एक घटनासे स्पष्ट है। छोटे हरिदास उन्हें नीलाचलमें कीर्तन सुनाया करते थे। वे एकदिन भगवान् आचार्यके आदेशसे उनको (महाप्रभुकी) भिक्षाके हेतु वृद्धा तपस्विनी माधवीदासीसे चावल माँग लाये। जब उन्हें इसका पता चला तो उन्होंने छोटे हरिदासको सदाके लिये अपना मुख न दिखानेका आदेश दिया। स्वरूप दामोदर आदिने इस छोटेसे अपराधके लिये उन्हें इतना कठोर दण्ड न देनेका अनुरोध किया। तब उन्होंने कहा—“जो वैरागी होकर स्त्रीसे सम्भाषण करता है, उसका मुख मैं कदापि नहीं देख सकता।” एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनेपर भी जब छोटे हरिदासने देखा कि महाप्रभु उन्हें क्षमा करनेको तैयार नहीं, तो उन्होंने प्रयाग जाकर उनके चरणारविन्द प्राप्त करनेका संकल्प करते हुए गंगामें देह विसर्जन कर दिया और अदृश्य देहसे नीलाचलमें रहकर महाप्रभुको कीर्तन सुनाने लगे।[1]

मधुररसके सबसे बड़े आलोचक डा. दे ने भी स्वीकार किया है कि जहाँ तक महाप्रभु और उनके पारषदोंके बाह्य आचरणका प्रश्न है, वह आदर्शमय था और उसपर किसी प्रकार भी उँगली उठाना सम्भव नहीं। पर उनका कहना है कि चिन्तनके स्तरपर वह कामुकतासे परिपूर्ण था। इससे स्पष्ट है कि उनके विचारमें मनुष्यके आचार और विचार उसके व्यक्तित्वमें दो ऐसी इकाइयोंसे सम्बन्धित हैं, जिनका एक-दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे यह एक बड़ी भूल है। आचार और विचार मनुष्यके समूचे मस्तिष्ककी इकाईके बाह्य और आन्तरिक अभि-व्यंजक हैं। यह सम्भव ही नहीं कि किसी मनुष्यके आचार और विचारकी गति एक-दूसरेके बिलकुल विपरीत हो, आचरण बिलकुल स्वच्छ हो और विचार बिलकुल भ्रष्ट। श्रीमन्महाप्रभु, श्रीरूप सनातन और श्रीरघुनाथ-दासादिने अतुलनीय ऐश्वर्य और सांसारिक भोगविलासकी अपरिमित सुविधाओंका स्वेच्छापूर्वक परित्याग इसलिये नहीं किया था कि वे उनका मानसिक चिन्तन करें। वे अपने उपदेशों और ग्रन्थोंके माध्यमसे इस बात पर बार-बार बल देते हुए नहीं थकते कि श्रीकृष्णको व्रजगोपियोंके साथ मधुर लीलाएं, जिन्हें वे चिन्तनका सर्वोच्च विषय बताते हैं, सांसारिक नायक-नायिकाओंकी प्राकृत काम-क्रीड़ा नहीं हैं। वे उनकी अपनी ही

१. यह कीर्तन दूसरे लोग भी सुना करते। देखिये चै. च. ३।२।१०१-६४

ह्लादिनी शक्तिकी मूर्तिरूपा व्रजांगनाओंके साथ उनकी अप्राकृत लीलाएं हैं। आनन्दमग्न शिशु जिस प्रकार अपनी ही परछाईंसे खेलता हुआ किलकारियाँ मारता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण अतिशय आनन्दके उच्छवासमें अपनी ही ह्लादिनी शक्तिकी मूर्तियोंसे विविध प्रकारकी मधुर लीलाएं करते हैं। उन्हें काम इसलिये कहते हैं कि उनकी बाह्य चेष्टाएं प्राकृत नायक-नायिकाओंकी काम-क्रीड़ाके समान हैं। तत्वतः दोनोंमें बहुत अन्तर है। अप्राकृत वृन्दावन का काम अप्राकृत काम है, जिसका वास्तविक अर्थ है प्रेम। काम निबिण अन्धकार है, प्रेम निर्मल भास्कर है—

अतएव कामे प्रेमे बहुत अन्तर।
काम अन्ध तमः, प्रेम निर्मल भास्कर।[1]

काम आत्मसुखाभिलाषी है, प्रेम कृष्णसुखाभिलाषो है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥[2]

गोपियाँ कुलमान, मर्यादा, स्वर्गसुखाभिलाष और दुस्त्यज लोक-धर्म, वेदधर्म आदिका तृणके समान त्याग कर देती हैं केवल कृष्णके सुखके लिये। उनका प्रेम केवल लौकिक प्रेमका आदर्शरूप ही नहीं है। यह अलौकिक प्रेम है, जिसमें लौकिक प्रेमकी आत्मसुखाभिलाष और कुत्सित विषय-लोलुपताकी गन्ध भी नहीं है। लौकिक, निजेन्द्रिय-अभिलाषयुक्त प्रेम हृदयकी कलुषता को बढ़ाने वाला और भगवत्-पथ-विरोधी है। गोपियोंका प्रेम हृदयको निर्मल करनेवाला और जीवनकी सर्वोच्च आराध्य वस्तु है।

गोपी-प्रेममें प्राकृत काम-वासनाका तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि गोपियोंके देह और इन्द्रियाँ अप्राकृत, सच्चिदानन्दमय हैं और उनके हाव-भाव-कर्मादि भी अप्राकृत हैं। हम गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी मधुरलीलाओं को प्राकृत काम-क्रीड़ा इसलिये समझ बैठते हैं कि उनके लिये हमारे पास दूसरी भाषा न होनेके कारण, हम उनका वर्णन भी उसी भाषामें करते हैं, जिसमें साधारण काम-क्रीड़ाओंका करते हैं।

व्रजसुन्दरियोंके साथ श्रीकृष्णका मधुर विलास (आलिंगन-चुम्बनादि) साधारण नायक-नायिकाओंके कंदर्प-विलासके समान दीखनेपर भी उससे

---

१. चै. च. १।४।१४७
२. चै. च. १।४।१४१

सर्वथा भिन्न है,क्योंकि उसका आधार साधारण नायक-नायिकाओंके विलास के आधारसे भिन्न है। साधारण नायक-नायिकाओंके विलासका आधार है उनकी निजेन्द्रिय-तर्पणकी कुत्सित काम-वासना। व्रजसुन्दरियोंके श्रीकृष्णके साथ विलासका आधार है उनकी श्रीकृष्णेन्द्रियोंको तृप्तकर उन्हें सुखी करने की उनकी तीव्र लालसा। एकका आधार है विशुद्ध काम, दूसरेका आधार है विशुद्ध प्रेम। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने श्रीकृष्ण भावनामृत ९।६५ श्लोकमें मध्यान्ह-लीलामें राधाकृष्णके प्रथम मिलनके समय उनके आलिंगन-चुम्बनादिको प्रेमरूपी चन्द्रमाकी किरण कहा है। चन्द्रमाकी किरणें जिस प्रकार चन्द्रमासे भिन्न और कुछ नहीं हैं, उसी प्रकार राधा-कृष्णका आलिंगन-चुम्बनादि उनके उन्नत, उज्ज्वल प्रेमकी स्वाभाविक परिणति और उसके स्वाभाविक उन्नत, उज्ज्वल प्रकाशके सिवा और कुछ नहीं है। स्नेहमयी माँ द्वारा अपने बच्चेका चुम्बन-आलिंगन जिस प्रकार बाह्य-क्रियाके रूपमें कामुक व्यक्तियोंके चुम्बन-आलिंगनके सदृश प्रतीत होते हुए भी उसके वात्सल्य प्रेमका प्रकाश है,कामका नहीं,उसी प्रकार श्रीकृष्ण और गोपिकाओं का आलिंगन-चुम्बनादि कामुक व्यक्तियोंके आलिंगन-चुम्बन जैसा दीखनेपर भी, उनके प्रेमका प्रकाश है, कामका नहीं। साधारण नायक-नायिकाओंके विलास और गोपिकाओंके श्रीकृष्णके साथ विलासमें केवल क्रियाका साम्य है, भावका नहीं। गोपिकाओंका प्रेम अपने भावके कारण आलिंगन-चुम्बन जैसी विलासकी क्रियाओंको भी रतिमें परिणत करनेकी सामर्थ्य रखता है, इसीलिये उसे समर्था-रति कहते हैं।[1] इसीलिये कहा जाता है कि गोपिकाओं के काम और प्रेममें पूर्ण तादात्म्य है।

बाह्य दृष्टिसे प्राकृत काम-क्रीड़ा और अप्राकृत प्रेम-विलासमें साम्य स्वाभाविक है, क्योंकि श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुसार प्राकृत जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन मात्र है। इस सम्बन्धमें विशेष गूढ़ बात यह है कि प्राकृत जगत्की प्रतिफलित प्रतीति विपर्यय धर्मको प्राप्त होती है और उसमें चिज्जगत्को प्रत्येक वस्तुकी प्रतीति उलटी होती है, उसी प्रकार जिसप्रकार पानीमें मनुष्यके देहके प्रत्येक अंगकी प्रतीति उलटी होती है—पैरकी जगह सर और सरकी जगह पैरकी अनुभूति होती है। चिज्जगत्में जो सर्वोत्तम है, प्रतिफलनमें वह सर्वाधम है। जो लोग प्रतिफलित जड़ जगत्के आधार पर चिज्जगत्की कल्पना करते हैं, उनके लिये स्वाभाविक है कि वे चिज्जगत्

१. भ. र. सि. १।२।८४ की जीवगोस्वामीकी टीका।

की सर्वोच्च और सर्वाधिक उपादेय वस्तुको सबसे हेय और सबसे हेय वस्तु को सर्वाधिक उपादेय समझें। चिज्जगत्‌की परम वस्तुमें जो अद्‌भुत विचित्रतागत, मधुरातिमधुर-लीलागत, अति चमत्कारितामय सुख है वही परमरस है। जड़बद्ध जीव जड़बुद्धिके आधारपर उस विचित्रतापूर्ण जगत्‌में औपाधिकत्वकी और निर्विशेष, निष्क्रिय सत्ताकी परम सत्ताके रूपमें कल्पना करता है। चिज्जगत्‌के निम्नतम भागमें शान्तरसरूप निर्गुण ब्रह्मलोक है, उसके ऊपर दास्यरस और वैकुण्ठ, उसके ऊपर गोलोकका सख्यरस, उसके ऊपर वात्सल्यरस और उसके ऊपर मधुररस है। जड़ जगत्‌में विपर्यस्त मधुर रस सबसे नीचे है, वात्सल्यरस उससे ऊपर, सख्यरस उससे ऊपर, दास्यरस उससे ऊपर और शान्तरस सबसे ऊपर। इसलिये जो लोग अपने जड़स्वभाव का आश्रय लेकर चिज्जगत्‌की रसवैचित्रीके सम्बन्धमें विचार करते है, उनके लिये मधुररसको हेय मानना स्वाभाविक है। वस्तुतः चिज्जगद्‌में मधुररस शुद्ध, निर्मल और अद्‌भुत माधुर्यसे परिपूर्ण है। उसकी निर्मलता इस बातसे भी सिद्ध है कि चिज्जगत्‌में केवल कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं और सब भोग्य हैं। जड़ जगत्‌में कोई जीव भोक्ता है, कोई भोग्य। यह तत्वतः जीवके स्वभावके प्रतिकूल है। तत्वतः जीवमात्र प्रभुका भोग्य है। इसलिये जिस रसमें जीव भोक्ता है वह रस ही नहीं। वह तो जड़ीय स्त्री-पुरुषके जड़-देह से सम्बन्धित अत्यन्त घृणित और लज्जास्पद व्यापारमात्र है।

अप्राकृत वृन्दावनके अप्राकृत काम या उज्ज्वल शृङ्गाररसको तब तक समझना कठिन है, जबतक हम अपने जड़ीय संस्कारोंसे मुक्त नहीं हो जाते। तबतक उसका मूल्यांकन हमें उन ऋषियोंके वाक्योंकी कसौटीपर ही करना चाहिये, जिन्होंने मुक्तावस्थामें उसका अनुभव किया है। शुकदेव जीने श्रीमद्भागवतमें कहा है कि गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी मधुर-लीलाका प्राकृत काम-क्रीड़ा होना तो दूर, वह प्राकृत-काम-रोगसे मुक्ति पानेके लिये एक महौषधि है—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥[1]

---

1. भा. १०।३३।४०

यदि गोपियोंके कृष्ण-प्रेममें प्राकृत कामकी गन्ध भी होती, तो श्रीकृष्णके परमप्रिय उद्धव जैसे ज्ञानी भक्तने जो गोपियोंको ज्ञानका उपदेश करने वृन्दावन गये थे, स्वयं गोपी प्रेमकी कामना क्यों की होती ? तो, जैसा पद्म-पुराणमें उल्लेख है, स्वयं श्रुतियोंने उस मधुररसका आस्वादन करनेके लिये गोपियोंके रूपमें वृन्दावनमें जन्म क्यों न लिया होता ? मरणासन्न राजा परीक्षित और सहस्र-सहस्र ऋषि-मुनियोंकी सभामें श्रीशुकदेवने भी तब उसका वर्णन क्यों किया होता ?

मधुररसके आलम्बन

मधुर-भक्तिरसके आलम्बन हैं श्रीकृष्ण और उनकी प्रेयसीगण। श्रीकृष्ण हैं विषयालम्बन और प्रेयसीगण आश्रयालम्बन।

नायक-भेद

प्राकृतरसकोविदगणोंने साहित्यदर्पणादि ग्रन्थोंमें मधुररसके आलम्बनोंमें बहुत प्रकारके नायक-नायिकाओंका वर्णन किया है। प्राकृत मधुर रसमें गुणादि-भेदके कारण भिन्न-भिन्न नायक भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें आते हैं। पर अप्राकृत मधुररसकी विलक्षणता यह है कि इसमें नायक एक श्रीकृष्ण ही हैं और वे ही भिन्न-भिन्न लीलाओंके समय भिन्न-भिन्न प्रेयसियों के सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नायकके रूपमें प्रकट होते हैं। अप्राकृत मधुररसमें नायक-भेद इसी दृष्टिसे स्वीकार किया गया है। गुण और कर्म के भेदसे नायक चार प्रकारके हैं—

(१) धीरोदात्त नायक, अर्थात् वह नायक जो गम्भीर प्रकृतिका, क्षमाशील, करुण, सुदृढ़व्रत, अतिशय बलवान और आत्मश्लाघाशून्य है,[१]

(२) धीरललित नायक, अर्थात् वह नायक जो विदग्ध (रसिक) नवतरूण, परिहासपटु, निश्चिन्त एवं प्रायशः प्रेयसीवशीभूत है,[२]

(३) धीरशान्त नायक, अर्थात् वह नायक जो शान्त प्रकृतिका क्लेश सहिष्णु, विवेचक और विनयादिगुण-सम्पन्न है,[३]

---

१. भ र. सि. २।१।१२०

२. वही २।१।१२३

३. वही २।१।१२५

(४) धीरोद्धत नायक, अर्थात् वह नायक जो मात्सर्ययुक्त, अहंकारी, मायावी, क्रोधयुक्त, चंचल और आत्मश्लाघी है।[1]

शंका हो सकती है कि श्रीकृष्णमें मात्सर्यादि दोष किस प्रकार हो सकते है ? वास्तविकता यही है कि श्रीकृष्णमें किसी प्रकारके दोषकी कोई सम्भावना नहीं है। यद्यपि उनमें मात्सर्यादि दोषरूपमें प्रतीयमान होते हैं, तथापि लीला-विशेषकी पुष्टिके लिए उनमें वे सब दोष गुण रूपमें ही गृहीत होते हैं—

मात्सर्याद्याः प्रतीयन्ते दोषत्वेन यदप्यमी।
लीलाविशेषशालित्वान्निर्दोषेऽत्र गुणाः स्मृताः ॥
(भ. र. सि. २।१।१२७)

उदाहरणरूपसे उन्होंने जगत्के कल्याणके लिये असुरोंका संहार किया है, पर साथ ही उन असुरोंको मुक्ति भी दी है। इस प्रकार उनमें हिंसारूपी दोष भी गुणमें ही परिणत हुआ है। उन्होंने गीता (९।२९) में कहा है कि वे सर्वभूतोंमें सम हैं, उन्हें न किसीसे द्वेष है, न किसीसे प्रीति, फिर भी भक्तों के प्रति उनकी अत्यधिक प्रीति है। यहाँ वैषम्यरूपी दोष प्रतीयमान होता है, पर वह भी उनका भक्तवात्सल्यमय गुण ही है।

उज्ज्वलनीलमणिमें उपरोक्त चार प्रकारके नायकोंमेंसे प्रत्येकके तीन भेद किये हैं—पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्ण। उन बारह प्रकारके नायकोंमें से प्रत्येकके दो भेद किये हैं—पति और उपपति। फिर उन चौबीस प्रकारके नायकोंमें से भी प्रत्येकके चार भेद किये हैं—अनुकूल, दाक्षिण, शठ एवं धृष्ट। इस प्रकार नायकोंके कुल भेद हैं छियान्नबे। विस्तारके भयसे हम उनमेंसे प्रत्येकका वर्णन नहीं कर रहे हैं।

नायिका भेद

श्रीकृष्णकी प्रेयसियोंको कृष्णवल्लभा कहते हैं। श्रीकृष्णसे अपने सम्बन्धके अनुसार वे दो प्रकारकी हैं—स्वकीया और परकीया। स्वकीया वे हैं, जो पाणिग्रहण-विधिके अनुसार प्राप्त हुई हैं और जो पातिव्रत्य धर्मसे कभी विचलित नहीं होतीं।[2] परकीया वे हैं, जो नायकके प्रति अपनी

१. वही २।१।१२७

२. उ. नी. म., कृष्णवल्लभा ३

बलवती आसक्ति-जनित तन्मयताके कारण शास्त्र-विधि, लोक-निन्दा, इहलोक, परलोकादिकी चिन्ता न कर नायकको आत्मसमर्पण करती हैं और जिन्हें नायक भी उनके प्रति उसी प्रकारकी आसक्तिके कारण उसी प्रकार अंगीकार करनेको बाध्य होता है।

द्वारकाकी सोलह हजार एक सौ आठ महिषियाँ सभी श्रीकृष्णकी स्वकीया कान्ता हैं। इनमें रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, शैब्या, भद्रा, कौशल्या और माद्री आठ प्रधान हैं। इन आठोंमें भी रुक्मिणी और सत्यभामा श्रेष्ठ हैं। रुक्मिणी-सत्यभामादि श्रीकृष्णकी नित्यसिद्धा स्वकीया कान्ता हैं; परन्तु अप्रकट द्वारकामें उनका स्वकीयात्व विवाह-विधि-सिद्ध नहीं है। वहाँ उनका स्वकीयात्व अभिमानजात है। उन्हें अनादिकालसे स्वाभाविकरूपसे यह अभिमान है कि वे श्रीकृष्णकी स्वकीया कान्ता हैं और श्रीकृष्णको भी यह स्वाभाविक अभिमान है कि वे उनके स्वकीया पति हैं।

परकीया कान्ता दो प्रकारकी है—कन्यका और परोढ़ा। कन्यका वे हैं, जिनका विवाह नहीं हुआ है। इनमेंसे कात्यायनीव्रत-परायणा वे गोपकन्याएं भी जिन्हें श्रीकृष्णने पत्नीरूपमें अंगीकार किया था, परकीया ही हैं, क्योंकि उनके विवाहकी बात और कोई नहीं जानता था और उनके साथ मिलनमें वही विघ्न-बाधाएं थीं, जो परकीयाके साथ मिलनमें हुआ करती हैं।

परोढ़ा वे हैं, जिनका अन्य गोपोंके साथ विवाह हो चुका है, पर जो अप्रसूतिका हैं अर्थात् जिनके सन्तान नहीं जन्मी है और जो श्रीकृष्णके साथ सम्भोगके लिये लालसा रखती हैं।[1]

परोढ़ा कृष्ण-कान्ताएं तीन प्रकारकी हैं—साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया। साधनपरा हैं—(१) ऋषिचरी गोपियाँ, अर्थात् वे दण्डकारण्यवासी मुनिगण, जिन्हें रामचन्द्रको देखकर कृष्ण विषयनी रति उद्बुद्ध हुई थी और जिन्होंने साधनाके फलस्वरूप व्रजमें गोपीरूपमें जन्म ग्रहण किया था, (२) श्रुतिचरी गोपियाँ, अर्थात् वे सब उपनिषद् (श्रुत्याभिमानिनी देवीगण) जिन्होंने गोपियों जैसा सौभाग्य प्राप्त करनेके उद्देश्यसे तपस्या

१. श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने उज्ज्वलनीलमणि, कृष्णवल्लभा २४ की व्याख्या में लिखा है कि योगमायाके प्रभावसे ये गोपकन्याएं रजस्वला ही नहीं होती थीं।

द्वारा व्रजधाममें जन्म प्राप्त किया था, (३) अन्य रागानुगीय साधक जो समय-समयपर गोपीरूपसे व्रजमें जन्म ग्रहण करते हैं।

देवी श्रीकृष्णकी नित्य प्रेयसियोंकी अंश हैं, जो श्रीकृष्णके अंशरूपसे स्वर्गमें अवतीर्ण होनेपर उनके साथ स्वर्गमें अवतीर्ण होती हैं और स्वयंरूप से उनके ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण होनेपर व्रजमें गोप-कन्याओंके रूपमें जन्म लेती हैं।[1]

नित्य प्रेयसियाँ हैं राधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, भद्रिका, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा और पालिकादि। इनमें मुख्या हैं राधा और चन्द्रावली, जो सौन्दर्य-वैदग्ध्यादिमें श्रीकृष्णके समान हैं। इन दोनोंमें भी राधा श्रेष्ठा हैं। वृद्धगौतमीयतन्त्रमें राधाके सम्बन्धमें कहा है—

"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा।।

नित्य प्रेयसियोंमें से विशाखा, ललिता, पद्मा एवं शैव्या, इन चारोंको छोड़कर सभी यूथेश्वरी हैं। उनके यूथोंमें एक-एकमें लाख-लाख वराङ्गनायें हैं। ललिता-विशाखादि चारों सखियाँ यूथेश्वरी होनेके योग्य हैं, पर राधिका और चन्द्रावलीकी प्रीतिके लोभके कारण उन्होंने सखीत्व ही अंगीकार किया है। ललिता और विशाखा राधाकी सखियाँ हैं, शैव्या और पद्मा चन्द्रावली की सखियाँ हैं।

कृष्णवल्लभाओंके प्रत्येक यूथमें पाँच प्रकारकी सखियाँ हैं, जिन्हें सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमप्रेष्ठसखी कहते हैं। इनमें परमप्रेष्ठ सखियाँ सर्वप्रधाना हैं। यूथोंमें राधाका यूथ सर्वश्रेष्ठ है। इस यूथकी सभी सुन्दरियाँ सर्वगुणमण्डिता और श्रीकृष्णको आकर्षण करने-वाली हैं। इसकी परमप्रेष्ठ सखी हैं—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी और सुदेवी, जो सब सखियोंमें प्रधाना हैं।

स्वभाव-वैचित्रीके अनुसार नायिकाएं तीन प्रकारकी हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धा वे हैं जिनकी नवीन वयस है, जो रति-विषयमें बामा और लज्जाशीला पर गोपनभावसे यत्नवती हैं, जो नायकसे अपराध

१. उ. नी. म. कृष्णवल्लभा ३२

होनेपर सजल-नयन उसकी ओर निहारती भर रहती हैं, उसे कोई अप्रिय बात नहीं कह पातीं और मान करनेमें नितान्त असमर्थ हैं।[1] मध्या वे हैं जिनमें लज्जा और मदन समानरूपसे वर्तमान हैं,जिनका तारुण्य प्रकाशमान है, जिनकी वाणी किंचित् प्रगल्भ है, जो सुरत विषयमें आनन्दमूर्च्छाको प्राप्त होती हैं और जो मानमें कभी कोमला और कभी कर्कशा हैं।[2] प्रगल्भा वे हैं, जो पूर्ण-तारुण्या, मदान्धा, सुरत-व्यापारमें अति उत्सुका, नानाविध भाव-प्रकटनमें निपुणा और प्रेममें प्रियतमको आक्रमण करनेमें समर्था हैं, जिनके वाक्य और चेष्टायें अतिशय प्रौढ़ हैं और जो मानमें अति कर्कशा हैं।

मानके अनुसार नायिकाएं तीन प्रकारको कही गयी हैं—धीरा, अधीर और धीराधीरा। धीरा वे हैं, जो अपराधी प्रियका उपहास करते हुए उसके प्रति वक्रोक्तिका प्रयोग करती हैं। अधीरा वे हैं, जो निष्ठुर वाक्य द्वारा प्रियतमको निरस्त कर देती हैं। धीराधीरा वे है जो अश्रुमोचन पूर्वक प्रियतमके प्रति वक्रोक्तिका प्रयोग करती हैं।[3]

उज्ज्वलनोलमणिमें श्रीरूपगोस्वामीने और भी कई प्रकारके नायिका-भेदोंका वर्णन किया है। उन्होंने प्रत्येक नायिकाकी आठ प्रकारकी अवस्थाओं का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

(१) **अभिसारिका नायिका**, जो नायकको अभिसार कराती है, या स्वयं अभिसार करती है, अर्थात् गोपनमें नायकसे मिलनेके लिये गमन करती है।

(२) **वासकसज्जा नायिका**, जो कान्तके आगमनकी आशामें अपने देह और गृहको सजाती है।

(३) **उत्कण्ठिता नायिका**, जो निरपराध प्रियतमके बहुत समयतक न आनेपर उसके अनुगमनके लिये उत्सुका रहती है।

(४) **खण्डिता नायिका**, जो नायकके पूर्वसंकेतित काल अतिक्रमण कर अन्य प्रेयसीका उपभोग करनेके पश्चात् अपने अंगमें भोगचिन्ह धारण कर प्रात:काल आनेपर उसके प्रति क्रोध करती है।

---

१. उ. नी. म. कृष्णवल्लभा, ११

२. वही, १७

३. उ. नी. म., नायिकाभेद

(५) **विप्रलब्धा नायिका,** जो नायकके संकेत करनेके पश्चात् दैवात न आनेपर व्यथित होती है।

(६) **कलहान्तरिता नायिका,** जो सखियोंके सामने पादपतित वल्लभ को क्रोधमें भरकर गृहसे निकाल देनेपर पीछे अनुताप करती है।

(७) **प्रोषित भर्तृका नायिका,** जिसके कान्त दूर देश गये होते हैं।

(८) **स्वाधीन भर्तृका नायिका,** जिसके कान्त उसके आधीन रहते और सर्वदा उसके निकट अवस्थानकर जलकेलि, बन विहार, कुसुम-चयनादि करते हैं।

मधुर-रस के सहाय

अप्राकृत मधुररसके नायक हैं श्रीकृष्ण और नायिकाएं हैं यूथेश्वरी व्रजसुन्दरीगण। नायक और नायिकाका मिलन करानेके लिये और रसके परिपोषणके लिये सहायकोंकी आवश्यकता होती है।

नायक-सहाय

सखा—श्रीजीवगोस्वामीके अनुसार अप्राकृत मधुर-भक्तिरसके नायक श्रीकृष्णके सहायक भी सब श्रीकृष्णके समान किशोर गोपबालक हैं, परन्तु योगमायाके प्रभावसे केलि-विषयमें क्लीववत् पौरुषभावहीन हैं।[1] श्रीकृष्णके सहाय पांच प्रकारके हैं—

(१) चेट, जो सन्धान विषयमें चतुर हैं और जिनकी बुद्धि अति प्रगल्भा है, जैसे भंगूर, भृङ्गार प्रभृति।[2]

(२) विट, जो वेशरचना और उपचार-संग्रह में पटु, गोष्ठी-विशारद और कामतन्त्रकलावेदी (कामतन्त्रीय मोहन-मन्त्रादिके प्रयोग में निपुण) हैं, जैसे कड़ार, भारतीबन्ध इत्यादि।[3]

(३) विदूषक, जो भोजनभट्ट, प्रणयकलह-प्रिय, और अंग, वाक्य तथा वेशकी विकृतिके द्वारा हास्योत्पादनमें समर्थ हैं, जैसे मधुमंगल।[4]

---

१. उ. नी. म.; सहाय भेद १ की टीका

२. उ. नी. म., सहाय-भेद १

३. वही, २

४. वही, ३

(४) पोठमर्द, जो नायकके समान गुणवान हैं और प्रेमवश नायककी ही अनुवृत्ति करते हैं, जैसे श्रीदाम।[1]

(५) प्रियनर्मसखा, जो श्रीकृष्ण और कृष्ण-प्रेयसियोंके सम्बन्धमें अति गोपनीय विषय भी जानते हैं और सखीभाव-समाश्रित होनेके कारण उनका मिलन करानेमें तत्पर रहते हैं, जैसे सुबल और अर्जुन।[2]

दूती—पूर्व रागकी अवस्थामें नायक और नायिकाओंके एक-दूसरेसे मिलने की प्रबल इच्छा होती है। मिलनके उद्देश्यसे परस्पर भाव-विनिमय की आवश्यकता होती है। जो रमणियां भाव-विनिमयमें सहायक होकर मिलन करातीं हैं, वे दूती कहलाती हैं। श्रीकृष्णकी दूतियां दो प्रकारको हैं—स्वयं-दूती और आप्त-दूती। स्वयं-दूतो हैं नायिकाओंके प्रति उनके कटाक्ष और वंशीध्वनि। यद्यपि ये नर-नारी नहीं है स्वयं दूती के साधारण लक्षण इनमें वर्तमान हैं। जो दूती प्राण जाने परभी विश्वास भंग नहीं करती और जो अत्यन्त स्नेहवती और वाक्य-प्रयोग में निपुण है, उसे आप्त-दूती कहते हैं।[4]

नायिका-सहाय

सखी—जो रमणियां रूप, गुण, वेश, वयसादिमें एक-दूसरेके समान हैं, एक-दूसरेकी विश्वास-भाजन हैं और एक-दूसरेसे अपनेसे भी अधिक स्नेह करती हैं, उन्हें सखी कहते हैं।[5] ब्रज की सखियां प्रेमकल्पलतिका तुल्य राधाकी शाखा-प्रशाखा, पत्र-पुष्प, तथा उनकी कायव्यूहरूपा हैं। वे राधा-गाविन्दकी प्रेम-लीला और विहारादिकी विस्तारकारिणी हैं। लताके मूलमें जल देनेसे जिस प्रकार शाखा-प्रशाखाकी तृप्ति होती है, उसी प्रकार राधा-कृष्णका मिलन करानेमें सखियोंके आनन्दकी वृद्धि होती है। राधाका कृष्णके साथ संगम करानेसे उन्हें जो सुख होता है, वह कृष्णके साथ उनके अपने संगम-सुखसे भी कोटिगुना अधिक है। इसलिये सखियां श्रीकृष्णकेसाथ अंग-संग नहीं चाहतीं, यद्यपि राधा किसी छलसे श्रीकृष्णसे उनका संगम करा

१. वही, ४
२ वही, ७
३. वही, ११
४. उ. नी. म. दूती २८,
५. वही, ३४

और श्रीकृष्ण को अनन्त कान्तारस-वैचित्रीका आस्वादन कराकर अपरिमित आनन्दका अनुभव करतीं हैं।

यहाँ कह देना उचित होगा कि कामरूपा भक्तिके दो भेद हैं—सम्भोगेच्छामयी और तद्भावेच्छात्मिका।[1] नायिकाएँ सम्भोगेच्छामयी हैं और सखियां तद्भावेच्छामयी।

दूती—श्रीकृष्णकी तरह यूथेश्वरियोंकी भी दूती दो प्रकार की हैं—स्वयं-दूती और आप्त-दूती। जो यूथेश्वरी श्रीकृष्जके प्रति अनुरागके कारण अतिशय विमोहित हो और उनसे मिलनेके अतिशय औत्सुक्यके कारण लज्जा खो बैठी हो, वह यदि उनके प्रति स्वयंही अभिप्राय प्रकाश करे, तो उसे स्वयं-दूती कहते हैं।[2] स्वयं अभिप्रयाय तीन प्रकारसे प्रकाश किया जाता है—वाचिकरूपसे, आंगिकरूपसे, अंगविशेष की भंगोविशेषद्वारा, या चाक्षुषरूप से कटाक्षादि द्वारा। जो दूती प्राणान्त होने पर भी विश्वास भंग नहीं करती और जो स्नेहशीला तथा वाक्य-प्रयोगमें निपुण है, उसे ब्रजसुन्दरियोंको आप्त-दूती कहते हैं।[3]

ब्रजसुन्दरियों के चार पक्ष

ब्रजसुन्दरियोंके चार पक्षोंका उज्ज्वलनीलमणिमें वर्णन है—स्वपक्ष, प्रतिपक्ष और तटस्थ। जो ब्रजसुन्दरियां एक ही यूथेश्वरीके यूथमें अवस्थान करती हैं, उन्हें उस यूथेश्वरीकी स्वपक्षा कहते हैं। स्वपक्षाका भाव यूथेश्वरी के भावका समजातीय होता है, यद्यपि परिमाणमें स्वपक्षाका प्रेम यूथेश्वरीके प्रेमसे कम होता है। स्वपक्षा स्वभावसे यूथेश्वरीका इष्ट-साधन और अनिष्ट-निवारण करती है। जिसके प्रति यूथेश्वरी प्रीति पोषण करती है, उसके प्रति वह भी प्रीति-पोषण करती है, जिससे यूथेश्वरी द्वेष करती है, उससे वह भी द्वेष करती है। ललितादि राधाकी स्वपक्षा हैं। राधाका स्नेह मधु-स्नेह है। ललितादिका स्नेह भी मधु स्नेह है।

जिस सुन्दरीके भावमें यूथेश्वरीके भावसे अधिकतर साजात्य होता है, पर किञ्चित् वैजात्य होता है, उसे उस यूथेश्वरीको सुहृत्पक्षा कहते हैं। जैसे श्यामलाके भावमें किञ्चित् मिश्रण हैं। इसलिये वह राधाकी सुहृत्पक्षा है।

---

१. भ. र. सि. १।२।२९९

२. उ. नी. म. दूती २

३. वही, २८

जो सुन्दरियाँ परस्पर विद्वेषभावापन्न होती हैं, उन्हें एक-दूसरेका विपक्ष कहते हैं। विपक्षा एक-दूसरेकी इष्टहानि और अनिष्ट-साधन करती हैं। राधा और चन्द्रावली परस्पर विपक्षा हैं।

विपक्षके सुहृत्पक्षको तटस्थ कहते हैं। श्यामला राधाकी सुहृत् है और चन्द्रावलीकी तटस्था। वह राधाका इष्ट-साधन और अनिष्ठ-निवारण करती है, परन्तु राधा जिस प्रकार चन्द्रावलीके प्रति ईर्ष्या-विद्वेषादि रखती हैं, उस प्रकार वह उसके प्रति ईर्ष्या-विद्वेष नहीं रखती। साथ ही वह चन्द्रावलीके सुखमें सुखी और दुःखमें दुःखी नहीं होती।

यहाँ एक शंका स्वाभाविक है। व्रजसुन्दरियाँ कोई भी तो अपना सुख नहीं चाहतीं। उनका सभीका एकमात्र काम्य है श्रीकृष्ण-सुख। तब उनमें स्वपक्ष, विपक्ष और ईर्ष्या-द्वेषादि कैसा ? इसका उत्तर श्रीरूप-गोस्वामीने यह दिया है कि रस-वैचित्री सम्पादनकर श्रीकृष्णको सुखी करनेके उद्देश्यसे श्रृङ्गाररस मूर्ति परिग्रहकर अपने परिवार-स्वरूप ईर्ष्या-विद्वेषादिको व्रजसुन्दरियोंके हृदयमें निक्षेप करता है और उनमें स्वपक्ष-विपक्षादिकी सृष्टि करता है।[1] ईर्ष्यादि हैं श्रृङ्गार-रसके संचारी भाव। संचारी भाव श्रृङ्गार-रतिको परिपुष्टकर रसमें परिणत करता है। इसके अतिरिक्त ईर्ष्यादि व्रजसुन्दरियोंकी बाह्यवृत्तिमें ही उदित होते हैं, उनकी अन्तर्वृत्तिको वे स्पर्श भी नहीं करते। यह बात व्रजसुन्दरियोंके कृष्णसे वियोगके समय (उनके मथुरागमनके समय) भली-भाँति जानी जाती है। उस समय उनमें परस्पर ईर्ष्या-द्वेषादिकी जगह परस्पर स्नेह ही देखनेमें आता है।

मंजरी

राधाकी सखियाँ दो प्रकारकी हैं—समस्नेहा और असमस्नेहा। जिनका राधा और कृष्णके प्रति समान स्नेह है, वे समस्नेहा हैं,जैसे ललिता-विशाखा। असमस्नेहा दो प्रकारकी हैं—कृष्णस्नेहाधिका, जिनका राधाकी अपेक्षा कृष्णके प्रति स्नेह अधिक है, जैसे धनिष्ठादि और राधास्नेहाधिका, जिनका कृष्णकी अपेक्षा राधाके प्रति स्नेह अधिक है। राधा स्नेहाधिका 'मंजरी' कहलाती हैं। यह हैं रूपमंजरी आदि। मंजरियोंका राधास्नेहाधिक्यमय स्थायीभाव 'भावोल्लासारति' कहलाता है। कृष्णके प्रति उनकी रति उनका संचारीभाव है।

---

१. उ. नी. म. २८

मंजरियोंकी विशेषता है उनकी विलक्षण भावशुद्धि। सखियाँ राधा के अतिशय आग्रहसे कभी-कभी श्रीकृष्णका अंग-संग स्वीकार भी कर लेती हैं। पर मंजरियाँ राधाकृष्ण-सेवानन्द-रस-माधुर्य आस्वादनमें इतना तल्लीन रहती हैं कि वे राधाकृष्णके अनुरोधपर भी कभी स्वप्नमें भी कृष्ण-अंग-संगकी वांछा नहीं करतीं। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीने वृन्दावन महिमामृतमें मंजरीके भावको इस प्रकार व्यक्त किया है—

"अनन्य श्रीराधापदकमलदास्यैक रसधीर्हरेः
सङ्गे रङ्गे स्वप्नसमयेनापिदधति।
बलां कृष्णे कूर्पासिकभिदि किमप्याचरित काप्य-
दश्रर्मे वेति प्रलपति ममात्मा च हसति॥
(वृन्दावन महिमामृत, १६।६४)

—जो राधापदकमल-दास्यरस में ही अनन्यचित्ता हैं, वे स्वप्नमें भी कभी श्रीकृष्णके साथ रंग स्वीकार नहीं करतीं। देखो न, श्रीकृष्ण किसी मंजरीकी कंचुकादि छिन्न-भिन्न करते हुए आचरण कर रहे हैं और वह अश्रु-युक्ता हो 'ना-ना' कह प्रलाप कर रही है। मेरी आत्मा, प्राणस्वरूपिणी राधा यह देख हास्य कर रही हैं।"

वास्तविकता यह है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इत्यादि श्लोकके अनुसार श्रीकृष्णको भी मंजरीके अंग-संगकी इच्छा नहीं होती। ललितादि सखियों के अंग-संगकी इच्छा उन्हें इसलिये होती है कि राधारानीके अतिशय आग्रह के कारण उनमें श्रीकृष्ण-अंग-संग सेवाकी स्पृहाका जागरण हो आता है। पर मंजरियोंकी भाव-शुद्धि इतनी विलक्षण है कि राधारानीके आग्रहपर भी उनमें इस सेवाकी इच्छाका जागरण नहीं होता। राधाकृष्ण उनकी निष्ठा की परीक्षा करनेके लिये ही कभी-कभी उनके प्रति इस प्रकारका आचरण करते हैं।

इस विलक्षण भाव-शुद्धिके कारण मंजरीगणको राधाकृष्णकी जिस गोपनीय सेवाका अधिकार और सौभाग्य प्राप्त है, वह ललितादि सखियोंको नहीं होता। वे उनकी केलिभूमिमें असंकुचित भावसे गमनागमन कर उनकी गोपनीय सेवा करके धन्य होती हैं। ललितादि सखियोंका वहाँ प्रवेश भी नहीं है।

मंजरी भाव की उपासना और श्रीमन्महाप्रभु

श्रीरूपमंजरी आदि प्रमुखा मंजरियोंके आनुगत्यमें अपने अन्तश्चिन्तित

सिद्ध देहसे राधा-कृष्णकी सेवा करना ही श्रीमन्महाप्रभुके आदेशानुसार गौड़ीय-वैष्णव साधकोंका मुख्य भजन है—बाहर साधक देहसे श्रवण, कीर्तनादि करना और अन्तरमें सिद्ध देह (मंजरी-स्वरूप) की भावनाकर उसके द्वारा लीला-परिकर मंजरीके आनुगत्यमें राधा-कृष्णकी अष्टकालीन सेवा करना।

इस प्रकार भावना करते-करते साधकका नित्यसिद्ध लीला-परिकर मंजरीगणके साथ 'साधारणीकरण' हो जाता है, अर्थात् नित्यसिद्ध लीला-परिकरके साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह राधारानीके चतुर्विध विप्रलम्भरस और चतुर्विध सम्भोगरसका आस्वादन करता है।

भक्त-समाजको मंजरी-भावकी उपासना श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके परिकरोंकी विशेष देन है। मधुर भावकी उपासनाका उल्लेख तो पद्मपुराण, पाताल खण्डमें मिलता है। आचार्य निम्बार्क स्वामी, जयदेव, चंडीदास और विद्यापति आदि ने भी इसका उल्लेख किया है। पर मंजरी भावकी साधना का श्रीमन्महाप्रभुसे पूर्व किसीने उल्लेख नही किया। श्रीरूपगोस्वामीने प्रथम बार उज्ज्वलनीलमणिमें मंजरीभावकी उपासनाके वैशिष्टयका स्पष्ट रूपसे वर्णन किया है। उनकी 'स्तवमाला', श्रीरघुनाथदास गोस्वामीकी 'स्तवावली' श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकी 'संकल्प कल्पद्रुम' और श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय की 'प्रेमभक्ति-चन्द्रिका' भी मंजरी भावरससे परिपूर्ण हैं।

मधुर-रसके भेद

मधुर-रस दो प्रकारका है—विप्रलम्भ और सम्भोग।

विप्रलम्भ

विप्रलम्भ नायक और नायिकाकी उस अवस्थाको कहते हैं, जिसमें वे एक-दूसरेके निकट नहीं होते, या निकट होते हुए भी अपना अभीष्ट आलिंगनादि प्राप्त नहीं कर सकते। इस अवस्थामें परस्पर मिलन या आलिंगनादिकी भावना निरवच्छिन्न बनी रहती है, जो उनकी रति या स्थायिभाव को परमोत्कर्षता प्रदान करती है। इसलिये विप्रलम्भके पश्चात् जो सम्भोग होता है वह परमोत्कर्षमय होता है। इसीलिये विप्रलम्भको सम्भोगका पुष्टि-कारक कहा है।

परन्तु विप्रलम्भ केवल सम्भोगका पुष्टिकारक ही नहीं, स्वयं रस भी है। विप्रलम्भमें नायक और नायिकाके निबिड़तम पारस्परिक स्मरण-चिंतन के फलस्वरूप स्फूर्तिमें परस्परके निकट परस्परका आविर्भाव होता है। उस अवस्थामें जो परस्परका मानसिक, चाक्षुष और कायिक आलिंगन-चुम्बनादि होता है, वह सम्भोगकी अवस्थाके आलिंगन-चुम्बनादिकी अपेक्षा अधिक चमत्कारमय होता है। इसलिये विप्रलम्भको सम्भोग-पुञ्जमय कहा है। सम्भोगमें एकही कृष्णका अनुभव होता है, विप्रलम्भमें विश्व कृष्णमय होता है। अनुभवी व्यक्तियोंने सम्भोग और विप्रलम्भके बीच विप्रलम्भको ही वरणीय कहा है।

विरह-दशामें साधककी अवस्था बाहरसे देखनेपर अत्यधिक दुःखमय प्रतीत होती है। माधुर्य-कादम्बिनीमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—उस समय साधकको बान्धवगण अन्धकूपके समान, भवन कंटकबनके समान, आहार प्रहारके समान, अपनी प्रशंसा सर्पदंशनके समान, प्रात्यहिक कृत्य कर्तव्य मरणके समान, यहाँ तक कि भगवत-चिन्तन आत्मनिकृन्तनके समान प्रतीत होता है। दुःख न सह सकनेके कारण वह कभी-कभी मोह-दशा (मूर्च्छा) को प्राप्त होता है।

पर साधकके अन्तरमें विरहकी दशामें जिस रसका उत्स फूटता है, वह सम्भोग रससे कितना उत्कृष्ट है, इस बातसे जान पड़ता है कि विरह की अनुभूति प्रलयरूपी अंतिम सात्विक भावकी गाढ़ अनुभूतिसे भी गाढ़तर होती है। प्रलयकी अवस्था जाड्य और स्तम्भसे गाढ़तर है, क्योंकि जाड्य और स्तम्भमें बहिरेन्द्रिय व्यापार ही रूद्ध होते है, मन रूद्ध नहीं होता। प्रलयमें बहिरेन्द्रिय और अन्तरेन्द्रिय दोनों रूद्ध हो जाते है और मन 'आलम्बनैकलीन' अवस्थाको प्राप्त कर व्यापारान्तर-रहित हो जाता है। विरहकी मोह दशामें अन्तर्वृत्तिका जिस प्रकार लोप हो जाता है उस प्रकार प्रलयमें नहीं हाता। श्रीजीवगोस्वामीने कहा है कि प्रलयमें बाह्यवृत्ति के लोपका और मोहमें अन्तर्वृत्तिके लोपका प्राधान्य रहता है।[1] मोहमें साधक 'वेद्यान्तर स्पर्शशून्य' होकर रस-समाधि-तुल्य अवस्थाको प्राप्त करता है। श्रीरूप गोस्वामीका कथन है—

---

१. भ. र. सि. २।४।६८ टीका

"अस्यान्यात्रात्मपर्यन्ते स्यात् सर्वत्रैव मूढ़ता ।
कृष्णस्फूर्ति विशेषस्तु न कदाप्यत्र लीयते ॥
(भ. र. सि. २।४।६८)

अर्थात्, कृष्ण-भक्त मोह दशाको प्राप्त करनेपर आत्म (देह) पर्यन्त सब विषयोंकी स्मृति खो बैठता है, केवल उसकी कृष्ण-स्फूर्ति विशेषका लोप नहीं होता ।

श्रीश्विनाथ चक्रवर्तीने माधुर्य-कादम्बिनीमें कहा है—"ततश्च प्रेमैव चुम्कीभावमापद्यकार्ष्णायसीभूत कृष्णमा कृष्णानोय कस्मितश्चन क्षणे भक्तस्यास्य नयनगोचरं करोति ।" अर्थात्, भक्तकी विरह-जनित इस प्रकारकी भावदशाके उदय होने पर प्रेम ही चुम्बकी भाव धारणकर लौहभाव प्राप्त कृष्णको आकर्षित कर भक्तके नयनगोचर करा देता है ।

प्रेम स्वरूपसे ही आनन्दमय है । विरह भी मिलनके समान प्रेमकी ही एक अवस्था है । इसे दुःख उसीप्रकार स्पर्श नहीं करता, जिस प्रकार प्रकाश को अन्धकार स्पर्श नहीं करता । सुख और दुःख प्राकृत गुणात्मक चित्तकी वृत्तियां हैं । प्रेम प्राप्त करनेपर साधकके चित्तका प्राकृतत्व ध्वंस हो जाता है । वह अप्राकृत देह और मन द्वारा कभी स्फूर्तिमें मिलन-जनित, कभी अ-स्फूर्तिमें विरह-जनित आनन्दका अनवरत आस्वादन करता है । विरह-जनित आनन्द एक अनिर्वचनीय वस्तु है । इसमें श्रीकृष्णके अदर्शन या दर्शनके समय भी उनके साथ स्वच्छन्द मिलनकी संभावना न रहनेके कारण दुःख तो होता ही है, पर यह दुःख एक विशेष प्रकारका सुख ही है । इसे किसीने 'विषामृत एकत्र मिलन' जैसी अवस्था कहा है, किसीने आनन्दका घनीभूत परिपाक विशेष कहा है, पर वास्तविकता यह है कि इसका यथार्थ वर्णन करनेकेलिये प्राकृत भाषा-कोषमें शब्द ही नहीं है । इतना निश्चित है कि इसमें जिस अवस्थाको साधारणरूपसे दुःख कहा जाता है, उसका लेश भी नहीं है । दुःख जैसा प्रतीत होनेपर भी यह वास्तवमें सुख-पुञ्ज ही है, उसी प्रकार जिस प्रकार बरफ-खण्डका स्पर्श अग्निके स्पर्श जैसा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें शीतलताकी पराकाष्टा ही है ।

'विप्रलम्भ' शब्दका अर्थ है प्रकारान्तरसे प्राप्ति । विप्रलम्भमें बाहर श्रीकृष्णका दर्शन न होनेपर भी अन्तःस्थलमें उनकी सम्यक् प्राप्ति हुई रहती है । बाहर बाह्य इन्द्रियों द्वारा ही मिलन सम्भव होता है, अन्तरमें इन्द्रियों का इन्द्रियोंसे, मनका मनसे, प्राणका प्राणसे मिलन होता है ।

विप्रलम्भके चार भेद हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य और प्रवास।

पूर्वराग—नायक और नायिकाके मिलनके पूर्व उनके पारस्परिक दर्शन और श्रवणादिसे जो रति उन्मीलित होती है, उसे पूर्वराग कहते हैं।[1] यह रति कैसे रसताको प्राप्त होता है, उसे समझाते हुए श्रीजीव गोस्वामीने कहा है कि रतिके उत्तम होनेपर आलिंगनादिकी वासनाका जन्म होता है। आलिंगनादिकी अप्राप्तिके कारण विप्रलम्भका जन्म होता है। विप्रलम्भ कालमें अनन्य चित्तसे विषयालम्बनका बार-बार निबिड़ स्मरण होनेके कारण विषयालम्बन-विभावका आविर्भाव होता है। उस समय मानस, चाक्षुष, और कायिक सम्भोग होता है। इस प्रकार विभावादिके सम्मिलनसे रति आस्वादविशेषमयी होकर रसताको प्राप्त होती है।[2]

उज्ज्वलनीलमणिमें श्रीरूपगोस्वामीने प्रौढ़ पूर्वरागकी दस दशाओंका वर्णन किया है, जो इस प्रकार हैं—लालस (तीव्र उत्कंठा), उद्वेग, जागर्य (निद्रा-क्षय), तानव (शरीरकी कृशता), जड़िमा (दर्शन और श्रवणका अभाव), वैयग्रय (भावगाम्भीर्यजनित विक्षोभके कारण असहिष्णुता, जिसमें अविवेक, निर्वेद, खेद और असूयाका प्रकाश होता है), व्याधि (अभीष्ट वस्तुकी अप्राप्तिके कारण वैवर्ण्य और उत्तापके साथ निश्वास, पतनादि), उन्माद, मोह (मूर्च्छा), और मृत्यु। यहाँ मृत्युसे देह-त्याग न समझकर देह-त्यागकी पूर्वावस्था ही समझना चाहिये, क्योंकि प्रेम-प्राप्तिके साथ ही साधकका देह चिन्मय और नित्य हो जाता है और उसके पतनकी सम्भावना नहीं रहती।

साधारण पूर्वरागमें अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग और विलाप इन छः दशाओंका उल्लेख है।

जिस प्रकार श्रीकृष्णके दर्शनादिसे व्रजसुन्दरियोंमें पूर्वराग होता है, उसी प्रकार व्रजसुन्दरियोंके दर्शनादिसे श्रीकृष्णमें पूर्वराग होता है। पर साधकोंके लिये व्रजसुन्दरियोंका पूर्वराग ही विशेष-रूपसे अनुसन्धान और चिन्तनका विषय है। श्रीकृष्णका पूर्वराग उद्दीपन स्थानीयमात्र है।

मान—नायक और नायिकाके परस्परके प्रति अनुरक्त और एकत्र अवस्थित रहने पर भी जो भाव उनके अभीष्ट आलिंगन, चुम्बन, दर्शन और

१. उ. नी. म. शृङ्गार भेद ५

२. उ. नी. म. शृङ्गार भेद ५ की टीका

प्रिय-भाषणादिमें प्रतिबन्धक होता है, उसे मान कहते हैं।[1] मान प्रेम-राज्य की अपूर्व संजीवनी-सुधा है। मानका कार्य है प्रेमको सरसता, वेग और नवीनता प्रदान करना।

ईख स्वभावतः रसयुक्त है, पर यन्त्रकी सहायताके बिना उसका रस भली प्रकार नहीं निकलता। राधा मान-यन्त्र द्वारा अखण्ड रसविग्रह श्रीकृष्णसे जैसी रसमाधुरी निष्कासित करनेमें सफल होती हैं, वैसी बिना मानके निष्कासित नहीं होती। मानमें श्रीकृष्ण राधाके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करनेको, यहाँतककि 'देहिपदपल्लवमुदारम' कहकर उनके चरण तले लुण्ठित होनेको बाध्य होते हैं।

मान दो प्रकारका है—सहेतु और निर्हेतु। नायक द्वारा विपक्ष-नायिकाका वैशिष्ट्य (उत्कर्ष) ख्यापित होनेपर नायिकामें ईर्ष्याका उदय होता है। उस ईर्ष्याके कारण जो मान होता है, उसे सहेतु मान कहते हैं।[2] सहेतु मान प्रणयके साथ ईर्ष्याके संयोगसे होता है। परन्तु ईर्ष्याके संयोगसे प्रणयकी मानरूपमें परिणति दुग्धको दहीके रूपमें परिणतिके समान नहीं है। दूधके दहीके रूपमें परिणत होनेपर उसका स्वरूप विकृत होजाता है, पर प्रणयके मान रूपमें परिणत होनेपर उसका स्वरूप विकृत नहीं होता। प्रणय ईर्ष्यायुक्त प्रतीत होनेपर भी ईर्ष्यायुक्त नहीं होता। प्रणयमें ईर्ष्या प्रतिफलित भर होती है, उसी प्रकार जिस प्रकार लोहित वस्तुके संयोगसे स्फटिक लोहित जैसा प्रतीत होता है, पर लोहित हो नहीं जाता। ईर्ष्याके दूर होनेपर प्रणय अपने अविकृतरूपमें रह जाता है।

प्रणय कभी-कभी बिना ईर्ष्या या अन्य किसी वस्तुके संयोगके अपने स्वरूपगत धर्मवश ही मान रूपमें परिणत होता है। इसे निर्हेतु-मान या प्रणय-मान कहते हैं। यह प्रणयकी ही एक उत्कर्षमय अवस्था है। सर्पकी गतिके समान प्रेमकी गति भी स्वभावसे ही कुटिल है। स्वाभाविक कुटिलता रसकी पुष्टिकर प्रीतिको श्रीकृष्णको और अधिक सुख पहुँचानेके योग्य बनाती है।

प्रेमवैचित्य—प्रेमके उत्कर्षके कारण नायिका प्रियके सन्निधानमें रहते हुए भी विरह-बुद्धिके कारण जिस आर्तिका अनुभव करती है, उसे प्रेम-वैचित्य कहते हैं।[3]

---

१. उ नी. म. मान ३१

२. वही, ३३

३. उ. नी. म. प्रेमवैचित्त्य, ५७

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने उ. नी. म. प्रेमवैचित्य, ५७ की टीकामें लिखा है—अतिशय अनुरागके कारण कभी-कभी बुद्धि-वृत्ति इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि कृष्णकी गुणमाधुरी और रूपमाधुरीका एक साथ अनुभव करना असम्भव होजाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार एक अति सूक्ष्म सूईमें एक साथ दो सूत्रोंका पिरोना असम्भव होता है। सम्भोगरसका आस्वादन करते समय कदाचित् नायिका सोचने लगती है—'अहा ! जो नायक मेरे साथ विलास कर रहे हैं, उनकी कैसी अद्‌भुत नृत्य-गीत-वाक्‌चातुर्यादिकी अपार गुणावली है।' इस प्रकार नायककी गुणमाधुरीका चिन्तन करते-करते उसकी बुद्धिवृत्ति उसमें इस प्रकार लीन होजाती है कि उसकी सूक्ष्माबुद्धि नायकको विषयीभूत करनेकी सामर्थ्य खा बैठती है। उस समय नायककी गोदमें रहते हुए भी वह नायकके विरहका ही अनुभव करती है।

प्रवास—जिनका मिलन हो चुका हो, ऐसे नायक और नायिकाके देशान्तर गमनादिवश परस्पर व्यवधानको प्रवास कहते हैं।[1] प्रवास दो प्रकारका है—बुद्धिपूर्वक, जिसमें नायकको कार्यानुरोधके कारण स्वेच्छापूर्वक दूर जाना पड़ता है और अबुद्धिपूर्वक, जिसमें पराधीनताके कारण उसे दूर जाना होता है।

श्रीकृष्ण और व्रजसुन्दरियोंका प्रवास-जनित विप्रलम्भ श्रीकृष्णके अक्रूरके साथ मथुरा जानेपर होता है। पर श्रीकृष्णका मथुरागमन वृन्दावनके प्रकट प्रकाशमें ही होता है। अप्रकट प्रकाशमें श्रीकृष्ण व्रज, मथुरा और द्वारका इन तीन धामोंमें अपने ही तीन प्रकाशोंके रूपमें नित्य विराजमान हैं। श्रीकृष्णके विभिन्न परिकर भी अपने विभिन्न प्रकाशोंके रूपमें वहाँ नित्य विराजमान हैं। इसलिये अप्रकट लीलामें श्रीकृष्ण और व्रजसुन्दरियोंके बीच विरह नहीं होता।

सम्भोग

नायक और नायिकाके परस्पर दर्शन, आलिंगन, चुम्बनादिसे परस्परके सुख वासनामय निषेवन द्वारा उल्लासप्राप्त भावको सम्भोग कहते हैं।[2] यह सम्भोग काममय (स्वसुख-वासनायुक्त) सम्भोगसे सर्वथा भिन्न है।

---

१. उ. नी. म. प्रवास, ६०

२. उ. नी. म. सम्भोग ४

सम्भोग दो प्रकारका है—मुख्य और गौण।

मुख्य सम्भोग—जाग्रत अवस्थाके सम्भोगको कहते हैं मुख्य सम्भोग। यह चार प्रकारका है—(१) संक्षिप्त, जो पूर्वरागके पश्चात् होता है और जिसमें भय और लज्जावश नायक और नायिका चुम्बन-आलिंगनादि सम्भोगाङ्गोंका संक्षिप्त सेवन करते हैं, (२) सङ्कीर्ण (मिश्रित), जो मानके पश्चात् होता है और जिसमें आलिंगन-चुम्बनादिके सुखमें किंचित् उस दुःख का मिश्रण रहता है, जो नायक द्वारा नायिकाकी उस वंचनाके फलस्वरूप हुआ था, जिसके कारण उसे मान हुआ था, (३) सम्पन्न, जो किंचित् दूर प्रवाससे लौटे नायकके नायिकासे मिलनपर होता है, (४) समृद्धिमान, जिसमें नायक और नायिका परस्परके दर्शनकी दुर्लभताके कारण स्वरूप पारतन्त्र्य के अवसानपर अतिरेक सम्भोग-सुखका अनुभव करते हैं। पारतन्त्र्यका सम्यक् अवसान होता है विवाहके पश्चात्। इसलिये श्रीजीवगोस्वामीके अनुसार समृद्धिमान सम्भोग विवाहके पश्चात् पारतन्त्र्यके दूर होजानेपर होता है। परन्तु श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके अनुसार समृद्धिमान सम्भोग होता है पारतन्त्र्यके रहते हुए नायकके सुदूर प्रवासके पश्चात् किसी सुयोगके कारण नायिकासे मिलनेपर।

गौण सम्भोग—गौण सम्भोग होता है नायक और नायिकाके स्वप्न में मिलनके फलस्वरूप। स्वप्नमें भी सम्भोग, संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पन्न या समृद्धिमान् होता है। आनन्दिनी शक्तिरूप व्रजसुन्दरियोंका स्वप्न भी रजोगुण की वृत्ति न होकर प्रेमकी ही विलास-वैचित्री है।

प्रेमविलास-विवर्त—सम्भोगकी चरम अवस्था है प्रेमविलास-विवर्त, जिसका हम आगे विस्तारसे वर्णन करेंगे।

• • •

प्रेमविलास-विवर्त

श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुसार सम्भोगकी चरम अवस्था प्रेम विलास-विवर्त ही है साध्य वस्तुको परम अवधि ।

गोदावरी तटपर रायरामानन्दसे मिलनके समय महाप्रभुने उनसे साध्य-साधन-तत्वका निरूपण करनेको कहा । रामानन्दने चतुर्वर्गसे लेकर राधा-प्रेम तकके विभिन्न स्तरोंका क्रमशः वर्णन किया । महाप्रभु प्रत्येक स्तर के वर्णनके पश्चात् उनसे और आगेके स्तरकी बात कहनेका आग्रह करते रहे । परन्तु जब उन्होंने अपने ही एक गीतके द्वारा राधाके मादनाख्य महाभावकी चरम अवस्था प्रेम-विलास-विवर्तका इङ्गित किया, तब उन्होंने कहा—यही साध्य-वस्तुकी अवधि है, अर्थात् इससे आगे और कुछ कहने-सुनने को नहीं है । जो गीत उन्होंने सुनाया, उसकी प्रथम दो पंक्तियां, जो प्रेम-विलास-विवर्तका इङ्गित करती हैं, इस प्रकार हैं—

पहिलहि राग नयनभङ्ग भेल । अनुदिन बाढ़ल अवधि न गेल ।।
ना सो रमण न हाम रमणी । दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि ।।

राधा कहती हैं–'नयन-भङ्ग, अर्थात् पलक पड़नेमें जितनी देर लगती है, उतनी देरमें (श्रीकृष्णसे) मेरा प्रथम राग हो गया । राग दिन-प्रति दिन निरवच्छिन्न भावसे बढ़ता गया । उसे कोई सीमा न मिली । रागके निरन्तर वर्धनशील प्रवाहने, एक दूसरेके विलास-सुखको वर्धन करनेकी वर्धनशील वासना ने मानों दोनोंके मनको पीसकर एक कर दिया । परिणाम-स्वरूप न रमणको अपने रमणत्वका ज्ञान रहा, न रमणीको अपने रमणीत्वका ।

प्रम-विलासका अर्थ, जैसा हम पहले कह चुके है, काम-क्रीड़ा नहीं है । प्रेम और काममें उतना ही अन्तर है, जितना प्रकाश और अन्धकारमें । प्रेम निर्मल भास्कर है, काम निबिड़तम अन्धकार । प्रेम-विलास है जड़ सम्पर्क-रहित, मायामुक्त, चितघन-शरीरधारी, स्वसुख-वासना-रहित, नायक-

नायिकाओंका मधुर चेष्टाओं द्वारा एक-दूसरेको सुखी करनेके उद्देश्यसे तन-मनको एक दूसरे पर न्योछावर कर देने जैसा उन्नत, उज्ज्वल, रसमय व्यापार। काम-क्रीड़ा है रक्त-मांस-मल-मूत्र-मय दो जड़-शरीरधारी व्यक्तियों का अपनी जड़ेन्द्रियोंका दासत्व स्वीकार कर उनकी सेवाके हेतु एक दूसरेके शरीरका पशुओंके समान भोग करने जैसा कुत्सित व्यापार।

'विवर्त' शब्दका मुख्य अर्थ श्रीजीव गोस्वामीने किया है—'परिपाक'।[1] श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इसका अर्थ किया है 'विपरीत'। साधारण रूपसे इसका अर्थ है 'भ्रम'। 'प्रेम-विलास-विवर्त'के सन्दर्भमें इन तीनों अर्थों की पूरी सार्थकता है, जैसा आगेकी व्याख्यासे स्पष्ट होगा।

व्रजसुन्दरियोंके श्रीकृष्णके साथ प्रेम-विलासकी विलक्षणता यह है कि इसकी कभी उपरति नहीं होती। दिन-प्रतिदिन विलासमें निरत रहने पर भी विलास-वासना की उपशान्ति होना तो दूर, यह उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, जैसे तृष्णाशान्तिहीन कृष्णसुखैकतात्पर्यमय विलास ही उनके जीवन का व्रत हो—"दिनंदिनमप्यनुपरमरणं रमणमतीव जीवनसमतामवाप"।[2] उपशान्तिहीनताके कारण विलासके लिये उनकी उत्कण्ठामें भी निरन्तर **वृद्धि** होती जाती है। उत्कण्ठा जब गाढ़तम हो जाती है, तो श्रीकृष्ण द्वारा सम्यक्रूपसे आलिंगित होते हुए भी उन्हें लगता है कि श्रीकृष्ण उनसे न जाने कितनी दूर हैं। उनकी परमगाढ़ता प्राप्त उत्कण्ठा जैसे उनकी वाह्य वृत्तिको विलुप्त कर देती है और उनके सामने साक्षात् उपस्थित श्रीकृष्ण की अनुभूतिको स्वाप्निक अनुभूतिके रूपमें परिणत कर देती है। पिपासु व्यक्तिकी जिस प्रकार स्वप्नमें जलपान करनेसे प्यास नहीं बुझती, उसी प्रकार उत्कण्ठाकी चरम अवस्थाको प्राप्त व्रजसुन्दरियोंकी श्रीकृष्ण-मिलनकी प्यास वास्तव मिलनमें भी प्रशमित नहीं होती—

'यदपि परस्पर मिलनं हरिगोपोनां चिरान्न विच्छिन्नम्।
तदपि न तृष्णा शान्ता स्वाल्पिकपाने यथा पिपासुनाम्॥[3]

व्रजगोपियोंकी प्रेम-विलासकी वासना एक पक्षीय नही है। यह अपने प्रभावसे श्रीकृष्णमें भी तदनुकूल वासना जगाकर उन्हें उनके साथ मिलन

१. उ. नी. म. उद्दीपन-विभाव-प्रकरण, २२ श्लोककी टीका

२. गोपाल. चम्पूण, पूर ३३

३. गोहाल. चम्पू, पूरण ३३।४

और विलासदिके लिये विवश करनेकी सामर्थ्य रखती है। श्रीकृष्ण 'ये यथा माम प्रपद्यन्ते' श्लोकके अनुसार अपने स्वभावसे भी गोपिकाओंकी वासनाके अनुकूल व्यवहार करनेको विवश हैं। गोपिकाओंमें जिस प्रकार श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवा करनेकी वासना उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती है, श्रीकृष्णमें उसी प्रकार उनकी प्रेम-सेवा ग्रहण करनेकी वासना उत्तरोत्तर वर्धित होती है। पर उनकी प्रेम-सेवा ग्रहण करनेमें श्रीकृष्णका भी अपना निजी स्वार्थ कुछ नहीं है। वे उनकी प्रेम-सेवा ग्रहण करते हैं उन्हींके सुखके लिये। वे जो कुछ भी करते हैं, वह उनके अपने सुखके लिये न होकर होता है केवल उनके भक्तोंके अपने सुखके लिये। यह बात उन्होंने स्वयं अपने मुखसे ही कही है— "मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः" (पद्मपुराण)।

श्रीकृष्ण और व्रजगोपिकाओंकी एक-दूसरेके प्रति प्रेम-सेवा-वासनाकी उद्दामता तथा उनका एक-दूसरेके प्रति सहज, स्वाभाविक आत्म-समर्पण एक बड़े रहस्यकी बात है। श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उपदेश करते समय कई 'गुह्य' उपदेश दिये थे। उनका शेष उपदेश था—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इसे उन्होंने 'सर्वगुह्यतम' कहा था। अर्जुनके लिये तो सचमुच यही सर्वगुह्यतम उपदेश था। पर व्रजगोपियोंका स्तर अर्जुनके स्तरसे बहुत ऊँचा है। अर्जुनकी शरणागतिके मूलमें है श्रीकृष्णका आदेश और उनका यह आश्वासन कि शरणागत होनेपर वे उसे सब पापोंसे मुक्त कर देंगे। पर गोपियोंकी शरणागति न किसीके आदेश-उपदेशकी अपेक्षा रखती है, न किसी प्रकारके आश्वासन या प्रलोभन की। उनकी शरणागति उनके प्रेमका स्वाभाविक परिणाम है, उससे स्वतःस्फूर्त है। गोपियाँ वेदधर्म, लोकधर्म, मान-मर्यादा, लोक-लज्जादिको तिलांजलि दे, बिना किसी प्रकारका विचार-वितर्क किये, कृष्ण-प्रेमकी गंगामें बह जाती हैं कृष्णसे मिलनेके लिये, उनके शरणापन्न होनेके लिये। कृष्ण भी उनकी प्रेम-सेवाकी बलवती वासनासे आकर्षित हो वेदधर्म आदिका त्यागकर और उनके प्रेमके वशीभूत हो उनसे मिलनेके लिये उसी प्रकार स्वभावतः धावित होते है, जिस प्रकार भ्रमर कमलके सौरभसे आकर्षित हो उसकी ओर स्वभावतः धावित होता है।

व्रजगोपियोंमें श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवा-वासनाका चरमतम विकास है मादनाख्य महाभाववती श्रीराधिकामें। इसलिये श्रीकृष्णके प्रेमाकर्षण और

उनकी प्रेमवश्यताका चरमतम विकास भी है श्रीराधिकाके प्रेमके सन्दर्भमें ही । श्रीराधिकाकी सेवा-वासनाकी उद्दामता श्रीकृष्णमें भी तद्रूप उद्दामता को जन्म देतो है । तब दोनों परस्परको सुखी करनेकी वासनाकी उद्दाम प्रेरणासे केलि-विलासमें जिस प्रकारकी प्रमत्तताको प्राप्त होते हैं उसमें वे अपनी सारी सुध-बुध खो बैटते हैं । उन्हें यह भी पता नहीं रहता कि उनमें कौन रमण है, कौन रमणी, कौन कान्त है, कौन कान्ता । वे अपने अस्तित्व तकको भूल जाते हैं । उन्हें ज्ञान रहता है केवलमात्र अपने केलि-विलासका । उनका चित्त निरन्तर वर्धनशील, उपरतिहीन विलास-वासनासे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । उस विलासमात्रैक-तन्मयताके कारण उनके भेद-ज्ञानका सर्वथा लोप होजाता है । जबतक चित्तका भेद-ज्ञान रहता है, तभीतक कान्त और कान्ताभाव वर्तमान रहता है । चित्तके भेद-ज्ञानके तिरोहित होनेके साथ ही कान्त-कान्ता-भेद-ज्ञान भी तिरोहित होजाता है । शेष रहती है केवल विलास-सुखैक निविणतम तन्मयता ।

इस तन्मयताको गाढ़तम बनानेमें सहायक होती हैं श्रोराधाके मादनाख्य महाभावकी कुछ विशेषताएं, जो इस प्रकार हैं—

(१) मादन है प्रेमका पूर्णरूप या स्वयं-प्रेम । रति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव हैं इसके अंश । मादनाख्य-महाभाववती श्रीराधा हैं अनन्त कान्ताभाव-वैचित्रीका मूर्तरूप—कान्ताभावका स्वयंरूप, अखिल-कान्ताभाव-विग्रह । अखिलरसामृतमूर्ति स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार अनन्त भगवत्-स्वरूपोंमें अनादिकालसे विराजमान हैं, उसी प्रकार श्रीराधिका उन भगवत्-स्वरूपोंको पृथक्-पृथक् रूपसे अनन्त कान्ता-रस-वैचित्री आस्वादन करानेके लिये लक्ष्मी-महिषी-व्रजदेवी आदि अनन्त कृष्ण-कान्ताओंके रूपमें अनादिकालसे विराजमान हैं । जिस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके आविर्भावके समय अनन्त रस-वैचित्रीके प्रकाश-स्वरूप अनन्त भगवत्-स्वरूप उनके भीतर आविर्भूत होते हैं, उसी प्रकार स्वयं प्रेमरूप मादनके उदय होनेपर समस्त प्रेम-वैचित्रा और समस्त कान्ता-भाव-वैचित्री एक साथ उल्लसित और तरंगायित होते हैं । परिणाम-स्वरूप विलास-सुखमें असाधारण तन्मयता जन्मती है ।

(२) मादनका उदय होता है केवल सम्भोगमें । सम्भोगकी अशेष वैचित्री है, जैसे आलिंगन, चुम्बन, संलापन, वेशरचना, चित्रांकनादि । मादनमें किसी एक प्रकारके सम्भोगमें समस्त सम्भोग-वैचित्रीका एक साथ

सुखानुभव होता है और सम्भोग-वैचित्रीके सुखानुभवके साथ नानाविध वियोग-जनित भावका भी अनुभव होता है।[1] सम्भोगमें वियोग और वियोग में सम्भोगका अनुभव मादनकी एक अद्‌भुत विशेषता है। मिलनकी तीव्र उत्कण्ठा ही सम्भोगमें वियोगका अनुभव कराती है[2] और वियोगका अनुभव ही उत्कण्ठाका वर्धनकर सम्भोग-सुख-चमत्कारित्वकी नवनवायमानताको अक्षुण्ण बनाये रखता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, जिससे विलाससुखचेष्टैकतन्मयता निविणसे भी निबिण होती जाती है।

(३) महाभावकी दो विशेषताएं हैं—उसकी स्वसम्वेद्यदशा और यावदाश्रयवृत्ति। अनुरागके उत्कर्षमें जब बलवती उत्कण्ठाके साथ श्रीकृष्ण माधुर्यका अनुभव होता है, तब माधुर्यके आस्वादनाधिक्यके कारण आस्वादक इतना तन्मय हो जाता है कि उसे न अपनी स्मृति रहती है, न माधुर्यादिकी। स्मृति रहती है केवल आस्वादनकी ; उसका अपना और आस्वाद्य वस्तुका ज्ञान लुप्त हो जाता है। आस्वादकके अभावमें आस्वादन स्वयं ही अनुभव करता है, क्योंकि अनुराग संवित संयुक्ता ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति है, जो स्वयं संवेद्य है। 'ना सो रमण, ना हाम रमणो' भाव अनुरागकी इस स्वसम्वेद्य दशाका ही इंगित करता है। मादनाख्य महाभावकी दशामें, जो महाभावकी चरम सीमा है, अनुरागकी स्वसम्वेद्य दशा भी चरम सीमापर पहुँच जाती है।

अनुराग जब अपनी सीमापर पहुँचता है तो यावदाश्रय-वृत्तित्व लाभ करता है। अनुरागका आश्रय या भित्ति है प्रेमके विकास-क्रममें उसके पूर्व का स्तर—राग, रागकी भित्ति है प्रणय। प्रणयकी अवस्थामें नायक और नायिकामें विश्रम्भकी, अपने प्राण-देह-मनादिकौ एक माननेकी प्रवृत्ति जन्मती है। अतः मादनाख्य महाभावमें, जो अनुरागकी चरम पराकाष्टा है, प्राण-देह-मनादिके ऐक्य-मननकी भी चरम पराकाष्टा होती है,[3] जिसका

---

१. ऐसा स्फूर्ति में होता हो या कायव्यूह द्वारा होता हो सो नहीं, श्रीकृष्ण द्वारा साक्षात्‌रूपसे श्रीराधा आलिगन, चुम्बनादि असंख्य प्रकारकी सम्भोगात्मिका लीलाका आनन्द एकसाथ अनुभव करती हैं ।। उ. नी. म. स्थायि १६१।।

२. "सहस्रधा संभोग काले सहस्रधा एव उत्कण्ठा इत्यद्‌भुमेव।" उ. नी. म. स्थायि १६० श्लोककी आनन्द चन्द्रिका टीका।

३. उ. नी. म. स्थायि, ७८ श्लोककी आनन्दचन्द्रिका और लोचनरोचनी टीकाएं।

रामानन्दरायके गीतमें 'दुहुँ मन मनोभव पेषल नानि' वाक्य द्वारा इंगित किया गया है।

परन्तु प्रेम-विलास-विवर्तका देह-मन-प्राणादिका ऐक्य-मनन, या अभेद-ज्ञान ज्ञान-मार्गके साधकके अभेद-ज्ञान जैसा नहीं है। ज्ञान-मार्गकी मूल भित्ति ही है जीव और ब्रह्मका अभेद-ज्ञान। ज्ञान-मार्गका साधक यह मान कर चलता है कि जीव और ब्रह्म तत्वत: एक हैं, पर अज्ञानके कारण जीव को ब्रह्मसे अपने पृथक् अस्तित्वकी प्रतीति होती है। अज्ञानके दूर होजाने पर उसका भेद-ज्ञान उसी प्रकार मिट जाता है, जिस प्रकार घटके टूट जाने पर घटाकाश और महाकाशका भेद मिट जाता है। राधा और कृष्ण दोनों में कोई भी अज्ञानावृत ब्रह्मरूप जीवके समान अनित्य नहीं है। दोनों नित्य हैं, दोनोंकी लीला भी नित्य है। लीला-रस आस्वादन करनेके लिये ही दोनों स्वरूपत: एक होते हुए भी अनादिकालसे दो रूपोंमें विद्यमान हैं—

राधा-कृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप।
लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप॥
(चै. च. १।४।८५)

प्रेम-विलास-विवर्तमें जो प्राण-मन-देहादिका ऐक्य होता है, वह केवल भाव-गत है, वस्तुगत नहीं। देह, मन और प्राणका पृथक् अस्तित्व बना रहता है, पर विलास-सुखैक-तन्मयताके कारण उनके ऐक्यका मननमात्र होता है। राधा-कृष्णके इस देह-मनादिके ऐक्यके मननको कविकर्णपूरने 'परैक्य' कहा है। 'परैक्य' शब्दका अर्थ है राधा-कृष्णके मनका प्रेमके प्रभावसे गलकर सर्वतोभावसे एक होजाना, वैसे ही जैसे लाखके दो टुकड़े अग्निके प्रभावसे गलकर एक होजाते हैं। इस प्रकार मनके भेद मिट जानेपर ज्ञान का भेद भी मिट जाता है। दोनोंको अपने पृथक् अस्तित्वका ज्ञान नहीं रहता, यद्यपि पृथक् अस्तित्व बना रहता है। ज्ञान-मार्गके साधकमें सिद्धा-वस्था प्राप्त करनेपर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनोंका लोप होजानेके कारण न तो ज्ञाताका पृथक् अस्तित्व रहता है, न किसी प्रकारका अनुभव होता है और न किसी प्रकारकी चेष्टा। पर प्रेम-विलास-विवर्तमें राधा-कृष्णका पृथक् अस्तित्व रहता है, विलास-सुखैकतात्पर्यमयी अनुभूति रहती है और विलास-सम्बन्धी चेष्टा रहती है।

प्रेम-विलास-विवर्तमें राधा-कृष्णकी विलाससुखैक-तन्मयता ही है प्रेम-विलासकी परिपक्वता या चरमोत्कर्षावस्था। पर इसके परिणामस्वरूप

दोनोंमें उस अवस्थाके दो बाह्य लक्षण भी प्रतिलक्षित होते हैं। वे हैं भ्रम और वैपरीत्य। तन्मयताके कारण भ्रम या आत्मविस्मृति घटती है और आत्मविस्मृतिकी अवस्थामें परस्परका सुख वर्धन करनेकी वर्धमान चरम उत्कण्ठाके कारण उनकी स्वाभाविक चेष्टाओंका अनजाने वैपरीत्य घटता है, अर्थात् कान्ताका भाव और आचरण कान्तमें और कान्तकाभाव और आचरण कान्तामें सञ्चारित होता है, जैसे साधारण रूपसे कृष्ण बंसी बजाते हैं और राधा नृत्य करती हैं, पर विहार-वैपरीत्यमें राधा बंसी बजाती हैं, कृष्ण नृत्य करते हैं। नायक और नायिकामें विहार-वैपरीत्य बुद्धिपूवक भी हो सकता है। पर प्रेम-विवर्त-विलासमें यह अबुद्धिपूर्वक होता है, क्योंकि उसमें रमणका रमणत्व रमणीमें और रमणीका रमणीत्व रमणमें आत्मविस्मृति की अवस्थामें अनजाने ही सञ्चारित होता है। इस तरह एक और प्रकारसे प्रेम-विवर्त-विलासमें "ना सो रमण, ना हाम रमणी" भावकी सार्थकता घटती है।

प्रेम-विलास-विवर्तके-मूर्त विग्रह-श्रीमन्महाप्रभु

रायरामानन्दका गीत सुनते ही श्रीमन्महाप्रभुने उनका मुख अपने हाथसे ढक लिया। कविकर्णपूरने इसका कारण बताते हुए चैतन्य-चन्द्रोदय नाटकमें लिखा है कि महाप्रभु स्वयं है प्रेमविलास-विवर्तके मूर्त विग्रह। रायरामानन्दके गीतमें प्रेम-विलास-विवर्तका इंगित है, पर इसके रहस्यका पूर्ण उद्घाटन नहीं है। यदि रायरामानन्द इस रहस्यका पूर्णरूपसे उद्घाटन करते, तो आनन्द-विवशताके कारण महाप्रभुका आत्मगोपन कठिन होजाता। रामानन्द स्वयं उनके स्वरूपको जानकर भाव-विह्वल हो उठते और महाप्रभु का उनके मुखसे रागानुगाभक्तिके तथ्योंको जीवोंके कल्याणके लिये प्रकाशित करानेका उद्देश्य पूरा न होता।

महाप्रभुको प्रेम-विलास-विवर्तका मूर्त-विग्रह कहनेका कविकर्णपूरका आशय इसप्रकार है। महाप्रभुके स्वरूपमें राधाके स्वाधीन-भर्तृकात्वका और श्रीकृष्णके धीरललित्वका पूर्ण विकास है। स्वाधीन-भर्तृका नायिका वह है, जिसके कान्त उसके अधीन होकर सदा उसके निकट रहते हैं। धीरललित नायक वह है, जो रसिक होनेके कारण सर्वथा प्रेयसीके वशीभूत होता है। प्रेम-विवर्त-विलासमें श्रीराधा कृष्ण-मिलनकी बलवती उत्कण्ठाके कारण

प्रेमसे विगलित हो श्रीकृष्णके प्रति अंगका अपने प्रति अंगसे आलिंगनकर उसे अपने प्रति अंगसे आच्छादित कर, पूर्ण रूपसे अपने अधीन कर लेती हैं—अपने रंगमें रंगकर श्यामसे गौर कर लेती हैं और कृष्ण भी इस प्रकार सम्यक्‌रूपसे उनकी वश्यता स्वीकार कर लेते हैं। यही श्रीमन्महाप्रभुका अपना स्वरूप है—अन्तःकृष्ण-बहिर्गौर। श्रीराधा जिस प्रकार अपने कृष्ण-प्रेमाम्बुधिमें उबाल आनेके कारण प्रेमसे विगलित हो अपने देहसे श्रीकृष्णके देहको कवलित कर लेती हैं, उसी प्रकार अपने चित्तसे श्रीकृष्णके चित्तको भी कवलित कर लेती हैं। श्रीकृष्णका चित्त राधाके चित्तसे ऐक्य प्राप्तकर तद्‌रूप होजाता है। राधाका चित्त आश्रय जातीय है, भक्तभावपूर्ण है। इसलिये श्रीकृष्णका चित्त भी आश्रयरूप होजाता है। प्रेम-विलास-विवर्तमें विलाससुखैकतन्मयताके कारण उन्हें अपने स्वरूपकी विस्मृति होजाती है और वे राधाके भावमें पूर्ण रूपसे भावित होजाते हैं। प्रेमपरिपाकको चरम अवस्थामें श्रीकृष्णसे आलिंगित होते हुए भी, जिस प्रकार राधा मिलनकी उद्दाम उत्कण्ठाके कारण विरहका अनुभव करती हैं, उसी प्रकार गौरांगरूप में राधाभावसे भावित श्रीकृष्ण अपने ही श्रीकृष्ण स्वरूपके विरहका अनुभव करते हैं। नित्य निरवच्छिन्न मिलनमें भी विरहभावका चरम विकास उनकी गम्भीरा-लीलामें स्पष्ट दीख पड़ता है।

श्रीमन्महाप्रभुके आविर्भावका कारण

हम कह सकते हैं कि प्रेम-विलास-विवर्तस्वरूप श्रीमन्महाप्रभुके आविर्भावका कोई कारण नहीं है। वे परतत्वकी स्वाभाविक परिणति है। किस प्रकार परतत्वकी स्वाभाविक परिणति है,यह एक बहुत गूढ़ विषय है। इसे हम यथासम्भव स्पष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे।

परतत्व आनन्दस्वरूप है, रस-स्वरूप है—रसो वै सः। रस पूर्ण होते भी नित्य-नवीन है, नित्य वर्धनशील है। तभी न वह रस है। तभी न वह नित्य आस्वाद्य है, नित्य चमत्कारितापूर्ण है।

रसकी घनीभूत मूर्ति हैं श्रीकृष्ण। श्रीकृष्णकी आनन्ददायिनी शक्ति हैं श्रीराधा। आनन्ददायिनी, ह्लादिनी-शक्ति आनन्दघन-विग्रह श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्ति हैं।

स्वरूप-शक्ति और स्वरूप एक ही बात है। शक्ति स्वरूपसे अभिन्न है। इस प्रकार राधा और कृष्ण अभिन्न हैं। दोनों एक ही तत्व हैं। एक होते हुए भी लीला-रस आस्वादन करनेके हेतु दो हैं। लीलाके हेतु स्वरूप-शक्ति स्वरूपसे पृथकरूपसे प्रकट रहकर, आनन्दघन-विग्रह-विशिष्टा होकर शक्तिकी अधिष्ठात्री देवीके रूपमें नित्य विराजमान है। इस मूर्तरूपमें राधा कृष्णसे भिन्न हैं। अमूर्त-शक्ति-रूपमें वे कृष्णसे अभिन्न हैं। अभिन्न ह्लादिनी-शक्तिके रूपमें वे श्रीकृष्णको अपने स्वरूपानन्दका अनुभव कराती हैं। मूर्तिमती भानुनन्दिनीके रूपमें वे उन्हें लीला-रसका आस्वादन कराती हैं। रस के दो आलम्बन है—आश्रयालम्बन और विषयालम्बन। राधा आश्रयालम्बन हैं, कृष्ण विषयालम्बन।

राधा और कृष्णमें देहगत और आलम्बनगत भेद है, शक्तिगत और भावगत अभेद है। अभेदको भेद असहनीय है। भावगत, प्रेमगत अभेद भेद को मिटानेकी दिशामें निरन्तर प्रयत्नशील है। प्रेम अपनी चरम अवस्था प्रेम-विलास-विवर्तकी स्थितिमें अपने मनोरथमें सफल होता है। कृष्ण हैं रस-स्वरूप, राधा हैं भाव-स्वरूपिणी। रस और भावका प्रवाह दो समानान्तर रेखाओंकी तरह चलता रहता है। जैसे समानान्तर रेखाएं परस्पर पृथक् होते हुए भी रेखागणितके अनुसार अनन्त दूरीपर जाकर एक होजाती हैं,रस और भाव भी वैसे ही पृथक् होते हुए भी प्रेम-विलास-विवर्तकी चरम अवस्थामें मिलकर एक होजाते हैं—'रसराज महाभाव दुइ एक रूप।'

नदी और सागरमें जिस प्रकार आधारगत भिन्नता है, आधेयगत, जलगत अभिन्नता है, उसी प्रकार राधा और कृष्णमें देहगत और आलम्बन-गत भिन्नता है, प्रेमगत अभिन्नता है। नदीके दोनों तीर जिस प्रकार उसे सागरसे पृथक् करते हैं, उसी प्रकार देह और आलम्बन राधा और कृष्णको एक-दूसरेसे पृथक् करते हैं। नदीका जल जिस प्रकार दोनों तीरोंके बन्धनसे मुक्त होकर समुद्रसे मिल जानेके लिये समुद्रकी ओर धावित होता रहता है और अन्तमें समुद्रमें जा मिलता है, उसी प्रकार राधा-कृष्णका प्रेम देह और आलम्बनके दोनों तीरोंको तोड़कर, प्लावितकर, प्रेम-विलास-विवर्तकी चरम अवस्थामें दोनोंको मिलाकर एक कर देता है। प्रेम-विलासकी चरम अवस्था, जैसा हम देख चुके हैं, शृङ्गाररसमें ही उत्पन्न हो[illegible]। श्रीरूप गोस्वामीके शब्दोंमें शृङ्गाररसरूपी निपुण शिल्पी श्रीराध[illegible]के चित्त-रूपी लाखके खण्डोंको द्रवीभूतकर और उनका भेद दूर[illegible]त भेद

प्रेम) उन्हें प्रचुर नवानुरागरूप हिंगुल द्वारा अनुरंजित करता है।[1] भेद दूर करनेकी प्रबल आकुति शृङ्गार-रसराज श्रीकृष्णके भीतर लोभ जगाकर तीन वांछाएं उत्पन्न करती है।

वे तीन वांछाएं हैं स्वयं अनुभव कर जाननेकी प्रबल आकांछा कि—

(१) राधाके प्रेमकी महिमा कैसी है ?

(२) राधा मेरे जिस असमोर्ध्व माधुर्यका आस्वादन करती हैं, वह माधुर्य कैसा है ?

(३) उस माधुर्यके आस्वादनसे राधाको जो असीम सुख होता है, वह कैसा है ?[2]

(१) श्रीराधाके असाधारण प्रेमकी महिमा जाननेकी वांछा

श्रीकृष्णका राधाके प्रति जो अनुराग है, उससे राधाका श्रीकृष्णके प्रति अनुराग कहीं अधिक है। केवल राधा ही क्यों, व्रजगोपी मात्रका श्रीकृष्णके प्रति जैसा प्रबल, त्यागमय प्रेम है, वैसा श्रीकृष्णका व्रजगोपियोंके प्रति नहीं है। गोपिकाएं लोकधर्म, कुलधर्म, यहाँतक कि पातिव्रत्य-धर्म तक का त्यागकर कृष्णका भजन करती हैं। वे कृष्णको भगवान् जानकर उनसे किसी प्रकारका सुख या मुक्ति आदि प्राप्त करनेके लोभसे विचारपूवक ऐसा नहीं करतीं। वे उन्हें यशोदा-दुलाल और अपने प्राण-प्रेष्ठ प्रियतम जान अपने कोटि-कोटि प्राणोंको अविचारपूर्वक उनपर न्योछावर करते हुए केवल उन्हें सुखी करनेके उद्देश्यसे ऐसा करती है—

"सर्वत्याग करि करे कृष्णेर भजन।
कृष्णसुख हेतु करे प्रेम-सेवन॥
(चै. च. १।४।१४५)

---

१. उ. नी. म. स्थायिभाव, १५५

२ श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवास्वाद्यो
येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेत्ति
लोभात्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥
(चै. च. १।१।६)

कृष्ण-सुख गोपी-प्रेमका स्वरूप-लक्षण है। सर्वत्याग उसका तटस्थ लक्षण है। कृष्ण-सुखकी प्रबल लालसा ही उन्हें वेद-धर्म, लोक-धर्मादिका तृणवत् त्याग करनेका बल देती है।

निज सुख-वासनाकी तो गोपियोंमें गन्ध भी नहीं। कृष्ण-सुख वासनासे उनका हृदय इतना भरपूर है कि अन्य किसी वासनाके लिये उसमें स्थान ही नहीं। श्रीकृष्णके पास गोपिकाओंके इस प्रकारके प्रेमके बदलेमें देनेको कुछ नहीं है। वे उनके चिरऋणी हैं। वे अपने "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" कथन-के अनुसार अपने भक्तोंका उसी प्रकार भजन करनेको बाध्य हैं, जिस प्रकार वे उनका भजन करते हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्यादि भक्तोंका वे उसी प्रकार भजन करते भी हैं। पर ब्रजगोपिओंके भजनके सम्बन्धमें उनकी यह प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाती है। उन्होंने 'न पारयेऽहं' कहकर उनके निकट अपनी हार स्वयं मानी है (भा० १०।३२।२१)। गोपियोंकी भाँति स्वजन-परिजन आदि का सम्यक्‌रूपसे त्यागकर अनन्य भावसे उनका भजन करनेकी सामर्थ्य उनमें नहीं है। वे बहुबल्लभ हैं। उनकी अनन्त प्रेयसियां हैं। उन्हें सभीको उनके भजनके अनुरूप भजनेको वे बाध्य हैं। किसी एक गोपीके लिए किसी अन्य गोपी या अपने स्वजनोंको त्यागनेकी बात तो दूर अपने अनन्त कोटि भक्तोंमें से किसी एकको भी त्यागना उनके लिये सम्भव नहीं।

गोपियोंके प्रेमका ऋण प्रेमसे न चुका सकनेके कारण यदि वे चाहें कुछ और देकर उसे चुका देना, तो यह भी सम्भव नहीं। देनेको तो त्रिभुवन में ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे उन्हें देकर वे अपने-आपको कृतार्थ माननेको तैयार नहीं ? पर कोई ऐसी वस्तु हो जिसकी उन्हें कामना हो तभी न देने-लेनेकी बात बनती है। उन्हें यदि कामना है, तो केवल एक वस्तुकी। वह है श्रीकृष्णका सुख, उनकी प्रेम-सेवा। पर इसे देकर उनके प्रति उनका ऋण घटनेकी जगह और बढ़ता ही तो हैं।

जब गोपियोंके प्रेमके आगे श्रीकृष्णके प्रेमका पलड़ा इतना हलका है, तो गोपियोंकी मुकुटमणि मादनाख्य-महाभाववती श्रीराधिकाके प्रेमके आगे वह कितना हलका होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

श्रीराधाके प्रेमकी, उनके मादनाख्य महाभावकी और भी कई असाधारण विशेषताएं हैं। राधाका प्रेम सर्वभावोद्‌गमोल्लासी है। इसमें एक ही समय सब प्रकारके भावोंके उद्‌गम और विलासकी असाधारण क्षमता है—

"सर्व भावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः ।
राजते ह्लादिनी सारो राधायामेव यः सदा ॥"
(उ. नी. म., स्थायिभाव २१६)

इसमें पूर्वरागादि चार प्रकारके विरह और संक्षिप्त, सम्पन्नादि चार प्रकारके मिलनका स्थायिरूपसे अद्भुत समावेश है। विरह-वेदना मिलन-सुखको पुष्ट करती है। मिलनका सुख विरह-वेदनाको तीव्र करता है। मिलन और विरहका विरामहीन दोलन राधाके प्रेममें प्राण-शक्तिका आधानकर इसे वर्धनशील बनाता है। यह विभु, अनन्त, असीम होते हुए भी निरन्तर वर्धन-शीलहै—"विभुरपि कलयन् सदाभिवृद्धिम ।"

यह निरुपाधि, निर्दोष, परम शुद्ध और निरवद्य होते हुए भी वाम्य या वक्रभावयुक्त है। सुनिर्मल होते हुए भी व्यवहारमें सर्पके समान कुटिल है। इसलिये इसमें एक विलक्षण चमत्कारित्व और आकर्षण है।

यह सर्वापेक्षा गुरुतम है। श्रीकृष्ण, जो जगद्गुरु हैं, उनका भी यह गुरु है—

"राधिकार प्रेम गुरु आमि शिष्य नट"
(चै. च. १।४।१६८)

पर गुरुतम होते हुए भी यह गौरव-वर्जित है। दैन्य नामक संचारी भावकी तरंग इसमें सदा खेलती रहती है। इसलिये राधा प्रेम-स्वरूपिणी, प्रेमकी अधिष्ठात्रीदेबी होते हुए भी समझती हैं कि शुद्ध प्रेम तो दूर उनमें कपट-प्रेम की गन्ध भी नहीं है—

"दूरे शुद्ध प्रेम बन्ध, कपट प्रेमेर गन्ध,
सेह मोर नाहि कृष्ण पाय ।"
(चै. च. २।२।४०)

सन्निपातका रोगी जितना जल पीता है, उतनी ही उसकी पिपासा और अधिक बढ़ती है। उसी प्रकार राधाका प्रेम जितना बढ़ता है, उतना ही अधिक वे उसके अभावके अनुभवकी वेदनासे पीड़ित होती हैं। उनके प्रेम की बढ़ती हुई तृष्णा उसे उत्तरोत्तर आस्वाद्य बनाती है।

राधाके प्रेममें रसके निधान, पूर्णानन्दमय श्रीकृष्णको भी उन्मत्त करनेकी अपूर्व, अचिन्त्य शक्ति है। कविराज गोस्वामीकी भाषामें—

"कृष्ण कहे आमि हइ रसेर निधान।
पूर्णानन्दमय आमि चिन्मय पूर्ण तत्व।
राधिकार प्रेमे आमा कराय उन्मत्त॥
ना जानि राधार प्रेमे आछे कत बल।
जे बले आमारे करे सर्वदा विह्वल॥

(चै. च. १।४।१०५-७)

श्रीराधाके प्रेमकी आस्वादन-चमत्कारिता और कृष्णोन्मादकारिता का रसिकशेखर श्रीकृष्णको अनुमानमात्र है, अनुभव नहीं। इसलिए उनके मनमें स्वयं अनुभवकर यह जाननेका लोभ जागना स्वाभाविक है कि राधा के प्रेमकी महिमा कैसी है—"श्रीराधायाः प्रणय-महिमा की दृशो वा।"[१]

(२) श्रीराधाद्वारा आस्वाद्य श्रीकृष्णके असमोर्ध्व माधुर्यका आस्वादन करनेकी वांछा

श्रीकृष्णकी मधुरिमा परम अद्भुत है। उनका रूपमाधुर्य, लीला-माधुर्य, वेणुमाधुर्य और प्रेममाधुर्य सभी परम अद्भुत और अनन्त हैं। ऐसी मधुरिमा और किसी भगवत्-स्वरूपकी नहीं है। इस मधुरिमाकी ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि नेत्रोंसे दर्शन करना तो दूर, कानोंसे श्रवण करनेसे ही मन चंचल हो उठता है और दर्शन द्वारा आस्वादन करनेकी तीव्र उत्कण्ठा हृदयमें जाग पड़ती है। और तो और,स्वयं श्रीकृष्णके मनमें उसके आस्वादन की लालसा उदित होती है। एकबार वे मणिस्तम्भमें अपने प्रतिबिम्बको देख आश्चर्यचकितसे स्थिर खड़े रह गये। सोचने लगे—"कौन है यह व्यक्ति जिसकी ऐसी रूप-माधुरी है ?! ऐसा रूप तो मैंने कभी देखा नहीं !" निकट से उसे देखनेके लिये जैसे ही अपना मस्तक नीचा किया, प्रतिबिम्बका भो मस्तक नीचा होगया। तब अपनी भ्रांति जान वे स्मित मुखसे कहने लगे—'अरे ! यह तो मैं ही हूँ। मेरा ही रूप मुझे इस प्रकार मुग्ध कर रहा है ! काश मैं इसे अपने वक्षमें धारणकर इसका पूर्णरूपसे भोग कर सकता !'[२]

---

१. चै. च. १।१।६

२. विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषण भुषणाङ्गम्।
(भा. ३।३।३१)

पर श्रीकृष्ण क्या अपनी ही मधुरिमाका भोग कर सकते हैं ? यदि कर भी सकें, तो क्या वे सम्यक्‌रूपसे इसका आस्वादन कर सकते हैं ? अनन्त खाद्यका भोग करनेके लिये चाहिये अनन्त भूख। उसी प्रकार रसघन-विग्रह श्रीकृष्णकी अनन्त माधुरीका भोग करनेके लिये चाहिये अनन्तभाव, अनन्त तृष्णा। तृष्णा भी सीधे कृष्ण-माधुर्यके भोगकी नहीं, कृष्णके प्रति आत्म-समर्पणकी, आत्म-विसर्जनकी, स्वसुख-वासना-रहित श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवाकी। कृष्ण-माधुर्यकी यही विलक्षणता है कि उसका आस्वादन उतना अधिक होता है, जितना श्रीकृष्णके प्रति विशुद्ध-सेवा-भाव या प्रेम होता है; उतना ही कम होता है जितना अपने सुखके लिये उसका भोग करनेकी लालसा होती है। केवल मादनाख्य-भाववती श्रीमती राधिकामें श्रीकृष्णके प्रति प्रेम-सेवाभावकी पराकाष्ठा है। इसलिये केवल उन्हींमें श्रीकृष्णकी अनंत माधुरीके पूर्ण आस्वादनकी सामर्थ्य है। वे ही कृष्ण-मधुरिमाका सम्यक्‌रूपसे नित्य आस्वादन करती हैं।

पर अनन्त सुखका पूर्ण आस्वादन क्या संभव है ? यदि संभव है, तो क्या वह सुख सीमित नहीं है ? अनन्तको क्या पूर्ण आस्वादनकी परिधिमें बाँधा जा सकता है ? यदि उसका पूर्णास्वादन हो भी सके, तो क्या वह आस्वादन नित्य हो सकता है ? पूर्णास्वादनके पश्चात् उसके आस्वादनकी तृष्णा ही कहाँ रह जाती है ? जिस वस्तुका पूर्णरूपसे आस्वादन हो लेता है, उसके और आस्वादनमें वितृष्णा न आ जाती है।

यह शंका ठीक है। इसका कोई समाधान नहीं। पर राधाके प्रेममें इसमें अन्तर्हित विरोधोंका सामंजस्य करनेकी अचिंत्य शक्ति है। कैसे ? इसका उत्तर इस प्रकार है। रस-स्वरूप श्रीकृष्णका माधुर्य भाव-स्वरूपिणी श्रीराधाके सान्निध्यमें ही पूर्णरूपसे प्रकाशित होता है। रसकी प्रकाश-भूमि भाव है। रसराजके माधुर्यकी प्रकाश-भूमि राधाका महाभाव है। राधाका प्रेम नित्य वर्धनशील है। इसलिये श्रीकृष्णकी मधुरिमा भी नित्य वर्धनशील और नित्य नव-नवायमान है। श्रीकृष्णनिष्ठ मधुरिमा और राधानिष्ठ उत्कंठा दोनोंमें एक-दूसरेके सान्निध्यमें नित्य बढ़ते रहनेकी अनन्त स्पर्धा है। दोनोंमें से किसीकी सीमा नहीं। दोनों अनन्त हैं। इसलिये राधाद्वारा श्रीकृष्णकी पूर्ण मधुरिमाका पूर्ण आस्वादन संभव है—"आनन्त्येनैव आनन्त्यग्रहणात्।" इससे न तो श्रीकृष्णकी मधुरिमाका अनन्तत्व खण्डित होता है, न राधाकी तृष्णामयी लालसाका अन्त होता है।

इसलिये श्रीकृष्णको लोभ केवल अपनी मधुरिमाके आस्वादनका नहीं होता। लोभ होता है उस समग्ररूपमें उसके आस्वादनका, जिसमें राधा उसका आस्वादन करती हैं—"अनया आस्वाद्य: येन अद्भुत मधुरिमा को दृशा: वा मदीय: ।[1]

(३) श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादन-जनित राधाके असीम सुखका आस्वादन करनेकी वांछा

श्रीकृष्ण हैं पूर्णतम आनन्दघन विग्रह। श्रीकृष्णके आनन्दके अंशसे ही विश्व आनन्दित है—"एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।" श्रीकृष्ण ही हैं सर्वजगत्‌के सुखका एकमात्र हेतु। पर श्रीकृष्णके सुखका हेतु हैं श्रीमती राधिका। श्रीकृष्णके रूपके दर्शनकर सभी जीव अपने नेत्रोंको सफल करते हैं। श्रीराधाके रूपके दर्शनकर श्रीकृष्ण अपने नेत्रोंको सफल करते हैं। श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि विश्वको विमोहित करती है। श्रीराधाका कलकण्ठ श्रीकृष्णको विमोहित करता है। श्रीकृष्णकी अंग-गन्ध जीवमात्रकी घ्राणेन्द्रियको उल्लसित करती है। श्रीराधाकी अंग-गन्ध श्रीकृष्णको उल्लसित करती है। श्रीकृष्णके दर्शन-स्पर्शनसे स्थावर-जंगम आत्महारा होते हैं। श्रीराधाके दर्शन-स्पर्शनसे श्रीकृष्ण आत्महारा होते हैं। श्रीकृष्णकी सर्वेन्द्रियोंको आनन्दोल्लसित करनेवाले महद्‌गुणोंकी एकमात्र आकर हैं श्रीराधिका—

श्रीकृष्णेन्द्रियाह्लादगणैरुदारा ।
श्रीराधिका राजति राधिकेव ॥

(गोविन्द लीलामृत)

श्रीकृष्ण राधाको प्राप्तकर जिस सुखका अनुभव करते हैं, वह उनके स्वरूपानन्दसे भी अधिक है। पर श्रीराधाको प्राप्तकर श्रीकृष्णको जो सुख होता है, उससे भी श्रीकृष्णको प्राप्तकर श्रीराधाको सुख अधिक होता है। रसशास्त्रके आदि आचार्य भरत मुनिका कथन है कि प्रगाढ़ मिलनमें रसके आश्रय और विषयका सुख समान होता है। पर यह नियम प्राकृत रसके आश्रय और विषयके सम्बन्धमें हो ठीक है, व्रजके अप्राकृतरसके अप्राकृत आश्रय-विषयके सम्बन्धमें नहीं। राधा-कृष्णके निविड़ मिलनमें राधाका सुख श्रीकृष्णके सुखसे कहीं अधिक है।

पर राधाके सुखकी श्रीकृष्णके सुखसे भी अधिक होनेकी बात तो पीछे, पहले प्रश्न यह है कि श्रीराधाको जब अपने सुखकी चाह ही नहीं, तो

१. चै. च. १।४।६

उन्हें सुख होता कैसे है ? कारणके बिना कार्य नहीं होता। क्षुधाके बिना आस्वादन नहीं होता। क्षुधा होनेसे ही आहार-आस्वाद्य और तुष्टि-पुष्टिकर होता है। सुख को चाह होनेसे ही सुख होता है। फिर राधाको बिन चाहे सुख कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, पर होता है। राधाके प्रेमकी यही विचित्रता है। इसमें बिन चाहे सुख होता है। कारणके बिना कार्य होता है—"निज कामपूर्णता एव सुखोत्पत्तौ हेतुः। किन्तु तदविनैव श्रीराधायाः श्रीकृष्णानुभवसुखजायते इत्येव तत्र विचित्रता। कारण बिना कार्योत्पत्तेः।" श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ॥

श्रीकृष्णानुराग स्वरूपसे ही सुखमय है—"शान्तिरूपात्प्रेमानन्द-रूपाच्च।"[1] जागतिक किसी पदार्थकी चाह सुखमय नहीं होती। उसकी प्राप्ति सुखमय होती है। पर श्रीकृष्णके सुखकी चाह ही सुखमय है। श्रीकृष्णके सुख केलिये बलवती तृष्णा जितना सुखमय है, उतना श्रीकृष्णकी प्राप्ति भी सुख-मय नहीं है।

श्रीकृष्णको जब सुख होता है, तो गोपियोंको सुख आपही होता है। बिन चाहे होता है, क्योंकि श्रीकृष्ण-सुख ही तो गोपियोंका सुख है। उनका सुख श्रीकृष्णके सुखसे तादात्म्य-प्राप्त है। गोपियोंका सुख श्रीकृष्णके सुखमें पर्यवसित है, श्रीकृष्णका सुख गोपियोंके सुखमें पर्यवसित है।

पर यदि श्रीकृष्णका सुख ही श्रीराधाका सुख है, तो उनका सुख भी उतना ही होना चाहिये, जितना श्रीकृष्णका। उससे अधिक क्यों ? इसका कारण यह है कि राधाका अनुराग श्रीकृष्णके अनुरागसे अधिक है। दूसरा कारण यह है कि श्रीराधाका सुख उनके सेवा-भावसे सम्पुटित और समुज्ज्व-लित है। प्रेमानन्दसे श्रीकृष्ण सेवानन्द श्रेष्ठ है। इसीलिए श्रीकृष्णकी सेवामें जब ऐसे आनन्दका अनुभव होता है, जिसमें अश्रु-कम्पादि सात्विक भाव उदय होकर श्रीकृष्ण-सेवामें बाधा डालते हैं, तब गोपियाँ चरम-पुरुषार्थरूपी उस आनन्दपर भी क्रोध करती हैं—

"निज प्रेमानन्दे कृष्णसेवानन्द बाधे।
से आनन्देर प्रति भक्तेर हय महाक्रोध॥

(चै. च. १।४।१७१)

श्रीरूप गोस्वामीके शब्दोंमें वे पद्मनयना गोपियाँ तब अश्रुवर्षनकारी उस प्रेमानन्दकी उच्च स्वरसे निन्दा करती हैं—

---

१. नारद-भक्ति सूत्र. ६०

"गोविन्द प्रेक्षणाक्षेपि-वाष्पपूर्णभवर्षिणम् ।
उच्चैरनिन्ददानन्दमरविन्द-विलोचना ॥"

इसके विपरीत यदि श्रीकृष्ण-सेवाके लिए दुखके महासमुद्रमें भी निमज्जित होना पड़े, तो श्रीकृष्णके प्रति अपने असीम अनुरागके कारण वे उस दुःखका भी सुखके महासमुद्रके रूपमें अनुभव करती हैं।

राधाकी इस प्रकारकी महाअद्भुत सुख-सम्पत्तिका लोभ श्रीकृष्णको इस तीसरी वाञ्छाको जन्म देता है। उनका हृदय यह जाननेकी तीव्र लालसासे उद्वेलित रहता है कि अपने सेवोन्मुख प्राण-चक्षुओंसे श्रीराधा मेरे अनुभव-जनित जिस सुखका आस्वादन करती हैं, वह कैसा है—',सौख्यं चास्या मदनुभवतः की दृशं व" ?[1]

ये तीनों वांछाएं वास्तवमें रस-ब्रह्मके रसका पूर्णतम आस्वादन करने की मौलिक वाञ्छाके तीन रूप हैं। रसब्रह्मका पूर्णतम आस्वादन पूर्णतम भावके बिना सम्भव नहीं है। पूर्णतम आस्वादनके लिए रसराजका महाभाव से भावित होना, विषयालम्बनका आश्रयालम्बन होना, अर्थात् श्रीकृष्णका राधा होना या राधासे भावात्मक ऐक्य स्थापिक करना आवश्यक है। जब तक ऐसा नहीं होता, रसरूप ब्रह्मका अपनी इस तृष्णाकी तीन वाञ्छाओंके रूपमें उद्घोषणा करते रहना स्वाभाविक है।

रसराज श्रीकृष्णकी रसके पूर्णतम आस्वादनकी साध पूरी होती है प्रेम-विलासकी चरम अवस्था प्रेमविलास-विवर्तमें, जिसमें श्रीरूपगोस्वामीके शब्दोंमें शृङ्गार-रसरूपी निपुण शिल्पी राधा-कृष्णके चित्तरूपी दो लाक्षा-खण्डोंको द्रवीभूतकर एक कर देता है और प्रचुर नवानुराग हिंगुल (सिंदूर) द्वारा अनुरञ्जितकर उन्हें एक अनिर्वचनीय, अथाह आनन्दाम्बुधिमें निमज्जित कर देता है—

राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्-
युञ्जन्नद्रिनिकुञ्ज कुञ्जरपते ! निर्धूत भेद भ्रमम् ।
चित्राय स्वयम्व रंजयदिह ब्रह्माण्ड हर्म्योदरे
भूयोभिर्नवरागहिंगुल भरैः शृङ्गारकारुः कृति ॥

(उ. नी. म., स्थायिभाव, १८३)

• • •

१. वही

परकीया-रस

रस-शास्त्रको श्रीमन्महाप्रभुकी विशेष देन है परकीया भावकी उपासना। श्रीमद्भागवत्में व्रजगोपियोंके परकीया-भावका स्पष्ट वर्णन है। पर श्रीमन्महाप्रभुके पूर्व किसी आचार्य द्वारा साध्य-साधनके रूपमें इसका प्रचार नहीं किया गया।

श्रीरूप गोस्वामीके अनुसार परकीया नायिका वे हैं, जो केवल अन्तरंग रागके कारण श्रीकृष्णको अपने आपको समर्पणकर देती हैं और जिनका राग इतना प्रबल है कि वह विवाह-प्रक्रियात्मक किसी बाह्य धर्मकी अपेक्षा नहीं रखता।[1] परकीया दो प्रकारकी हैं—परोढ़ा एवं कन्यका। परोढ़ा वे हैं, जो नायककी विवाहिता पत्नी न होकर अन्य किसीकी विवाहिता पत्नी हैं; कन्यका वे हैं, जो न नायककी विवाहिता हैं, न अन्य किसी की।

कृष्ण-कान्ताएं तीन प्रकारकी हैं—परव्योमको लक्ष्मीगण, द्वारकाकी महिषीगण और व्रजाङ्गनाएं। इनमें लक्ष्मीगण और महिषीगण स्वकीया हैं, व्रजाङ्गनाएं परकीया हैं। व्रजाङ्गनाओंमें कुछ परोढ़ा हैं, जिनका विवाह अन्य पुरुषोंके साथ हो चुका है और कुछ कन्यका हैं। परोढ़ा और कन्यका दोनों कृष्णको अपना पति मानती हैं, यद्यपि लौकिक दृष्टिसे वे उनके उपपति हैं। श्रीकृष्णके प्रति उनका प्रेम नित्य-सिद्ध होनेके कारण इतना पवित्र, इतना गाढ़ और स्वाभाविक है कि उसे विवाह जैसी किसी बाह्य प्रक्रिया या संस्कारकी आवश्यकता ही नहीं।

भरत मुनि जैसे प्राकृत-रसके मर्मज्ञ व्यक्तियोंने परकीया रसको स्वकीया-रससे श्रेष्ठ माना है। भरत मुनिका कहना है कि परकीया नायिका स्वकीयाकी अपेक्षा दुष्प्राप्य होती है। नायकको उसके साथ मिलनमें बहुत सी विघ्न-बाधाओंका सामना करना पड़ता है। उन विघ्न-बाधाओंके कारण

---

१. उ. नी. म., हरिप्रिया, १८

उसका प्रेम जितना मादक और आस्वाद्य होता है, उतना स्वकीया नायिका का नहीं होता। परन्तु परकीया रसको उन्होंने भगवत्-प्रेमके एक प्रकारके रूपमें माना है या नहीं इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु और परकीयावाद

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी उपासना परकीया रसकी थी यह इस बातसे स्पष्ट है कि उन्होंने रथयात्राके समय पुरीमें 'यः कौमारहरः' श्लोक (पद्यावली ३८२; चै. च. २, १, ६)का गान किया था, जिसमें स्पष्टरूपसे परकीया रसको स्वकीयासे श्रेष्ठ कहा गया है। श्रीरूप गोस्वामोने इस श्लोकका रूपान्तर अपने 'प्रियः सोऽयम् कृष्णः' श्लोक (पद्यावली ३८३; चै. च. २, १, ७) में किया था, जिसे पढ़कर महाप्रभुने श्रीरूप गोस्वामीकी प्रशंसा करते हुए कहा था—'वह मेरा मनोभाव भली प्रकार जानता है।' इससे और भी स्पष्ट है कि वे पूर्णतयः परकीया-रसके पक्षपाती थे।

परन्तु महाप्रभुके परकीयारसके सिद्धान्तके सम्बन्धमें कोई भ्रान्ति न हो इस उद्देश्यसे दो बातोंको पहले ही स्पष्ट कर देना परम आवश्यक है—

(१) महाप्रभुका परकीयारस केवल श्रीकृष्णसे सम्बन्धित है। प्राकृत नायक-नायिकाओंके परकीयारसको उन्होंने अत्यन्त जुगुप्सित माना है। प्राकृत नायक-नायिकाओंसे सम्बन्धित किसी प्रकारके भी रसको उन्होंने रसरूपमें स्वीकार नहीं किया है।

(२) श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी उन्होंने केवल परकीया भावको स्वीकार किया है, परकीयात्वको नहीं, क्योंकि श्रीकृष्णके लिये कोई पर है ही नहीं; जितने भी नर-नारी हैं सब उनकी ही शक्तिके अंश होनेके कारण उनके जितना अपने है उतना कोई विवाहिता स्त्री भी अपने पतिकी अपनी नहीं है।

श्रीमद्भागवत् और परकीयावाद

श्रीमद्भागवत्में रासलीलाके प्रसंगमें परकीयारसका स्पष्ट वर्णन है। रासमें जिन गोपियोंने भाग लिया था, उनमें वे परोढ़ा भी थीं, जो अपने पतियोंके मना करनेपर भी उन्हें छोड़कर आयी थीं। श्रीकृष्णने स्वयं उनसे कहा था–'तुम लोग शीघ्र लौट जाओ और घर जाकर अपने-अपने पतियोंकी

सेवा करो। स्त्रियोंका परम धर्म यही है कि वे पति और उसके भाई-बन्धुओं की निष्कपट सेवा करें। जिन स्त्रियोंको उत्तम लोक प्राप्त करनेकी अभिलाषा है, उन्हें पातकीको छोड़ और किसी प्रकारके पतिका त्याग नहीं करना चाहिये, भले ही वह बुरे स्वभाववाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन क्यों न हो। कुलीन स्त्रियोंके लिये, औपपत्य या किसी दूसरे पुरुष की सेवा करना अत्यन्त निन्दनोय है—'जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः।'[1]

श्रीकृष्णकी उक्तिसे स्पष्ट है कि गोपियाँ उनकी विवाहिता स्त्रियाँ नहीं थीं, उन्होंने अपने आन्तरिक रागके कारण हो अपनेआपको उन्हें समर्पित किया था और लौकिक दृष्टिसे उनका यह कर्म निन्दनीय था।

गोपियोंने यह कहकर श्रीकृष्णकी उक्तिका अनुमोदन किया था—'तुम्हारा कहना कि अपने पति, पुत्र और भाई-बन्धुओंको सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है, अक्षरशः ठीक है। पर तुमने हमारा चित्त हर लिया है। हमारो गति-मति ऐसी होगई है कि हम तुम्हारे प्रति अपने आन्तरिक रागके कारण तुम्हारे चरण-कमलोंको छोड़ एक पग भी किसी और दिशामें बढ़ानेमें असमर्थ हो रही हैं।

प्रश्न यह है कि श्रीकृष्णने अन्तमें गोपियोंको अंगीकार कर क्या अपने ही वचनोंके अनुसार एक निन्दनीय कार्य नहीं किया? जिस औपपत्य को उन्होंने जुगुप्सित कहा था उसे अपने हो सम्बन्धमें घटाकर क्या एक धर्म-विरुद्ध कार्य नहीं किया?

इस सम्बन्धमें राजा परीक्षितके प्रश्न और श्रीशुकदेवजी द्वारा दिये गये उसके उत्तरसे तो ऐसा लगता है कि श्रीकृष्णने उपपति रूपसे व्रज-गोपियोंको परकीया कान्ताओंके रूपमें स्वीकार कर जान-बूझकर धर्मका उल्लङ्घन किया।

परीक्षितने पूछा—'भगवन्! श्रीकृष्ण सारे जगत्के स्वामी हैं। उनके अवतारका उद्देश्य हो था धर्मकी स्थापना और अधर्मका नाश करना। फिर उन्होंने स्वयं धर्मके विपरीत परस्त्रियोंका स्पर्श क्यों किया?'

---

१. भा. १०।२६।१६-२६

शुकदेवजीने उत्तरमें कहा—'सूर्य, अग्नि और ईश्वर कभी-कभी धर्म का उल्लङ्घन और साहसका काम करते देखे जाते हैं। परन्तु उन कार्मोंसे उन तेजस्वी पुरुषोंको कोई दोष नहीं लगता। देखो, अग्नि सब कुछ खा जाता है, परन्तु उन पदार्थोंके दोषसे लिप्त नहीं होता। जिन लोगोंमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है, उन्हें मनसे भी ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिये। यदि मूर्खतावश कोई ऐसा काम कर बैठे, तो उसका नाश होजाता है।[1] भगवान् शङ्करने हलाहल विष पी लिया था, दूसरा कोई पिये तो वह जलकर भस्म हो जाय।'

उपरोक्त प्रश्न साधारण लौकिक दृष्टिकोणसे किया गया है और उसी साधारण दृष्टिकोणसे उसका उत्तर दिया गया है। इस दृष्टिकोण से श्रीकृष्ण और गोपियोंका कर्म निन्दनीय है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। परन्तु श्रीकृष्ण और व्रजाङ्गनाएं साधारण नायक-नायिका तो हैं नहीं। उनका असाधारण और लोकोत्तर स्वरूप है। उसपर दृष्टि डाली जाय तो उनका कर्म निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। श्रीकृष्ण सभी शरीरधारियोंमें आत्मारूपसे विराजमान हैं और उनके परमपति हैं।[2] इस दृष्टिसे गोपियाँ यदि उपपति रूपमें भी उन्हें स्वीकार करें तो कोई दोष नहीं। गोपियोंने उस संकटकी घड़ीमें, जब श्रीकृष्णने उनके अभिसारको धर्मके विरुद्ध बताते हुए उनसे घर लौट जानेको कहा था, उनसे इसी भावसे उन्हें अंगीकार करनेकी प्रार्थना की थी।[3] पर व्रजगोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति इस प्रकारका भाव स्थायी नहीं है। साधारण रूपसे उनका श्रीकृष्णके प्रति ऐश्वर्यज्ञान माधुर्य-ज्ञानसे पूर्णतयः आवृत रहता है। केवल विरहमें या भावी विरहकी आशंका की संकटापन्न स्थितिमें क्षण भरके लिये उभरकर उनको रक्षा करता है। यह भाव व्रजकी नर-लीला और मधुररसके विपरीत है, इसलिये गौड़ीय आचार्योंने इसे कोई महत्व नहीं दिया है। उन्होंने समस्याका समाधान नर-लीलाके माधुर्यको सुरक्षित रखते हुए ही किया है।

गौड़ीय आचार्यों द्वारा वास्तविक परकीयात्वका खण्डन

व्रजरमणियोंके वास्तविक परकीयात्वका गौड़ीय-वैष्णव आचार्योंने जिस प्रभावशाली ढंगसे खण्डन किया है, वैसा अन्य किसीने नहीं किया।

---

१. भा. १०।३३।२७-३१

२. भा. १०।२९।३२

३. भा. १०।३३।३६

श्रीरूपगोस्वामीका मत है कि व्रजसुन्दरियोंमें परोढ़ात्व और श्रीकृष्ण में औपपत्य वास्तविक हो, तो भी उसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि श्रीकृष्ण अप्राकृतनायक है और व्रजसुन्दरियाँ अप्राकृत नायिकाएं। व्रजसुन्दरियाँ हैं श्रीकृष्णकी ह्लादिनी-प्रधाना स्वरूप-शक्तिकी मूर्त विग्रह, श्रीमती राधिकाकी कायव्यूह—उनकी अंशरूपा। नाट्य-शास्त्रमें जिन परोढ़ा रमणियोंका निषेध किया गया है, वे हैं प्राकृत नायिकाएं। प्राकृत्‌रसकोविद्‌गण अप्राकृत भक्ति-रस स्वीकार ही नहीं करते। इसलिये उन्होंने जिस परोढ़ात्व या औपपत्यकी निन्दा की है, वह प्राकृतरससे सम्बन्धित प्राकृत नायक और नायिकाओंका परोढ़ात्व और औपपत्य ही हो सकता है। श्रीकृष्ण और ब्रजसुन्दरियोंका अप्राकृत भक्तिरस प्राकृतरस-सम्बन्धी विधि-निषेधोंकी परिधिमें नहीं आता, क्योंकि न तो उनके देह ही प्राकृत हैं, न उनके क्रिया-कलाप। श्रीरूपगोस्वामी ने नाटक-चन्द्रिकामें लिखा है—'यत् परोढ़ोपपत्यन्तु गौणत्वं कथितं बुधैः। तत्तु कृष्णञ्च गोपीश्च विनेति प्रतिपाद्यताम्॥—पण्डितोंने जो परोढ़ा और उपपतिकेगौणत्वकी बात कही है, वह श्रीकृष्ण और गोपियोंको छोड़कर अन्य परोढ़ाओं और उपपतियोंके सम्बन्धमें है। अलंकारकौस्तुभकार कवि कर्ण-पूरने भी कहा है कि—'अप्राकृत रसमें परोढ़ा रमणीकी रति हो सर्वोत्तम कही जाती है।'

परन्तु मुख्य बात यह है कि गोपियोंमें परोढ़ात्व है ही नहीं। उनका श्रीकृष्णके सम्बन्धमें पत्नीत्व अनादिसिद्ध और अभिमानजात है, उसी प्रकार जिस प्रकार लक्ष्मीका नारायणके सम्बन्धमें पत्नीत्व अनादिसिद्ध और अभिमानजात है। परपुरुषको कौन कहे, यदि स्वयं श्रीकृष्ण चतुर्भुजरूप धारणकर उनके सम्मुख आयें, तो भी उनका चित्त उनके प्रति आकर्षित न होगा। इसप्रकारका अलौकिक पातिव्रत्य है उनका। रायरामानन्दने चैतन्य-चरितामृतमें उनके सम्बन्धमें कहा है—'जार पतिब्रता धर्म वाञ्छे अरुन्धुती', अर्थात् उनके पतिव्रता धर्मको अरुन्धुती जैसी नारी भी वांछा करती हैं। श्रीरूपगोस्वामीने श्रीराधाके सम्बन्धमें कहा है—

'ह्लादिनी या महाशक्ति सर्वशक्ति वरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता॥
(उ. नी. म. राधा ४)

—श्रीराधा श्रीकृष्णकी सर्वशक्तिवरीयसी महाशक्ति ह्लादिनीकी ही सारभावरूपा हैं—यह (बृहद् गौतमीय) तन्त्रादिमें प्रतिष्ठित हैं।'

अन्यान्य गोपसुन्दरीगण राधाकी ही कायव्यूह—उनका आँशिक प्रकाश हैं। श्रीजीवगोस्वामीने इस सम्बन्धमें ब्रह्म-संहिताके 'आनन्द चिन्मयरस प्रतिभाविताभिः'–इत्यादि श्लोकके अन्तर्गत 'निज रूपतया कलाभिः' वाक्यकी व्याख्या की है। 'कला' शब्दका अर्थ है–शक्तिका अंश। इस श्लोकमें गोपियोंको कृष्णकी कला कहनेका अर्थ यही है कि वे श्रीकृष्णकी शक्तिरूपसे या शक्तिके अंशरूपसे उनकी स्वकीया काँता हैं, परकीया नही। श्रीजीवगोस्वामीने ब्रह्मसंहिताका 'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः'–इत्यादि वाक्य, काशीखण्डमें धर्मराजके 'गोपीपते ! यदुपते ! वसुदेवसूनो'–इत्यादि वाक्य, गोपाल मन्त्रके अन्तर्गत 'गोपीजनवल्लभः' शब्द और गोपालोत्तर-तापनी श्रुतिमें ब्रजगोपियोंके प्रति दुर्वासा ऋषिके वाक्य—'सः वो वोहि स्वामी भवति—वे (श्रीकृष्ण) तुम्हारे स्वामी हैं' और रास प्रसंगमें गोपियोंके लिये श्रीशुकदेवजी द्वारा प्रयुक्त 'कृष्ण-वधू' शब्दको लेकर भी गोपियोंका स्वीयात्व सिद्ध किया है।

गोपिकाओंका परमस्वीयात्व

गोपिकाओंके स्वीयात्वके सम्बन्धमें इतने प्रमाण देकर भी जीवगोस्वामीको सन्तोष न हुआ। इसलिये उन्होंने उन्हें 'परमस्वोया' की आख्या दी है। परमस्वीयात्वके पक्षमें उनके तर्क इस प्रकार हैं :—

(१) रुक्मिणी आदि महिषियोंकी श्रीकृष्णकी नित्य-स्वकीया कान्ताके रूपमें प्रसिद्धि है। पर उनमें केवल समञ्जसा रति है। व्रजगोपिकाएं सब महाभाववती हैं। उनमें समर्थारति सर्वदा विराजमान है। प्रकट-लीलाका प्रतीतिमूलक परकीयात्व जब स्वकीयात्वमें पर्यवसित हो जाता है, तब भी वे महाभाव द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं, उनकी सामर्थारति तब भी वर्तमान रहती है। इससे स्वकीया महिषीगणकी अपेक्षा उनके पत्नीत्वकी उत्कर्षता सिद्ध होती है। इसलिये उन्हें परमस्वीया कहना उचित है।

(२) श्रीकृष्णके अपने वचन हैं–'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्–जो जिसभावसे मेरी शरण ग्रहण करता हैं, मैं उसभावसे उसे प्राप्त होता हूँ' (गीता ४,११)। रास-लीलाके पूर्व श्रीकृष्णके साथ गोपियोंके कथोपकथनसे उनका श्रीकृष्णकेप्रति पत्नीभाव स्पष्ट है। उद्धवकेसाथ वार्तालापमें उन्होंने श्रीकृष्णके लिये 'आर्यपुत्र' (पति) शब्दका प्रयोग करते हुए पूछा है—'अपि वत मधूपुर्यामार्य पुत्रोऽधुनास्ते—वह आर्यपुत्र अव क्या मधुपुरीमें हैं ?'

(भा. १०, ४७, २१) इससे भी उनका पत्नीभाव सिद्ध है। कुमारी अवस्थामें भी उनका श्रीकृष्णके प्रति यही भाव था, जैसा कि भा. श्लोक १०, २१, ९ में उनके उस वाक्यसे जान पड़ता है—'हे गोपीगण ! इस वेणुने न जाने पूर्व जन्ममें कौन-सा पुण्य किया है, जिसके फल-स्वरूप हम गोपियोंकी निजी सम्पत्ति श्रीदामोदरकी अधर-सुधाका स्वयं पान किये जा रही है।'

श्रीकृष्णको भी अपने वचनानुसार गोपियोंको उसी भावसे स्वीकार करना चाहिये। उन्होंने ऐसा किया है, यह उद्धवके प्रति उनके इस वाक्यसे सिद्ध है—'हे उद्धव ! वे व्रजगोपियाँ मेरे व्रजमें लौटनेके सन्देशको पाकर जैसे-तैसे बड़े कष्टसे अपनेप्राणोंको धारण कररही है, क्योंकि वे मेरी वल्लवी-प्रेयसी हैं और उन्होंने अपना जीवन मुझे समर्पण कर रखा है।' भा. १०, ४६, ६॥ जिस रमणीको उसके रागके कारण सत्य-संकल्प श्रीकृष्ण स्वयं पत्नीरूपमें अङ्गीकार करें, उसका स्वीयात्व क्या विवाह-संस्कारकी वाह्य प्रक्रिया द्वारा बनाये गये स्वीयात्वसे अधिक दृढ़ नहीं है ?

(३) श्रीमद्दशर्णमन्त्रके नाम-व्याख्यान सम्बन्धमें गौतमीयतन्त्रमें कहा है—'अनेक जन्मसिद्धानां गोपीनां। पतिरेव वा नन्दनन्दन इत्युक्त स्त्रैलोक्यानन्द वर्द्धन इति॥ अनेक जन्मसिद्धा गोपियोंके पति श्रीकृष्ण ही त्रिलोकके आनन्द-वर्धक नन्दनन्दन रूपसे विख्यात हैं।' श्रीजीव गोस्वामीने 'अनेक-जन्म सिद्धानाम्' शब्दकी व्याख्यामें लिखा है कि अनादिकालसे श्रीकृष्ण प्रति कल्पमें एक बार ब्रह्माण्डमें आविर्भूत होते हैं। प्रति कल्पमें उनके साथ उनकी नित्य कान्ता गोपियाँ भी आविर्भूत होती हैं और प्रति कल्पमें प्रकट-लीलामें परकीयाभावमयी लीला दाम्पत्यमें पर्यवसित होती है। इसलिये श्रीकृष्ण गोपियोंके पति ही हैं, उपपति नहीं।

गोपियोंके विवाहकी काल्पनिकता

श्रीजीवगोस्वामीका आशय यह है कि प्रत्येक कल्पमें व्रजलीलाके किसी एक प्रकाशमें श्रीकृष्ण दन्तवक्र-बध पश्चात् ब्रजको लौटते हैं, तब श्रीराधा आदि व्रजगोपिकाओंसे उनका विवाह होता है।[1] इससे दो बातें

---

१. गोपियोंके विवाहके प्रमाणमें निम्न शास्त्रोंका उल्लेख किया जा सकताहै—

(क) ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्णजन्म-खण्ड, पंचदश अध्याय।'

(ख) गर्ग संहिता, गोलोक-खण्ड, षोड़स अध्याय।

(ग) पद्म पुराण, द्वात्रिंश अध्ययाय।

(घ) स्कान्द, प्रभास खण्ड।

सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि प्रति कल्पमें विवाहके पूर्व भी व्रजगोपिकाएं श्रीकृष्णकी स्वीया ही होती है, क्योंकि पूर्व-पूर्वके कल्पोंमें उनका श्रीकृष्णसे एकबार नहीं, अनन्त बार विवाह हुआ होता है। दूसरे यह कि अन्य गोपोंके साथ उनका विवाह काल्पनिक ही होता है, वास्तविक नही, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो श्रीकृष्णके साथ उनका विवाह कैसे सम्भव हो सकता है ?

गोपिकाओंके विवाहकी काल्पनिकता

श्रीरूप गोस्वामीने 'ललित माधव' नाटकमें गोपोंके साथ व्रजसुन्दरियों के विवाहको मायाकल्पित कहा है—'एवमेव ललितमाधवोक्तेर्गोपीनां गोपैर्विवाहस्य माय्यिकत्वेऽपि'—इत्यादि (उ. नी. म. कृष्णवल्लभा ।। २०)। उनके अनुसार गोपोंका विवाह अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया द्वारा निर्मित व्रजसुन्दरियोंकी प्रतिमूर्तियोंके साथ हुआ था, उनके साथ नहीं। मायिक विवाहके कारण योगमायाके प्रभावसे वे ब्रजसुन्दरियोंको अपनी पत्नी मानते थे और अन्यान्य व्रजवासीगण भी ऐसा ही मानते थे। वास्तवमें वे उनके पतिस्मन्य ही थे, पति नहीं।

श्रीजीवगोस्वामीने गोपाल चम्पूमें इस माया-कल्पित विवाहका इस प्रकार वर्णन किया है। गोपकन्याओंके माता-पिताने कंसके हाथसे उनकी रक्षा करनेकेलिये अल्पावस्थामें ही उनका विवाह कर देनेका निश्चय किया। उन्होंने सभीने कृष्णके साथ उन्हें व्याह देना चाहा। पर सर्वज्ञ गर्गाचार्यने कहा कि यदि कृष्णके साथ उनका विवाह किया गया, तो विवाहके पश्चात् सभीका कृष्णसे विच्छेद हो जायगा। तब वे अन्य गोपोंके साथ उनके विवाहका प्रयत्न करने लगे। योगमायास्वरूपा पौर्णमासीदेवीने सोचा कि नित्य-कृष्ण-कान्ता गोपियोंका अन्य गोपोंके साथ विवाह न तो उचित ही है और न सम्भव ही, पर श्रीकृष्णको सर्वोत्कृष्ट परकीया रसका आस्वादन करानेके लिये उसकी प्रतीति आवश्यक है। इसलिये उन्होंने एक स्वप्न-जालकी रचना की, जिसमें वर-पक्ष और कन्या-पक्ष दोनोंने देखा कि प्रस्तावित विवाह हो गया है। योगमायाके प्रभावसे उन्होंने इस स्वप्नको जाग्रत्स्वस्थाका विवाह समझा। पूर्व चम्पू, १५, ४८।। परन्तु गोपकन्याओंने यह स्वप्न नहीं देखा। इसलिये जहाँ तक उनका प्रश्न है, स्वप्नमें भी उनका विवाह किसीके साथ नहीं हुआ। विवाह हुआ उनकी प्रतिमूर्तियोंके साथ, जो प्रातीतिकी, वस्तु-सत्ताशून्या और छायास्वरूपा थीं। उनका विवाह भी वास्तव गोपोंके साथ न होकर स्वप्नमें गोपोंकी प्रतिमूर्तियोंके साथ ही हुआ। वास्तव गोप और वास्तव गोपियाँ दोनोंमें से कोई भी उस विवाहमें सम्मिलित नहीं हुआ।

गोपियाँ तो प्रारम्भसे ही, जब उन्होंने श्रीकृष्णको देखा भी नहीं था, उनमें स्वाभाविकरूपसे अनुरक्त थीं। वे अन्य किसीके साथ अपने विवाहकी सोच भी नहीं सकतीं थीं। स्वाप्निक विवाहके पश्चात् वर-पक्षके लोग उन्हें अपने माता-पिताके पासही छोड़ गये थे, क्योंकि उनकी अवस्था उस समय बहुत छोटी थी। कैशोरावस्था प्राप्त करनेपर, जब उनके माता-पिताने उन्हें श्वसुरालय भेजना चाहा, तब उन्होंने इसे अन्याय समझा और बहुत दुःख माना। पर पौर्णमासीदेवीने किसी प्रकार उन्हें समझा-बुझाकर और यह आश्वासन देकर श्वसुरालय पहुँचा दिया कि वे अपने प्रभाधसे ऐसी व्यवस्था करेंगी, जिससे श्वसुरालयमें रहते हुए भी उन्हें श्रीकृष्णकी प्राप्ति होगी और अनभिलषित पतियोंसे उनका सदा विच्छेद रहेगा। साथही उन्होंने यह विश्वास दिलाया कि वे श्वसुरालयवालोंपर ऐसे प्रतिबन्ध लगा देंगी कि वे उनके प्रति कोई प्रतिकूल व्यवहार न कर सकें। देवीने अपने अलौकिक प्रभावसे किया भी ऐसा ही। ललित-माधवमें उन्होंने गर्गीसे कहा है—'पतिस्मन्यानां वल्वानां ममतामात्रावशेषिता तासुदारता। यदेभिः प्रेक्षणमपि तासां दुर्घटमित्यादि—पतिस्मन्य गोपोंके सम्बन्धमें चन्द्रावली आदि गोपियोंका पत्नीत्व केवल उनके इस ज्ञानतक सीमित है कि 'गोपियां हमारी हैं।' गोपियोंका दर्शनतक उनके लिये दुर्घट है, (अर्थात् गोपियाँ उनके दृष्टिपथमें भी कभी नहीं आतीं, अन्य किसी प्रकारके व्यवहारका तो प्रश्न ही नहीं)।'

श्रीरूपगोस्वामीने उज्ज्वलनीलमणिमें लिखा है कि जब ब्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णसे मिलने जातीं, तब योगमायाके प्रभावसे उनकी प्रतिमूर्तियाँ गोपोंके पास रह जातीं, जिससे वे समझते कि उनकी पत्नियाँ उनके पास हैं और वे श्रीकृष्णके प्रति असूया प्रकाश न करते, पर उनके साथ ब्रजसुन्दरियोंका संगम कभी न होता—

'माया कलिततादृक-स्त्रीशीलनेनानूसूयिभिः।
न जातु ब्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गम्॥'
(उ. नी. न. कृष्णरल्लभा, १९)

अपने मतकी पुष्टि उन्होंने श्रीमद्भागवतके निम्न श्लोकको उद्धृत करकेकी है—

'नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्-स्वान् दारान् ब्रजौक सः॥'
(भा. १०, ३३, ३८)

—(जब ब्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णके साथ रासलीलामें विहार करतीं तब) ब्रजवासीगण योगमायासे विमोहित होकर यह समझते कि उनकी पत्नियाँ उनके पास ही हैं। इसलिये वे श्रीकृष्णमें तनिक भी दोष-बुद्धि न रखते।'

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने लिखा है कि मायाकल्पित प्रतिमूर्तियोंके सम्बन्धमें भी गोपगण यह अभिमानमात्र रखते थे कि वे उनकी पत्नियाँ हैं। उनका भी गोपोंने सम्भोग कभी नहीं किया, क्योंकि नित्य कृष्ण-कान्ता गोपियोंकी प्रतिमूर्तियोंका भी अन्य गोपों द्वारा संभुक्त होना सम्भव नहीं था। उनका ऐसा अलौकिक प्रभाव था कि उन्हें देखकर पतिस्मन्योंमें भी कामका उद्रेक होना तो दूर भक्तिका संचार होता था। इसलिये श्रीशुकदेव जीने कहा है—'माया कल्पित मूर्तियोंको गोपगण (रासलीलाके समय) अपने-अपने पास ('स्वपार्श्व स्थान') समझ रहे थे, अपने-अपने 'तल्पस्था' नहीं'।

काल्पनिक विवाहका उद्देश्य

प्रश्न यह है कि योगमाया द्वारा गोपियोंके अवास्तव परकीयात्व और श्रीकृष्णके अवास्तव औपपत्यकी वास्तवरूपमें प्रतीति कराये जानेका कारण क्या है? इसका उत्तर श्रीरूप गोस्वामीने यह दिया है कि श्रीकृष्ण हैं स्वयं रस-स्वरूप, रसिकेन्द्र शिरोमणि। रसनिर्यासका आस्वादन करना उनका स्वाभाविक धर्म है। रसोंमें सर्वश्रेष्ठ है श्रृङ्गार-रस। श्रृङ्गार-रस ही है उनका सर्वस्व—

श्रृङ्गाररस सर्वस्वं शिखिपिच्छ विभूषम।
अङ्गीकृत नराकार माश्रये भुवनाश्रयम्॥
(उ. नी. म. नायकभेद, २२ धृत कृष्णकर्णामृत वाक्य)

श्रृङ्गार रसकी वैचित्री विशेष है परकीया रस। यह स्यकीया रससे अधिक आस्वाद्य है। अप्रकट लीलामें परकीया रसका आस्वादन संभव नहीं है, क्योंकि वहाँ नित्य और स्वाभाविक दाम्पत्य है। ब्रजके प्रकट प्रकाशकी क्रमलीलामें ही इसका आस्वादन सम्भव है—

'परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
ब्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि बास॥
(चै. च. १, ४, ४२)

—परकीया भावमें रस अधिक उल्लसित होता है और ब्रजके सिवा और कहीं परकीया भाव है नहीं।'

परकीया-रसके आस्वादनके उद्देश्यसे ही श्रीकृष्ण स्वयं ब्रह्माण्डमें अवतरित होते हैं और अपनी नित्य कान्ताओंको अवतरित कराते हैं। इसी उद्देश्यसे योगमाया अपने प्रभावसे श्रीकृष्णमें गोपियोंके प्रति परकीया भाव की और गोपियोंमें श्रीकृष्णके प्रति औपपत्यभावकी सृष्टि करती हैं, जिससे वे एक-दूसरेके प्रति नित्य कान्त-कान्ताभावको भूलकर परकीया-रसकी उत्कृष्ट चमत्कारिताका आस्वादन करते हैं। परकीया-रसमें धर्मके सम्बन्धके कारण नहीं, शुद्ध रागके कारण दोनों एक-दूसरेके प्रति आकर्षित होते हैं। दोनोंका मिलन स्वेच्छापर नहीं, दैवपर निर्भर करता है, जिससे दोनोंका रसार्णव और अधिक उच्छलित होता है। चैतन्य-चरितामृतमें श्रीकृष्णदास कविराजने श्रीकृष्णके अवतारका उद्देश्य उनके मुखसे इसी प्रकार कहलाया है—

एई शुद्ध भक्त लञा करिमू अवतार।
करिब विविध विध अद्भुत विहार॥
वैकुण्ठाद्ये नाहि जे-जे लीलार प्रचार।
से-से लीला करिब, जाते मोर चमत्कार॥
मा-विषये गोपो गणेर उपपति-भावे।
योगमाया करिबेक आपन प्रभावे॥
दोहार रूप-गुणे दोहार नित्य हरे मन॥
धर्म छाँड़ि रागे दोहे करये मिलन।
कभू मिले कभू न मिले दैवेर घटन॥
(चै. च. १, ४, २४-२८)

श्रीकृष्ण शृङ्गाररसराजमय-मूर्तिधर हैं, इसलिये शृङ्गाररसमय-लीला उनकेलिये स्वरूपानुबन्धिनी है, उसी प्रकार जिस प्रकार दाह करनेकी क्रिया अग्निके लिये स्वरूपानुबन्धिनी है। जिस प्रकार दाह करना अग्निके लिये निन्दनीय नहीं है शीतल करना जलके लिये निन्दनीय नहीं है, उसी प्रकार शृङ्गार-रसकी कोई भी लीला शृङ्गार-रसराज श्रीकृष्णके लिये निन्दनीय नहीं हें।

प्राकृत नायक-नायिकाका पारस्परिक संग निन्दनीय हैं, क्योंकि यह उनका स्वरूपानुबन्धी नहीं है। यह एक प्राकृत देहका दूसरे प्राकृत देहसे संग है न, कि एक जीवात्माका दूसरे जीवात्मासे।

देहात्मबुद्धिके कारण जीव इसे अपना संग समझ लेता है। पर देहात्मबुद्धि आगन्तुकी है, स्वरूपानुबन्धी नहीं। इसलिये रमणी-संग जीवके लिये निन्दनीय, कष्टदायी और बन्धन-प्रापक है। केवल समाजके कल्याणकी दृष्टिसे पति-पत्नीका संग अनिन्दनीय और अकल्याणकी दृष्टिसे औपपत्य निन्दनीय कहा जाता है। परन्तु श्रीकृष्णका औपपत्य निन्दनीय नहीं है, क्योंकि यह जीवमात्रके लिये कल्याणकारी है, जैसा कि भागवतके निम्न श्लोकोंसे सिद्ध है—

'अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत ॥
(भा. १०।३३।३७)

—भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएं करते हैं, जिन्हें सुनकर वे भगवत्परायण हों।'

'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्ति परां भगवती प्रलिभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥
(भा. १०।३३।४०)

—जो धीर पुरुष व्रजयुवतियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके इस चिन्मय रास-विलासका श्रद्धापूर्वक बार-बार श्रवण-कीर्तन करता है, उसे भगवान्के चरणोंमें पराभक्ति प्राप्त होती है और वह शीघ्र अपने हृदय-रोग काम-विकारसे छुटकारा पा जाता है। उसका काम-भाव सदाके लिये नष्ट हो जाता है।'

गोपिकाओंके परकीयाभावकी वास्तविकता

कुछ लोगोंका मत है कि गोपियोंमें परकीयात्व तो है ही नहीं, परकीयाभाव भी नहीं है। यह उनके स्वकीयात्वके प्रति अत्यधिक आग्रह-पूर्ण दृष्टिकोणके कारण उनकी अपनी कल्पना ही हो सकती है। श्रीमद्भाग-वतमें गोपियोंके वास्तविक स्वकीयात्वका जैसा वर्णन है, उससे कहीं अधिक उनके परकीया भावका स्पष्ट वर्णन है। हम पहले ही कह चुके है कि रास-

लीलाके पूर्व श्रीकृष्ण और गोपियोंके बीच संवादसे तथा रास-लीलाके वर्णन के पश्चात् राजा परीक्षितके प्रश्न और शुकदेवजीके उत्तरसे यही सिद्ध होता जान पड़ता है कि गोपियाँ श्रीकृष्णकी परकीया कान्ता हैं। पर गोपियोंके नित्य-कान्तत्वको ध्यानमें रखते हुए जब हम इसपर विचार करते हैं, तो हमारे सामने केवल दो ही विकल्प रहते हैं—या तो हम श्रीमद्भागवतके इस अंशको प्रक्षिप्त मानकर झुटला दें, या केवल गोपियोंके भावको ही परकीया मानें। गौड़ीय आचार्योंने दूसरे विकल्पको ही उचित मानकर उनके परकीया-भावको सिद्ध किया है। उपरोक्त संवादोंका यदि हम विश्लेषण करें, तो परकीयाभावके पक्षमें हमें चार महत्वपूर्ण साक्षियाँ मिलेंगी। प्रथम साक्षी श्रीकृष्णकी है। उन्होंने गोपियोंसे घर लौटकर अपने-अपने पतियोंकी सेवा करनेको कहकर, उन्हें पातिव्रत-धर्मकी शिक्षा देकर और औपपत्यको जुगुप्सित बतलाकर उनके अपने प्रति उपपति भावकी प्रत्यक्षरूपसे निन्दा की है। दूसरी साक्षी स्वयं गोपियोंकी है। उन्होंने यह कहकर श्रीकृष्णकी बात का समर्थन किया है कि 'आप जो कहते हैं सो ठीक है, पर आप हमारे पतिरूपमें नहीं, तो परमपतिरूपमें अर्थात् परमात्मारूपसे हमारे पतियोंके भी पतिके रूपमें हमें स्वीकार करें।' तीसरी साक्षी राजा परीक्षितकी है। उन्होंने श्रीकृष्णपर 'परदाराभिमर्षनम्'—परस्त्रीको स्पर्श करनेका' दोष लगाया है। चौथी साक्षी श्रीशुकदेवजीकी है, जिन्होंने इसका खण्डन करना तो दूर, यह कहकर इसकी पुष्टिकी है कि सर्वशक्तिसम्पन्न श्रीकृष्णको धर्मका उल्लंघन करनेसे दोष नहीं लगता।

इससे यह सिद्ध है कि यद्यपि व्रजसुन्दरियोंका परकीयात्व अवास्तविक था, उसकी प्रतीति वास्तविक थी, इतनी वास्तविक कि योगमायाके प्रभावसे स्वयं श्रीकृष्णके वास्तविक ज्ञानको भी आच्छादित करनेमें समर्थ हुई थी। योगमायामें श्रीकृष्णमें भी अवास्तवकी वास्तवरूपमें प्रतीति करानेकी क्षमता है, इसमें सन्देह नहीं। यदि ऐसा न होता, तो श्रीकृष्णकी प्रेममय लीलाओंका होना सम्भव न होता। श्रीकृष्ण और उनके भक्त प्रेमरस की अनन्त वैचित्रीके आस्वादनसे वंचित रहते। उदाहरणरूपसे वात्सल्यरस का आस्वादन करनेके लिये श्रीकृष्णके माता-पिताका होना आवश्यक है। पर अज और अनादि श्रीकृष्णके माता-पिता होनेका कोई प्रश्न ही नहीं। फिर भी योगमाया या चिच्छक्ति रसिकशेखर श्रीकृष्णको वात्सल्यरसका आस्वादन करानेके लिये उनमें नन्द-यशोदा-तनयत्वकी और नन्द-यशोदामें

जनक-जननीत्वकी प्रतीति जन्माये रखती हैं। यह प्रतीति सत्य है, क्योंकि इसकी वास्तविक सामग्री है। वह सामग्री है श्रीकृष्ण और नन्द-यशोदाकी चित्त-वृत्ति, जो चिच्छक्तिको ही वृत्तिविशेष वात्सल्य-प्रेमका परिणाम है। चिच्छक्तिकी वृत्ति विशेषका परिणाम होनेके कारण यह वास्तविक ही नहीं, नित्य भी है। यदि योगमाया अजन्मा श्रीकृष्णमें नन्द-यशोदा-तनयत्वकी वास्तविक प्रतीति करा सकती हैं, तो उनमें औपपत्यकी और व्रजसुन्दरियों में परकीयात्वकी वास्तविक प्रतीति क्यों नहीं करा सकतीं ?

निष्कर्ष यह है कि तत्वकी दृष्टिसे व्रजसुन्दरियाँ सभी श्रीकृष्णकी नित्य-स्वकीया हैं, पर लीलाकी दृष्टिसे परकीया रूपमें प्रतीयमाना हैं। परोढ़ा व्रजसुन्दरियाँ परोढ़ारूपसे प्रतीयमाना हैं, कन्याका कन्यकारूपसे प्रतीयमाना हैं। कुछ लोगोंका मत है कि वस्त्रहरण-लीलाके दिन श्रीकृष्णने कात्यायनी-व्रत-परायणा गोपकन्याओंका गान्धर्व रीतिसे विवाहकर उन्हें अपनी पत्नीरूपमें स्वीकार कर लिया था। अत: वे लीलाकी दृष्टिसे भी श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं। परन्तु गौड़ीय आचार्य उन्हें भी लीलामें स्वकीया नहीं मानते, क्योंकि विवाह एक सामाजिक प्रक्रिया है और यह विवाह इतना गुप्तरूपसे हुआ कि इसका ज्ञान उनके माता-पिता तकको न था। श्रीकृष्ण और उन गोपकन्याओंको छोड़ इसके विषयमें और कोई कुछ नहीं जानता था।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके अनुसार गोपियोंके परकीयात्वकी प्रतीति इतनी वास्तविक है कि स्वयं शुकदेवजी उसे लौकिक दृष्टिसे निन्दनीय और दोषयुक्त माननेको बाध्य हैं। यदि ऐसा न होता, तो वे राजा परीक्षितके प्रश्नके उत्तरमें सीधे यही न कह देते कि—'आपका प्रश्न अनुचित है,व्रजाङ्गनाएं श्रीकृष्णकी स्वकीया पत्नियाँ थीं। उनके सम्बन्धमें श्रीकृष्णद्वारा परदाराभिमर्षनका प्रश्न ही कहाँ उठता है ?' वे श्रीकृष्णके लिये परदाराभिमर्षनको दोषरहित सिद्ध करनेका लम्बा और कष्टसाध्य प्रयास क्यों करते ? इसीलिये कविकर्णपूरने राधा-कृष्णके दाम्पत्यको कहा है—'परकीया भावनिगीर्णदाम्पत्यम्', अर्थात् दाम्पत्य, जो परकीयाभाव द्वारा इस प्रकार कवलित है कि उसका चिन्ह भी कहीं नहीं दीख पड़ता।

कोई यह आपत्ति कर सकता है कि जब गोपियोंकी दृष्टिमें उनका विवाह हुआ ही नहीं, तो उनका परकीयाभाव कैसा ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वास्तवमें उनका विवाह नहीं हुआ, उनके माता-पिता और

समाजके लोगोंको उनके विवाहकी वास्तविक प्रतीति अवश्य हुई, जिसके कारण उन्हें पतिस्मन्योंके घर जानेको बाध्य किया गया। जब पौर्णमासी देवीने भी उन्हें पतिस्मन्योंके घर जानेको बाध्य किया, तब उनके पास इसके सिवा दूसरा कोई विकल्प न रहा कि वे अन्तरात्मासे श्रीकृष्णको अपना पति मानते हुए भी अपने सम्बन्धमें समाजकी मान्यता और आग्रहके कारण पतिस्मन्योंके घर जाना स्वीकार करें। उनका यह स्वीकार कर लेना ही पतिस्मन्योंको पति न मानते हुए भी लौकिक दृष्टिसे उन्हें पति मान लेने जैसा था। यही उनके प्रातीतिक परोढ़ात्व और उस वार्यमानता (श्रीकृष्णसे मिलनेमें विघ्न-बाधाओं) का कारण बना, जो परकीयारसकी सामग्रीका मुख्य उपादान है। गोपियोंके पतिस्मन्य और श्वश्रुसमन्यादि सब उन्हें गृह-बधू ही मानते थे और यदि उनका कोई आचरण गृहकी मर्यादाके प्रतिकूल देखते थे, तो उन्हें वारण करते थे। उनके द्वारा गोपियोंका वार्यमानत्व अवास्तव नहीं वास्तव था। यह ठीक है कि अवास्तविक विवाहके कारण उनका विवाह-जनित वास्तव आर्य-पथ और कुल-धर्म आदि कुछ नहीं था, पर लोक-प्रतीतिके कारण वह सब वैसा ही वास्तविक था, जैसा विवाहिता रमणियोंके जीवनमें हुआ करता है और उनके द्वारा उसका अतिक्रमण भी वैसा ही था। इससे उनका परकीयाभाव पूर्णतय: सिद्ध है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने कहा है कि श्रीकृष्णने गोपियों द्वारा घर-गृहस्थीकी कठिन बेड़ियों ('दुर्जर गेह शृङ्खला:') के तोड़े जानेपर उनके परमोत्कृष्ट प्रेमकी भूरी-भूरी प्रशंशा की है और कहा है कि वे उनके त्याग और प्रेमका बदला चुकानेमें असमर्थ हैं।[1] उद्धवने उनके द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेम के कारण स्वजनों और लोक-वेदकी आर्यमर्यादाका त्यागे जानेकी प्रशंसा की है, जिसका त्यागा जाना बहुत ही कठिन है (दुस्त्यजं स्वजनमार्यं पथञ्च हित्वा)।[2] यदि गोपियोंका परकीयाभाव अवास्तविक है, तो श्रीकृष्ण और उद्धव द्वारा की गयी उनके प्रेम और त्यागकी प्रशंसा भी मिथ्या है।

गोपियोंद्वारा उनके प्रातीतिक परोढ़ात्वके कारण उत्पन्न विघ्न-बाधाओंका अतिक्रमण किये जानेसे उनकी समर्थारतिकी वह सामर्थ्य सिद्ध होती है, जिसके कारण वे लोकधर्म, वेदधर्म आदिका त्यागकर श्रीकृष्णको

---

१. भा. १०।३३।२२

२. भा. १०।४७।६१

अपने प्रेमके वशीभूत करनेमें सफल होती हैं। उनकी समर्थारतिके कारण ही उद्धव उनके प्रेमको रुक्मिणी आदि महिषियोंके प्रेमसे उत्कृष्ट मानते हैं। महिषियोंका प्रेम श्रीकृष्णसे वैवाहिक सम्बन्ध और तत्सम्बन्धी लोक-धर्म, वेद-धर्म आदिकी अपेक्षा रखता है; गोपाङ्गनाओंका प्रेम लोक-धर्म, वेद-धर्म आदिकी अपेक्षा नहीं रखता। महिषियोंका कृष्ण-प्रेम उनके श्रीकृष्णसे सम्बन्धके कारण है, गोपाङ्गनाओंका श्रीकृष्णसे सम्बन्ध उनके कृष्ण-प्रेमके कारण है। महिषियोंके प्रेममें सम्बन्धकी प्रधानता है, गोपियोंके प्रेममें राग का प्रधानता है। इसीलिये उद्धवने 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं'—इत्यादि श्लोकमें महिषियोंकी अपेक्षा गोपियोंकी चरणरेणु प्राप्त करनेकी अभिलाषा व्यक्त की है।

श्रीजीव गोस्वामीने इस बातपर बल दिया है कि गोपाङ्गनाओंद्वारा लोक-धर्म, वेद-धर्मादिका अतिक्रमण उनकी समर्थारतिका परिचायक है, उत्पादक नहीं,उसी प्रकार जिस प्रकार एक मत्त हस्तोद्वारा विशाल वृक्षका उत्पाटन उसके बलका परिचायक है, उत्पादक नहीं। पर लीला-माधुर्य और रसके उत्कर्षके लिये उसका प्रकाशमें आना आवश्यक है। इसीमें परकीया-भावका महत्व है, इसीमें उद्धवादि द्वारा उनके प्रेमकी प्रशंसाकी सार्थकता है और इसीसे श्रीकृष्णकी प्रेम-पराजय और प्रेम-वश्यता है।

परकीयाभावका नित्यत्व

डा. दे का मत है कि श्रीरूप और श्रीजीव परकीयावादके पक्षमें नहीं हैं। उनके ग्रन्थोंमें परकीयावाद केवल छायारूपमें है और वह भी क्षण-काल के लिये ही, क्योंकि प्रकट-लीलाका अवसान होनेपर गोपियाँ नित्य अप्रकट-लीलामें अपने स्वकीया-रूपमें ही श्रीकृष्णके साथ प्रवेश कर जाती हैं।[१] पर उपरोक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि यह मत नितान्त भ्रम-मूलक है। भ्रमका कारण श्रीरूप और श्रीजीव द्वारा बार-बार इस बातका दोहराया जाना है कि व्रजगोपिकाएं श्रीकृष्णकी नित्य कान्ताएं हैं, प्रकट-लीलामें उनका पर-कीयात्व प्रातीतिक और अल्प समयके लिये ही है,क्योंकि श्रीकृष्णके द्वारकासे लौटनेपर उनसे उनका विवाह होजाता है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने

१. S. K. De, Early History of Vaisnava Faith, and Movement in Bengal, p. 312.

बराबर इस बातपर भी पूरा बल दिया है कि परकीयात्वकी प्रतीति और गोपिकाओंका परकीयाभाव वास्तविक हैं। वास्तवमें मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि परकीयात्व वास्तविक है या अवास्तविक, स्थायी है या अस्थायी। मुख्य प्रश्न यह है कि परकीयारस उत्कृष्ट और श्रीकृष्णद्वारा अधिक काम्य है या नहीं। श्रीरूप और श्रीजीव दोनोंने ही परकीयारसको सर्वोत्कृष्ट बताया है और कहा है कि श्रीकृष्ण इसी रसका आस्वादन करनेके लिये प्रकट-लीलामें स्वयं उपपतिका अभिमान लेकर अवतरित होते हैं और गोपिकाओंको परकीया कान्ताओंके अभिमानके साथ अवतरित कराते हैं।

यह ठीक है कि 'ललित-माधव' और 'गोपाल-चम्पू' में श्रीरूप और श्रीजीवने परकीयात्वका पर्यवसान स्वकीयात्वमें किया है। पर जहाँतक जीवगोस्वामीका सम्बन्ध है उन्होंने गोपाल-चम्पूके प्रारम्भमें ही कह दिया है कि वे इस ग्रन्थमें श्रीवृन्दावनके अनन्त प्रकट और अप्रकट प्रकाशोंमें से किसी एक अप्रकट प्रकाश विशेषका वर्णन करने जारहे हैं—'तत्र च प्रकटाप्रकट प्रकाशमयस्य वृन्दावनस्य बहुविधसंस्थानतया बहुविधशास्त्र-श्रुतस्या प्रकट प्रकाशमय-वैभवविशेष एव सम्प्रति वर्णनीयः। श्रीश्रीगोपाल-चम्पू, पूर्व, पृ. १, २९॥ इससे स्पष्ट है कि उनके अनुसार परकीयाका पर्यवसान स्वकीयामें भौम वृन्दावनमें नहीं हुआ।

श्रीजीवगोस्वामीने गोपाल-चम्पूमें भौम-वृन्दावनकी लीलाका वर्णन न करके स्वकीया-लीलायुक्त अप्रकट-प्रकाश-विशेषकी लीलाका वर्णन किया है उन लोगोंको सन्तुष्ट करनेके उद्देश्यसे, जो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र शृङ्गाररसमय परब्रह्म श्रीकृष्णमें भी लोक-वेदादिको मर्यादा भङ्ग करनेका दोष देखनेके अभ्यासी हैं। उन्होंने इसका स्पष्ट संकेत किया है उज्ज्वलनीलमणि, नायकभेद प्रकरणके 'लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं'—इत्यादि श्लोक संख्या १६को अपनी टीका में लिखे निम्न श्लोकमें—

'स्वेच्छया लिखितंकिञ्चित् किञ्चिदत्र परेच्छया।
यत् पूर्वापर सम्बन्धं तत्पूर्वमपरं परम्॥

—इस टीकामें कुछ मेरी अपनी इच्छासे लिखा गया है, कुछ दूसरों की इच्छासे। जिसकी पूर्वापरसे संगति है वह मेरी इच्छासे लिखा गया है, और जिसकी पूर्वापरसे संगति नहीं है, वह दूसरोंकी इच्छासे लिखा गया है।'

श्रीजीव गोस्वामीका हार्द परकीयावाद ही है, यह इस बातसे और भी सिद्ध है कि गोपालचम्पूमें श्रीमती राधिका अपने विवाहके पश्चात् विशाखासे विवाहके पूर्व श्रीकृष्णसे अपने मिलन-सुखके उत्कर्ष का वर्णन करते हुए उसके लिये उत्कण्ठित हो पड़ती हैं। गोपाल-चम्पू, उ. पूरण २६, १८७ ॥

एक और कारण परकीयात्वकी स्वकीयात्वमें परिणति किये जानेका यह है कि श्रीकृष्णको समृद्धिमान सम्भोगका आस्वादन कराना भी योगमाया का एक उद्देश्य है, क्योंकि यह चार प्रकारके सम्भोगोंमें, जिनका उज्ज्वल-नीलमणिमें वर्णन है—संक्षिप्त, संकीर्ण,सम्पन्न और समृद्धिमान—सर्वश्रेष्ठ है.। प्रातीतिक औपपत्यके पश्चात्, जो समृद्धिमान सम्भाग होता है, वह औपपत्य में विप्रलम्भका अंश होनेके कारण अधिक आस्वाद्य होता है।

यह अनुमान अनुचित नहीं जान पड़ता कि ललित-माधवमें श्रीजीव-गोस्वामीके गुरु श्रीरूप गोस्वामीद्वारा परकीयात्वके स्वकीयात्वमें परिणत किये जानेका उद्देश्य भी वही होगा, जो गोपाल-चम्पूमें श्रीजीवगोस्वामीका है। उन्होंने भी अप्रकट-लीलाके किसी प्रकाश-विशेषकी लीलाका सहारा लेकर ही ऐसा किया होगा।

किसी एक ब्रह्माण्डमें प्रातीतिक परकीयात्वकी समाप्तिके कारण न तो परकीयारसकी सर्वोत्कृष्ट रसके रूपमें महत्ता घटती है और न तात्विक दृष्टिसे उसकी क्षणिकता सिद्ध होती है। यदि रस-स्वरूप श्रीकृष्णकी पूर्ण तुष्टि परकीयाभावमें होती है, तो परकीयाभाव वास्तविक भी होना चाहिये और नित्य भी। सच यह है कि परकीयाभाव नित्य भी है, और अनित्य अर्थात् सामयिक भी—अनित्य किसी एक प्रकट-प्रकाशकी दृष्टि से, नित्य अनन्त प्रकाशोंकी समष्टिकी दृष्टिसे, क्योंकि किसी न किसी प्रकाशमें प्रकट-प्रकाशकी प्रत्येक लीला नित्य होती रहती है।[1] इसके अतिरिक्त पद्म-पुराणके अनुसार भौम वृन्दावनके अप्रकट प्रकाशकी नित्य-लीला में कृष्ण-कान्ताओंका परकीया-भाव नित्य है—

परकीयाभिमानिन्यस्तथा तस्य प्रिया जनाः।
प्रच्छन्नेनैव भवेन रमयन्ति निजप्रियाः॥
(पद्मपुराण, पाताल-खण्ड ५२।११)

---

१. चै. च. २।२०।३१५-३०

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती और परकीयावाद

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती परकीयावादके सबसे बड़े समर्थक हैं। उन्होंने जिन शब्दोंमें इसका प्रतिपादन किया है, उनसे लगता है कि उनका मत श्रीजीव गोस्वामी आदिसे भिन्न है। श्रीराधागोविन्दनाथने लिखा है कि उन्होंने श्रीमन्महाप्रभु, श्रीशुकदेव, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीजीव और श्रीकविराज गोस्वामी सभीके मतका खण्डन किया है। परन्तु उनके सम्बन्धमें इस प्रकारकी धारणा निराधार है। उन्होंने मुख्यरूपसे श्रीरूप और श्रीजीव आदिके ही मतका प्रतिपादन किया है, पर उसके कुछ अंशों पर अधिक बल देनेके उद्देश्यसे ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है, जिनसे यह भ्रम हो सकता है कि उनका सिद्धान्त उनसे भिन्न है।

जिन दो अंशोंमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका मत भिन्न जान पड़ता है, वे इस प्रकार हैं—

(१) श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके अनुसार गोपोंके साथ गोपियोंका विवाह सत्य है और उनका परकीयाभाव भी सत्य है, जबकि श्रीरूप और श्रीजीव आदिके अनुसार उनका विवाह योगमाया द्वारा कल्पित और प्रातीतिक है और उनका परकीयाभाव भी प्रातीतिक है।

(२) साधारण मान्यता यह है कि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके अनुसार अप्रकट लीलामें भी कृष्ण-कान्ताओंका परकीयाभाव है, जबकि श्रीरूपादिके अनुसार अप्रकट-लीलामें कृष्ण-कान्ताएं श्रीकृष्णकी स्वकीया हैं।

दोनों पक्षोंमें जिन अंशोंमें समानताएं हैं, वे अधिक मौलिक हैं। यदि उन समानताओंके परिपेक्षमें असमानताओंपर थोड़ा गहराईसे विचार किया जाय, तो वे भी सिमटकर समानताओंमें परिणत होती जान पड़ेंगी, या ऐसा रूप धारण करती दीखेंगी, जिसमें उनकी कोई विशेष सार्थकता ही न रहेगी।

जिन अंशोंमें समानताएं हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) दोनोंके अनुसार गोपियाँ श्रीकृष्णकी नित्य कान्ताएं हैं।

(२) दोनोंके अनुसार परकीया-रस ही सर्वोत्कृष्ट-रस है।

(३) दोनोंके अनुसार श्रीकृष्ण और गोपियोंका परकीयाभाव अनिन्दनीय ही नहीं, प्रशंसनीय है, क्योंकि यह अप्राकृत है।

जब दोनों ही गोपियोंको श्रीकृष्णकी नित्य-कान्ताएं मानते हैं, तो दोनोंको गोपोंके साथ उनके विवाहको असत्य मानना होगा, नहीं तो उनके नित्य-कान्तत्वकी हानि होगी, और जब दोनों ही परकीयारसको सर्वोत्कृष्ट और श्रीकृष्णद्वारा सर्वाधिक आस्वाद्य मानते हैं, तो दोनोंको परकीयारसको वास्तविक और नित्य मानना होगा और उसके आधार-स्वरूप उस विवाह को भी किसी न किसी रूपमें सत्य मानना होगा, नहीं तो श्रीकृष्णके पूर्णत्व की और उनके रसिकशिरोमणित्वकी हानि होगी।

वस्तुत: स्थिति है भी ऐसी ही। श्रीरूप और श्रीजीव आदि गोपोंके साथ गोपियोंके विवाहको अवास्तविक मानते हुए भी उसकी प्रतीतिको वास्तविक मानते हैं, क्योंकि वह योगमाया द्वारा उत्पन्न की गयी है श्रीकृष्ण के रसास्वादनके हेतु। जिस विवाहकी सृष्टि स्वयं योगमायाने की हो और जिसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वास्तविक मानते हों, वह लौकिक दृष्टिसे अवास्तविक होते हुए भी क्या किसी वास्तविक विवाहसे कम वास्तविक होगा ?

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने विवाहको वास्तविक मानते हुए भी उसे बहिरंगा-मायाकी सृष्टि माना है। बहिरंगा-माया श्रीकृष्णको नित्यकान्ताओं को स्पर्श भी नहीं कर सकती। इस दृष्टिसे क्या उनके ही अनुसार उनका विवाह अवास्तविक नहीं है ? उनके गोपोंके साथ विवाहको वास्तविक बताते हुए भी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उनके नित्य कान्तत्वको सुरक्षित रखनेकी भरपूर चेष्टा की है। उनके अनुसार गोपोंके साथ गोपियोंका विवाह वास्तविक तो है, पर इसकी वास्तविकता उस श्रेणीकी नहीं है, जिस श्रेणीकी गोपियोंके नित्य-कान्तत्वकी है। उज्ज्वल नीलमणि, नायिकाभेद, १६ श्लोककी टीकामें उन्होंने इसे 'नित्य-सत्यमेवज्ञेयं' अर्थात् 'सत्य जैसा' कहा है, जिसकी स्पष्ट ध्वनि यही है कि वह सही अर्थमें सत्य नहीं है। इस प्रकार दोनों ही पक्षोंकी दृष्टिसे विवाहकी स्थितिको श्रीशंकराचार्यकी मायाकी तरह अनिर्वचनीय और सतसत् कहा जाय—एक दृष्टिसे सत्य, दूसरीसे असत्य—तो शायद दोनोंमेंसे किसीको आपत्ति न होगी। दोनोंका सिद्धान्त मुख्यरूपसे एक ही है। श्रीजीव आदिने उसके एक पक्ष, नित्य कान्तत्वपर अधिक बल दिया है, तो चक्रवर्तीपादने परकीयात्व पर। दोनोंने एक दूसरेके कमजोर पक्षको बल देकर एक-दूसरेको पुष्टि ही की है, एक-दूसरेका विरोध नहीं। श्रीजीवने सिद्धान्त पक्षकी पुष्टि की है, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने रस-पक्ष की।

अप्रकट-लीलाके सम्बन्धमें दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं कि उसमें विवाहकी परिपाटी नहीं है, हो भी नहीं सकती, क्योंकि वह नित्य-धामकी लीला है। वहाँ जो कुछ भी है सब नित्य है। वहाँ श्रीकृष्ण और कान्ताओं के बीच सम्बन्ध उनके पारस्परिक रागके कारण है, जो स्वाभाविक और अनादि-सिद्ध है। इसलिये सच तो यह है कि उसे स्वकीया कहा जा सकता है, न परकीया। स्वकीया इसलिये नहीं कि वह विवाहके कारण नहीं है;परकीया इसलिये नहीं कि वह विवाहकी अवहेलनायुक्त रागके कारण नहींहै। ठाकुर भक्तिविनोदने उसे स्वकीया और परकीयाके अचिन्त्य-भेदाभेदकी संज्ञा दी है। श्रीजीव गोस्वामीने उसे स्वाभाविक-दाम्पत्य कहा है। श्रीविश्वनाथ-चक्रवर्तीने उसके सम्बन्धमें केवल यह कहा है कि वह स्वकीया नहीं है। वह परकीया है या नहीं, इस सम्बन्धमें उन्होंने कुछ नहीं कहा है। पर 'स्वकीया नहीं है' का अर्थ अधिकतर लोग यह लेते हैं कि उनके अनुसार वह परकीया भावमय है, जो उचित नहीं जान पड़ता। यदि यह मान भी लिया जाय कि उनके अनुसार वह परकीयाभावमय ही है, तो भी श्रीजीव गोस्वामीके 'स्वाभाविक-दाम्पत्य' और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके 'परकीयाभाव' में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। अन्तर केवल शब्दोंमें है, भावमें नहीं। यदि भाव में अन्तर है, तो केवल इतना कि जीवगोस्वामीने स्वकीयात्वपर अधिक बल दिया है और विश्वनाथ चक्रवर्तीने परकीयाभाव पर।

• • •

प्रमुख सन्दर्भ-ग्रन्थ

संस्कृत

श्रीचैतन्यमहाप्रभु	शिक्षाष्टक
कविकर्णपूर	चैतन्यचरितामृत
	गौरगणोद्देश दीपिका
	चैतन्य-चन्द्रोदय
	आनन्द-वृन्दावन-चम्पू
	अलंकार-कौस्तुभ
मुरारीगुप्त	श्रीकृष्णचैतन्य-चरितामृत
सनातन गोस्वामी	वृहद्भागवतामृत और उसकी दिग्दर्शिनी टीका
	वैष्णव-तोषणी (श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धकी टीका)
रूप गोस्वामी	भक्ति-रसामृत-सिन्धु
	उज्जवलनीलमणि
	लघुभागवतामृत
	स्तवमाला
	संक्षेप-भागवतामृत
जीव गोस्वामी	तत्व-सन्दर्भ
	भगवत्-सन्दर्भ
	परमात्म-सन्दर्भ
	श्रीकृष्ण-सन्दर्भ
	भक्ति-सन्दर्भ
	प्रीति-सन्दर्भ
	सर्व-सम्वादिनी

	लघु-तोषणी (सनातन गोस्वामीकी वृहद्वैष्णव-तोषणी संक्षिप्त)
	गोपालम्पू
	वृहत्क्रम-सन्दर्भ एवं लघुक्रम-सन्दर्भ (श्रीमद्भागवत-टीका)
	भक्तिरसामृत-सिन्धुकी दुर्गम-संगिनी-टीका
	उज्ज्वलनीलमणिकी लोचन-रोचनी-टीका
	गोपालतापनी उपनिषत्की सुखबोधनी टीका
गोपालभट्ट गोस्वामी	हरिभक्ति-विलास
रघुनाथदास गोस्वामी	स्तवावली
श्रीनाथ चक्रवर्ती	श्रीमद्भागवत्की श्रीचैतन्य-मतमञ्जूषा-टीका
श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती	श्रीभागवतामृतकणा
	ऐश्वर्य-कादम्बिनी
	माधुर्य-कादम्बिनी
	रागवर्त्मचन्द्रिका
	प्रेम-सम्पुट
	भक्तिरसामृत-सिन्धु-बिन्दु
	श्रीसारार्थदर्शिनी (श्रीमद्भागवत-टीका)
	उज्जवलनीलमणिकी आनन्द-चन्द्रिका-टीका
	भक्तिरसामृत-सिन्धुकी भक्तिसार-प्रदर्शिनी टीका
	उज्जवलनीलमणि-किरणम्
	ब्रह्मसंहिता-टीका
	गोपालतापनी-टीका
बलदेव विद्याभूषण	गोविन्द-भाष्य
	सिद्धान्त-दर्पण
	सिद्धान्त-रत्न
	प्रमेयरत्नावली

	वेदान्त-स्यमन्तक
	श्रीमद्भागवतकी वैष्णवानन्दिनी-टीका
	गीता-भूषण-भाष्य
	तत्व-सन्दर्भ-टीका
कृष्णदास कविराज	गोविन्द-लीलामृत
प्रबोधानन्द सरस्वती	श्रीचैतन्य-चन्द्रामृतम्
	वृन्दावन-महिमामृत
	संगीत-माधव
	श्रीराधारस-सुधानिधि
राघब पण्डित	श्रीकृष्ण भक्ति-रत्नप्रकाश
घनश्याम	भक्ति-सिद्धान्त-रत्न
शंकराचार्य	शारीरिक-भाष्य
रामानुजाचार्य	श्रीभाष्य
निम्बार्काचार्य	वेदान्त-परिजात-सौरभ
मध्वाचार्य	मध्व-भाष्य
वल्लभाचार्य	अणु-भाष्य
नारद-भक्तिसूत्र	
शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र	

बंगला

कृष्णदास कविराज	चैतन्य-चरितामृत, श्रीराधागोविन्दनाथ द्वारा सम्पादित, गौरकृपा-तरंगिनो टीका सहित
वृन्दावनदास	चैतन्य-भागवत,श्रीराधागोविन्दनाथ द्वारा सम्पादित, निताइ-करुणा-कल्लोलिनी-टीका सहित
जयानन्द	चैतन्य-मंगल
लोचनदास	श्री श्रीचैतन्य-मंगल
विमानबिहारी मजूमदार	श्रीचैतन्य-चरितेर उपादान
शिशिरकुमार घोष	अमिय-निमाइ-चरित
मृनालकान्ति घोष	गोविन्ददासेर कड़चा-रहस्य
योगीन्द्र चट्टोपाध्याय	नदेर निमाइ

भूधरचन्द्र गंगोपाध्याय	श्रीगौरांग
गिरिजाशंकरराय चौधरी	बंगला चरित-ग्रन्थे श्रीचैतन्य
अमूल्यचन्द्र सेन	इतिहासेर श्रीचैतन्य
राधागोविन्दनाथ	महाप्रभु श्रीगौरांग
	गौड़ीय-वैष्णव-दर्शन
भक्तिविनोद	महाप्रभुर शिक्षा
	जैवधर्म
	श्रीचैतन्य-शिक्षामृत
सुन्दरानन्द विद्याविनोद	गौड़ियार तिन ठाकुर
	गौड़ीयदर्शनेर इतिहास ओ वैशिष्ठ्य
	परतत्व सीमा श्रीकृष्ण चैतन्य
	श्रीरूपपादेर रसप्रस्थानेर भूमिका
	अचिंत्य-भेदाभेद
	श्रीगौरांगेर असमोर्ध्व अवदान
	वैष्णव-सिद्धान्ते श्रीगुरु-स्वरूप
कानुप्रिय गोस्वामी	श्रीश्रीनाम-चिन्तामणि
	जीवेर स्वरूप ओ स्वधर्म
	श्रीभक्ति-रहस्य-कणिका
पुरीदास	श्रीश्रीहरिकथामृत
कुञ्जबिहारीदास	भक्तिकल्प-लता
	मञ्जरी-स्वरूप-निर्णय
अनन्तदास	रस-विज्ञान
वृन्दावनदास	श्रीहरिकथा-प्रसंग
श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण	श्रीमत्रूप-सनातन-शिक्षामृत
श्रीमनोन्द्रनाथ गुह	श्रीमाधव-माधुर्य-मञ्जूषा
	श्रीगौरकरुणा-चन्द्रिका-कणा
हरिदासदास	गौड़ीय-वैष्णव-साहित्य
	श्रीगौड़ीय-वैष्णव-अभिधान
प्रमथनाथ तर्कभूषण	बांगलार वैष्णव-धर्म
अभयकुमार	वैष्णव-दर्शने जीव-तत्व

[संस्कृत और बंगला ग्रन्थोंकी पूरी सूचीके लिए देखिये श्रीहरिदास दासका बंगला ग्रन्थ—श्रीश्रीगौड़ीय-वैष्णव-साहित्य]

अंग्रेजी

A. K. Majumdar	Caitanya, His Life and Doctrine
S. K. Ghosh	Lord Gauranga
N. K. Sanyal	Sri Krishna Caitanya
D C. Sen	Caitanya and His Age
	Caitanya and His Companions
Kennedy	Caitanya Movement
M. Brahmachari	Vaisnava Vedanta
S. K. De	Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bengal
O. B. L. Kapoor	The Philosophy and Religion of Sri Caitanya
G. N. Mallik	The Philosophy of Vaisnava Religion
S. C. Chakravarti	Philosophical Foundations of Bengal Vaisnavism
Ray Chaudhuri	Early History of Vaisnava Sect
Bhandarkar	Vaisnavism, Saivism and Minor Hindu Religions
N. K. Brahma	The Philosophy of Hindu Sadhana
V. S. Ghate	The Vedanta
B. N. Seal	Bengal Vaisnavism
	Comparative Studies in Vaisnavism and Christianity
Muirhead	Comparative British Philosophy
D. C. Sen	Vaisnava Literature of Mediaeval Bengal
S. C. Mukherjee	A Study of Vaisnavism in Ancient and Mediaeval Bengal

S. Sen	A History of Bengali Literature
M. N. Sirkar	Comparative Studies in Vedantism
	Hindu Mysticism
Malkani, Das and Murti	Ajana
Radhakrishnan	A History of Indian Philosophy
S. N. Dasgupta	History of Indian Philosophy
M. Hiriyana	Outlines of Indian Philosophy
D. M. Datta and S. C. Chatterjee	An Introduction to Indian Philosophy
D. M. Datta	The Six Ways of Knowing
Alfred Weber	History nf Philosophy
Frank Thilly	A History of Philosophy
G. T. W. Patrick	Introduction to Philosophy
R. B. Perry	Present Philosophical Tendencies
A. N. Whitehead	Science and the Modern World
C. D. Broad	Scientific Thought
E. S. Brightman	Introduction to Philosophy
G. W. Cunningham	Problems of Philosophy
Eddington	The Nature of the Physical World
Sullivan	The Limitations of Science
J. Jeans	The Mysterious Universe
Otto	Idea of the Holy
T. M. Watt	The Intuition of God